आचार्य राजशेखरकृत काव्यमीमांसा

का

आलोचनात्मक अध्ययन

A CRITICAL STUDY OF ACHARYA RAJSHEKHAR'S
KAVYAMIMANSA

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी०फिल० (संस्कृत) उपाधि हेतु

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध

शोधकर्त्री

श्रीमती किरण श्रीवास्तव

निर्देशिका

डा० ज्ञान देवी श्रीवास्तव

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

1998

निवेदन

आचार्य राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' काव्यविद्या के गम्भीर विषयों की विवेचिका है। अतः 'गागर में सागर' इस उक्ति को चरितार्थ करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। आचार्य भामह से लेकर आचार्य आनन्दवर्धन तक की काव्यशास्त्रीय विचारधाराओं से आचार्य राजशेखर लाभान्वित हुए थे, संस्कृत वाङ्मय की सभी शाखाओं पर सूक्ष्म तथा वैज्ञानिक विवेचना की परम्परा उनके समक्ष उपस्थित थी। ऐसे समय में सभी विचारधाराओं का अपने प्रतिभा के प्रभाव से समन्वय करते हुए उन्होंने काव्यशास्त्र के विभिन्न विषयों की सूक्ष्म विवेचनाओं हेतु अनेक मौलिक उद्‌भावनाओं सहित 'काव्यमीमांसा' की रचना की। यह ग्रन्थ काव्यविद्या के शिष्यों के हित के लिए रचित है। विविध तथ्यों की सारविवेचना करने वाली 'काव्यमीमांसा' की सूत्रशैली के कारण ही उसके 'कविरहस्य' नामक प्रथम अधिकरण में ही कविशिक्षा से सम्बद्ध प्रायः सभी विषयों का अन्तर्भाव दृष्टिगत होता है। इस ग्रन्थ का नामकरण भी इसको मीमांसाग्रन्थों के समान ही महत्व प्रदान करता हुआ प्रतीत होता है। काव्य तथा साहित्यविद्या का विविध तर्कों से युक्त सारगर्भित सूक्ष्म विवेचन काव्यविद्या के अधिकारी शिष्यों को इन विषयों का पूर्ण ज्ञान प्रदान करता है। जिस प्रकार दार्शनिक ग्रन्थों में वर्णित ब्रह्म और माया का सम्यक् ज्ञान मोक्ष का साधन बनकर दार्शनिकों के ध्येय की पराकाष्ठा बनता है, उसी प्रकार काव्यपुरुष तथा साहित्यविद्या के सम्यक् ज्ञान को आचार्य राजशेखर ने ऐहलौकिक सुख का ही नहीं, परमपुरुषार्थ मोक्ष का भी साधन बताया है।

काव्य तथा उससे सम्बद्ध विद्याओं को सम्मान की पराकाष्ठा तक पहुँचाने वाले, काव्यविद्या के जिज्ञासु शिष्यों के लिए काव्यनिर्माण के ज्ञान के असंख्य द्वारों के उद्‌घाटनकर्ता तथा अपने ही मौलिक विषयों के आलोक से स्वतः आलोकित ग्रन्थ की समालोचना हेतु शोधप्रबन्ध प्रस्तुत करने का कार्य इस प्रकार का है जैसे प्रबल झञ्झावात में आबद्ध कोई दुस्साहसी दीपक अपने न्यूनतम टिमटिमाते प्रकाश से सूर्य और चन्द्र के मार्ग को प्रकाशित करने का दम्भ भरे, तथापि इस ग्रन्थ को अन्य काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों से

पृथक् करती हुई इसकी वैषयिक विलक्षणता द्वारा प्रेरणा प्राप्त कर मैं अपनी अल्पज्ञता से बाधित हुए बिना इस पर शोध प्रबन्ध की रचना हेतु साहस करने को तत्पर हुई।

वर्ष 1967-68 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संस्कृतविभाग की स्नातकोत्तर कक्षाओं में जिन्होंने अमूल्य विद्यादान देकर मुझे मेरे जीवनपर्यन्त गौरवान्वित किया, उन समस्त श्रद्धेय गुरूजनों के चरणों में अपने श्रद्धासुमन समर्पित करती हूँ। अपने स्नेह और आशीर्वाद के अमिट प्रभाव से वे निरन्तर मेरी अक्षय प्रेरणा के स्त्रोत रहे हैं। जीवन में उच्च पद की दौड़ में अपना नामाङ्कन न कराकर भी मैं उन समस्त गुरूजनों की शिक्षा के प्रकाश से 30 वर्षों बाद भी अपने अन्तर्मन को प्रकाशित सा अनुभव करती हूँ। उन सभी की अप्रत्यक्ष प्रेरणा तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालय से शोधकार्य करने की अदम्य लालसा ने मुझे स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त करने के दीर्घकालीन अन्तराल के पश्चात् इसी विश्वविद्यालय की छत्रछाया में शोधप्रबन्ध की प्रस्तुति हेतु उपस्थित होने को बाध्य किया। उन समस्त श्रद्धेय गुरुजनों के प्रति कृतज्ञताज्ञापन में शब्द सदैव अक्षम ही रहेंगे। उनके सम्मान में मेरा अशाब्दिक नमन।

शोधप्रबन्ध के निर्देशन हेतु मुझे परमश्रद्धेया डा० ज्ञान देवी श्रीवास्तव (अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) का सानिध्य प्राप्त हुआ। उनकी विद्वता के प्रति मैं नतमस्तक हूँ। मेरे लिए जो कार्य परिस्थितियों के झञ्झावातों को झेलते हुए कठिन बन चुका था, उसको प्रारम्भ करने की प्रेरणा मुझे बड़ी बहन का सा स्नेह देने वाली डा० ज्ञानदेवी से ही मिली। उन्होंने सदैव सहज आत्मीयता से अपना व्यस्ततम अमूल्य समय मुझे देते हुए मेरा मार्गनिर्देशन किया। यदि प्रस्तुत शोधप्रबन्ध की किञ्चित् उपयोगिता हो तो उसका श्रेय उन्हें ही है। शोधकार्य को प्रारम्भ करने में मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के रीडर, मेरे अनुज समान डा० कौशल की प्रेरणा से उत्साहित हुई। उनके प्रति मेरी कृतज्ञता असीम है।

पारिवारिक पृष्ठभूमि के महत्व को अस्वीकार करना कदापि संभव नहीं है। मेरे परमपूज्य माता-पिता तथा स्नेही अनुज मेरा मानसिक सम्बल बने, प्रतिकूल परिस्थितियों को अनुकूल बनाने में

महारथी मेरे पति का मुझे निरन्तर उत्साहवर्धक सहयोग मिला तो मेरे कर्मठ बेटे ने भी अपने उत्साही स्वभाव से प्रतिपल मेरी मानसिक शक्ति की अभिवृद्धि करते हुए शोध-प्रबन्ध के टङ्कणकार्य को अपने श्रम से सम्पन्न कराया। शोध प्रबन्ध के टङ्कणकार्य को पूर्ण रुचि तथा श्रमसहित सम्पन्न करने में '**लकी बद्रर्स**' 1, कटरा, इलाहाबाद के सराहनीय योगदान हेतु मैं उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ। सभी के सहयोग का अक्षयस्त्रोत मुझे प्रेरणा देता रहा।

अन्ततः अपने ज्ञान की अतिसङ्कुचित सीमा रेखा में आबद्ध मैं अपनी अल्पज्ञता के कारण होने वाली अशुद्धियों के लिए विद्वत्जनों की क्षमाप्राप्ति हेतु आशान्वित हूँ।

दिनाङ्क
12-6-98

किरण श्रीवास्तव
किरण श्रीवास्तव

विषयानुक्रम

पृष्ठ

प्रथम अध्याय

प्रस्तावना

('काव्यमीमांसा' की महत्ता)

आचार्य राजशेखर को आचार्यत्व की प्रतिष्ठा उनके संस्कृत और प्राकृत नाटकों के साथ-साथ उनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' के द्वारा प्राप्त हुई। यह ग्रन्थ वह सागर है जो संस्कृत काव्यशास्त्रीय जगत् के अमूल्य विषयों को रत्न रूप में अपने अन्दर समाहित किए हुए है। काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों से तो संस्कृत साहित्यजगत् आचार्य राजशेखर से पूर्व भी परिचित था। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में ईस्वी सदी के पूर्व से काव्यशास्त्र के जिस स्पष्ट वैज्ञानिक स्वरूप का प्रारम्भ हुआ—उसकी परम्परा भरतमुनि के पश्चात् विभिन्न काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों से निरन्तर चलती रही। काव्यशास्त्र पर विभिन्न आचार्यों ने ग्रन्थ रचना की। इस परम्परा के उल्लेखनीय आचार्य मेधावी, रूद्र, भट्टि, काव्यकार, भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन, राजशेखर, भट्टनायक, शङ्कुक, कुन्तक, अभिनवगुप्त, धनञ्जय, महिमभट्ट, भोज, रामचन्द्र, शारदातनय, क्षेमेन्द्र, मम्मट, रुय्यक, वाग्भट, हेमचन्द्र, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, भानुदत्त, रूपगोस्वामी, केशवमिश्र, विश्वेश्वर, अप्पयदीक्षित, जगन्नाथ और नागेशभट्ट आदि हैं।

विक्रम संवत्सर की नवम, दशम और एकादश शताब्दियों में काश्मीर के राजाओं के समय में आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, क्षेमेन्द्र, मम्मट आदि ने तथा कन्नौज के राजाओं यशोवर्मा, महेन्द्रपाल, महीपाल आदि के समय में वाक्पतिराज, भवभूति और राजशेखर आदि ने अपनी अमूल्य रचनाओं से संस्कृतसाहित्यनिधि की अभिवृद्धि में सहायता की। आचार्य राजशेखर को आचार्य भामह से लेकर आचार्य आनन्दवर्धन तक की विकसित काव्यशास्त्रीय परम्परा उपलब्ध थी। संस्कृत वाङ्मय की विभिन्न शाखाओं पर सूक्ष्म रूप से पर्याप्त तथा विस्तृत विवेचन, समीक्षण तथा परीक्षण किया गया था। साहित्यक्षेत्र में विद्वानों ने रस, अलङ्कार, ध्वनि तथा रीति विषयों पर सूक्ष्मतम तथा गम्भीरतम मीमांसाएँ प्रस्तुत की थीं। ऐसे समय में आचार्य राजशेखर ने साहित्यक्षेत्र में अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया। पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध काव्यशास्त्रीय सामग्री के गहन अध्ययन तथा स्वमौलिक उद्भावनाओं द्वारा वह नवीन कवियों का महान् उपकार करते हुए उनके शिक्षक के रूप में 'काव्यमीमांसा' द्वारा हमारे समक्ष

उपस्थित हुए। इस प्रकार उन्होंने काव्यशास्त्रीय परम्परा को एक नवीन आयाम भी दिया तथा काव्यशास्त्र को अत्यधिक समृद्ध बनाया। काव्यविद्या के जिज्ञासु कवियों के लिए 'काव्यमीमांसा' की रचना की गई थी। काव्यरचना की व्यावहारिक शिक्षा सर्वप्रथम आचार्य राजशेखर ने ही प्रदान की, इसी कारण उनकी 'काव्यमीमांसा' उनको 'कविशिक्षा' के युग का प्रवर्तक सिद्ध करती है। 'काव्यमीमांसा' से कवियों की वह आचारसंहिता उपलब्ध होती है, जिसका स्वरूप बहुत विशद तथा व्यापक है।

'काव्यमीमांसा' में कवि को शिक्षा देने के लिए काव्यपुरुष, कवि, भावक, काव्यपाक, काव्यहरण तथा कविसमय आदि कवि के उपकारक विषय अन्तर्निहित हैं। कविचर्या के रूप में कवि के लिए आवश्यक विषयों का उल्लेख किया गया है, कवि के रहन-सहन तथा उसके दैनिक जीवन की अन्य विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। तत्कालीन राजपरिवार भी कवियों एवम् विद्वानों को विशेष सम्मान प्रदान करते थे। यह सौभाग्य आचार्य राजशेखर को भी प्राप्त था। वे गुर्जरप्रतिहारवंशी शासक महेन्द्रपाल के राजगुरू थे। महेन्द्रपाल के पिता मिहिरभोज तथा पुत्र महीपाल का भी शासनकाल उन्होंने देखा था, उस प्रकार वे लम्बे समय तक राजपरिवारों से सम्बद्ध थे। इसी कारण 'काव्यमीमांसा' के 'कविचर्या' तथा 'राजचर्या' नामक प्रसङ्ग काव्य तथा शास्त्र में राजाओं की रूचि तथा उनके द्वारा किए गए कवियों के सम्मान के परिचायक कहे जा सकते हैं।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी आचार्य राजशेखर काव्य तथा काव्यशास्त्र दोनों की रचना में परम प्रवीण थे। 'काव्यमीमांसा' के द्वारा उनका काव्यशास्त्र, भूगोलवेत्ता एवम् कविशिक्षक आचार्य का बहुरङ्गी व्यक्तित्व हमारे समक्ष उपस्थित हुआ है। वे विभिन्न शास्त्रों के ज्ञाता थे। 'काव्यमीमांसा' के कविरहस्य का षष्ठ अधिकरण व्याकरण शास्त्र से सम्बद्ध है। इसी ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर वायुपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, मनुस्मृति, कौटिलीय अर्थशास्त्र, वात्स्यायन के कामसूत्र आदि ग्रन्थों का आधार ग्रहण किया गया है। काव्यशास्त्र के गहन तथा व्यापक अध्ययन के कारण ही आचार्य राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में विभिन्न आचार्यों के विचारों का उल्लेख किया है। 'काव्यमीमांसा' का देश विवेचन आचार्य राजशेखर के भूगोल के ज्ञान से परिचित कराता है, तो उनका कालविवेचन उनके सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण की झलक दिखलाता है।

आचार्य राजशेखर ने 'कविशिक्षा' को गम्भीर विषय के रूप में प्रस्तुत किया है और इसी क्रम में काव्यशास्त्र के अन्य विषयों का भी विवेचन किया है। इस दृष्टि से 'काव्यमीमांसा' को साहित्यशास्त्र के

विभिन्न विषयों का समन्वयात्मक ग्रन्थ कहा जा सकता है। 'काव्यमीमांसा' के रूप में आचार्य राजशेखर ने साहित्यविद्या को महान् तथा प्रामाणिक शास्त्रों के समकक्ष लाने का प्रशंसनीय प्रयास किया।[1] काव्यविद्या की मीमांसा प्रस्तुत करते हुए उसकी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए उन्होंने उसका उपदेष्टा शिव को बताया है तथा गुरूशिष्य परम्परा का भी उल्लेख किया है।[2] वेद से सम्बन्ध सिद्ध करने के लिए उन्होंने अलङ्कारशास्त्र को सातवाँ वेदाङ्ग स्वीकार किया है।[3] 'काव्यमीमांसा' संस्कृत साहित्य की अनुपम उपलब्धि है। इस ग्रन्थ के अट्ठारह अधिकरणों में से केवल 'कविरहस्य' नामक एक ही अधिकरण प्राप्त है। किन्तु केवल एक ही भाग उपलब्ध होने पर भी अपने अपूर्व, अतुलनीय स्वरूप के कारण संस्कृत साहित्य के भण्डार की श्रीवृद्धि करने में पूर्ण सक्षम है। अपने सम्पूर्ण रूप में प्राप्त होने पर यह ग्रन्थ साहित्यसागर के अमूल्य रत्न के रूप में अवश्य प्रतिष्ठा प्राप्त करता। आचार्य राजशेखर के इस कविशिक्षाविषयक ग्रन्थ का अनुकरण करते हुए ही उनके परवर्ती आचार्यों क्षेमेन्द्र, अरिसिंह, अमरचन्द्र, देवेश्वर और हेमचन्द्र ने भी कविशिक्षा से सम्बद्ध ग्रन्थों की रचना की, किन्तु इस विषय पर मौलिक योगदान केवल आचार्य राजशेखर का ही रहा।

---

1. 'पञ्चमी साहित्यविद्या' इति यायावरीयः। सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः।

काव्यमीमांसा - (द्वितीय अध्याय, पृष्ठ 11)

2. अथातः काव्यं मीमांसिष्यामहे यथोपदिदेश श्रीकण्ठः परमेष्ठिवैकुण्ठादिभ्यश्चतुःषष्टये शिष्येभ्यः। सोऽपि भगवान्स्वयंभूरिच्छाजन्मभ्यः स्वान्तेवासिभ्यः। काव्यमीमांसा - (प्रथम अध्याय, पृष्ठ 3)

3. 'उपकारकत्वादलङ्कारः सप्तममङ्गम्' इति यायावरीयः। काव्यमीमांसा - (द्वितीय अध्याय, पृष्ठ 7)

आचार्य राजशेखर का व्यक्तित्व एवम् कृतित्व

आचार्य राजशेखर का काल

(अन्तः साक्ष्यों तथा बहि:साक्ष्यों का आधार)

यद्यपि आचार्य राजशेखर के काल निर्णय के सम्बन्ध में अनेक मत उपलब्ध हैं जो उन्हें सातवीं, आठवीं, ग्यारहवीं, बारहवीं तथा चौदहवीं शताब्दी का सिद्ध करते हैं, किन्तु अन्ततः उनको नवीं शताब्दी का सिद्ध करने वाले विभिन्न प्रामाणिक अन्तः साक्ष्यों तथा बहि:साक्ष्यों की उपलब्धता के कारण आचार्य राजशेखर का कालनिर्णय कठिन नहीं रहता। उनके काल निर्णय से सम्बद्ध विभिन्न इतिहासकारों के मतों का संक्षिप्त प्रस्तुतीकरण आवश्यक है—

श्री बरो का सातवीं शताब्दी का मत :—

श्री बरो अपनी पुस्तक 'Bhavbhuti and his place in Sanskrit literature Page - 17' में भवभूति को सातवीं शताब्दी का मानकर उनके कुछ समय पश्चात् आविर्भूत राजशेखर को भी सातवीं शताब्दी का मानते हैं। इस संदर्भ में उन्होंने आचार्य राजशेखर के ग्रन्थों (बालरामायण तथा बालभारत) का श्लोक उद्घृत किया है।[1] श्री कोनो तथा प्रो० लैनमैन ने भी अपनी पुस्तक में श्री बरो के मत का उल्लेख किया है।[2]

---

1. बभूव बल्मीकभवः कविः पुरा
   ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
   स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया।
   स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः॥ बालरामायण (1—16) बाल भारत (1—12)

2 "Anundoram Barooah is of opinion that the tradition according to which Rajshekhar is said to have been a contemporary of Canikara should be trusted and that accordingly "we can safely fix the seventh century as his probable date."
'Rajshekhar's Karpurmanjari' Page - 177
S. Konow, C.R. Lanman

श्री वामन शिवराम आप्टे का आठवीं शताब्दी का मत :-

श्री आप्टे का मत है कि सातवीं शताब्दी के भवभूति सम्भवत: अपने जीवनकाल में यश नहीं प्राप्त कर सके थे। 'मालतीमाधवम्' में महाकवि ने अपने इस दु:ख को व्यक्त किया था।[1] उन्हें यश प्राप्त करने में कम से कम सौ वर्ष अवश्य ही लगे होंगे, तभी आचार्य राजशेखर ने उन्हें अपना आदर्श माना होगा। अत: आचार्य राजशेखर का समय आठवीं शताब्दी है।[2]

पीटर्सन एवम् दुर्गाप्रसाद का आठवीं शताब्दी का मत :-

पीटर्सन एवम् दुर्गाप्रसाद काश्मीर के राजा जयसिंह (750 A.D.) के गुरू श्रीरस्वामी को आचार्य राजशेखर का समकालीन मानते हैं। वे यह भी मानते हैं कि इन्हीं क्षीरस्वामी ने अमरकोष की टीका में विद्धशालभञ्जिका को उद्घृत किया है।[3] परन्तु यह मत प्रामाणिक नहीं है क्योंकि अमरकोष के टीकाकार क्षीरस्वामी तथा जयसिंह के गुरू क्षीरस्वामी भिन्न व्यक्ति हैं। इनमें केवल नाम की ही

---

1. ये नाम केचिदिह न: प्रथयन्त्यवज्ञां जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्न:। उत्पत्स्यते च मम कोऽपि समानधर्मा कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥

   मालतीमाधव (भवभूति) (1—44)

2. Bhavbhuti was not appreciated in his own days. I think, quite reasonable to suppose that a period of at least 100 years must have elapsed before the verdict of posterity was unmistakably pronounced in his favour. At such a distance can alone Rajshekhar be reasonably supposed to mention Bhavbhuti in the manner above referred to. From this I conclude that our poet must have not flourished till at least one hundred years after Bhavbhuti. In other words he could not have lived earlier than the end of the 8th century A.D.

   [Rajshekhar —'His life and writings' Page - 14]

   Vaman Shivram Apte.

3. Peterson and Durga prasad assure us that Rajshekhar's real date is the middle of the eight century, which according to them, is shown by the fact that Ksirasvamin, who was the teacher of Jayasimha of Kashmir (A.D. 750) quotes a verse from the Viddhacalabhanjika,---------------"

   'Rajshekhar's Karpurmanjari'—Page - 177, S. Konow, C.R. Lanman.

समानता है। अमरकोष के टीकाकार क्षीरस्वामी का समय ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। विद्धशालभञ्जिका को उद्धृत करने वाले यही क्षीरस्वामी थे, जयसिंह के गुरू क्षीरस्वामी नहीं। अत: राजशेखर को इस आधार पर आठवीं शताब्दी का नहीं माना जा सकता।

श्री H.H. Wilson का ग्यारहवीं, बारहवीं शताब्दी का मत :-

श्री **H.H. Wilson** राजशेखर को उनकी चौहानवंशीय पत्नी के कारण चौहान वंश का ही मानते हुए उन्हें ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध अथवा बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के किसी राजपूत राजा का मन्त्री मानते थे। कर्पूरमञ्जरी सट्टक की प्रस्तावना में उनकी चौहानवंशीया पत्नी अवन्तिसुन्दरी का वर्णन है।[1] सम्भवत: पत्नी के कारण ही कीथ महोदय भी उन्हें महाराष्ट्र के क्षत्रिय कुल का मानते थे।[2] किन्तु पत्नी के कारण ही आचार्य राजशेखर को राजपूत मानकर उन्हें ग्यारहवीं, बारहवीं शताब्दी का नहीं माना जा सकता। वस्तुत: आचार्य राजशेखर का अन्तर्जातीय अनुलोम विवाह हुआ था। वे मंत्रिपुत्र थे, किन्तु किसी राजपूत राजा के मंत्री नहीं थे। गुर्जर प्रतिहारवंशीय राजा महेन्द्रपाल के गुरू के रूप में प्रतिष्ठित आचार्य राजशेखर ने स्वयं उपाध्याय कहकर भी अपना ब्राह्मणत्व सिद्ध किया है।[3]

---

1. (क) In a verse, cited from another work by the writer (The Karpurmanjari), his wife is styled as the chaplet of the crest of the Chauhan Raco from which it follows that he belonged to that tribe. We can only conclude, therefore, that Rajshekhar was the minister of some Rajput prince who flourished in the central India at the end of eleventh or the beginning of the twelveth century."

   "Hindu Theatre' Page - 362

   (H.H. Wilson)

   (ख) चाहुआणकुल मौलिमालिआ राअसेहर कइंदगेहिणी। भत्तुणो किइमवंतिसुन्दरी सा पइंजइउमेअमिच्छइ॥

   कर्पूरमञ्जरी (1-11)

2. "He was of a Maharashtra Kshtriya family of the Yayavaras, who claimed decent from Ram" 'The Sanskrit Drama'—Page - 231

   Ed. - 1954 (A.B. Keith)

3. वालकवि: कविराजो निर्भयराजस्य तथोपाध्याय॥ इत्यस्य परम्परया आत्मा माहात्म्यमारूढ:॥ (कर्पूरमञ्जरी 1—9)

श्री मैक्समूलर का चौदहवीं शताब्दी का मत :-

श्री मैक्समूलर आचार्य राजशेखर को 'प्रबन्धकोष' का रचयिता मानकर उन्हें चौदहवीं शताब्दी का सिद्ध करते हैं।[1]

किन्तु 'काव्यमीमांसा' के रचयिता आचार्य राजशेखर ने 'प्रबन्धकोष' नामक ग्रन्थ की रचना नहीं की थी। 'प्रबन्धकोष' के रचयिता चौदहवीं शताब्दी के राजशेखर सूरि नामक जैन आचार्य थे।

आचार्य राजशेखर का प्रामाणिक काल नवीं शताब्दी :-

आचार्य राजशेखर के ग्रन्थों में उनका पर्याप्त परिचय उपलब्ध है। उन्होंने अपने कुल तथा आश्रयदाताओं के सम्बन्ध में भी बहुत अधिक विवरण प्रस्तुत किए हैं। अत: उनके काल निर्णय में सन्देह का लेश भी नहीं रह जाता।

आचार्य राजशेखर गुर्जरप्रतिहारवंशी नरेश महेन्द्रपाल के गुरू थे। उसके पुत्र महीपाल तथा कलचुरी नरेश युवराजदेव प्रथम का भी उन्होंने आश्रय ग्रहण किया था। उनके इन आश्रयदाताओं का समय प्रामाणिक रूप से विभिन्न शिलालेखों द्वारा ज्ञात किया जा चुका है।

महेन्द्रपाल प्रथम के गुरू राजशेखर :-

गुर्जर प्रतिहारवंशी नरेश भोजदेव अथवा मिहिरभोज की मृत्यु 885 ई० में हो चुकी थी। उसके पुत्र महेन्द्रपाल ने जब शासन संभाला, तभी संभवत: उनके गुरू राजशेखर ने भी साहित्यरचनाओं का आरम्भ किया था।

हर्ष संवत् 276 = 882 ई० का पेहवा अभिलेख भोजदेव के समय का है। अत: भोजदेव की अन्तिम ज्ञात तिथि 882 ई० है।[2]

---

1. "Rajshekhar lived in the fourteenth century. He wrote the Prabandhakosh in about 1347 A.D."
'India— What can it teach us?'
Maxmuller (Page - 328)

2. 'उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास'
Dr. V.N. Pathak, (Page - 150)

महेन्द्रपाल के समय के अभिलेखों की तिथियाँ उसके राज्याभिषेक के दूसरे वर्ष से उन्नीसवें वर्ष तक की हैं।

महेन्द्रपाल का प्रशस्तिपरक सबसे पहला काठियावाड़ का ऊणा अभिलेख 574 वलभि सं० = 893 ई० का है।[1] अत: उसने 882 और 893 ई० के बीच कभी गद्दी धारण की होगी। परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्री महेन्द्रपालदेव के समय का ऊणा का द्वितीय अभिलेख 956 वि० सं० = 899 ई० का है।[2]

महेन्द्रपाल की राजधानी कान्यकुब्ज नगरी थी। आचार्य राजशेखर ने 'बालभारत' की रचना 'महोदय' में की थी। 'महोदय' कान्यकुब्ज का ही दूसरा नाम था तथा महेन्द्रपाल तथा उसका पुत्र महीपाल सियादोनी शिलालेख में कान्यकुब्ज से ही सम्बद्ध हैं। महेन्द्रपाल का प्रशस्तिपरक सियादोनी शिलालेख झाँसी जिले के सियादोनी ग्राम में है जिस पर 903—907 ई० अंकित है।[3] सियादोनी अभिलेख में विभिन्न राजाओं की तिथियों का उल्लेख है।

(1) भोज — A.D. 862, 876 and 882.

(2) महेन्द्रपाल — 903—907

राजशेखर के शिष्य

(3) उनके पुत्र क्षितिपाल अथवा महीपाल अथवा हेरम्बपाल A.D. 917.

---

1 एपिग्राफिका इण्डिका, जिल्द 9, पृष्ठ-6 (पादटिप्पणी)

2. एपिग्राफिका इण्डिका, जिल्द-9, पृष्ठ-4

3. (क) एपिग्राफिका इण्डिका, जिल्द-1, Page - 173

(ख) "As pointed out by Pishel and Fleet, the 'Balbharata' was performed in 'Mahodaya' and 'Mahodaya' is another name of 'Kanyakubja' (Balramayan X 87-89 = p. 306, 6,15), with which town Mahendrapala and Mahipala are connected in the Siyadoni inscription. For Mahendrapala, we have the dates 903-4 and 907-8.
'Rajshekhar's Karpurmanjari' में Rajshekhar's life. Page - 177

(S. Konow तथा C.R. Lanman)

(4) उनके पुत्र देवपाल A.D. 948.[1]

इस प्रकार विभिन्न शिलालेखों के आधार पर महेन्द्रपाल का समय 890 ई० से 910 ई० तक स्थिर किया गया है।

अन्तः साक्ष्य भी आचार्य राजशेखर को गुर्जरप्रतिहारवंशी महेन्द्रपाल का गुरू सिद्ध करते हैं। आचार्य राजशेखर ने सबसे पहले 900 ई० के आस पास 'कर्पूरमञ्जरी' सट्टक की रचना की। इसकी प्रस्तावना में उन्होंने स्वयं को महेन्द्रपाल अथवा निर्भयराज का गुरू बताया है।[2] कर्पूरमञ्जरी का चण्ड या चन्द्रपाल सम्भवतः महेन्द्रपाल ही है। कर्पूरमञ्जरी के बाद आचार्य राजशेखर ने 'बालरामायण' की रचना की और तत्पश्चात् 'बालभारत' की। इन नाटकों के नाम का 'बाल' शब्द इनको कवि के काव्यरचना काल की प्रारम्भिक रचना नहीं सिद्ध करता क्योंकि 'बालरामायण' में राजशेखर ने अपने लिए 'कविवृषा' शब्द का प्रयोग किया है।[3] 'बालरामांयण' नामक नाटक रघुकुलतिलक महेन्द्रपालदेव की सभा के समक्ष प्रस्तुत किया गया था। इस नाटक में महेन्द्रपाल की सुस्थिर राज्यलक्ष्मी का वर्णन

---

1. "Keilhorn's summing up of the names of the four sovereigns of Mahodaya or Kanyakubja or Kannauj as presented to us by the Siyadoni Inscription together with their known dates, may here be repeated for the reader's convenience from Epigraphica Indica, 171;

   1—Bhoja A.D. 862, 876 and 882.

   2—Mahendrapala or Nirbhay Narendra or Mahishpala A.D. 903 and 907; Pupil of the poet Rajshekhar.

   3—His son Ksitipala or Mahipala or Herambapala A.D. 917; Patron of Rajshekhar.

   4—His son Devapala A.D. 948."

   "Rajshekhar's Karpurmanjari' Rajshekhar's life Page - 177 (S. Konow, C.R. Lanman)

2. ''बालकई कइराओ णिब्भअराअस्स तह उवज्झाओ'' (कर्पूरमञ्जरी ।—९)

3. 'निखिलेऽस्मिन् कविवृषा'' ('बालरामायण' प्रथम अङ्क —श्लोक ।।)

किया गया है।[1] 'बालरामायण' की रचना तक महेन्द्रपाल भी यशस्वी हो चुके थे और आचार्य राजशेखर ने भी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी। उनकी ख्याति सभी दिशाओं में फैल गई थी।[2]

निर्भयनरेन्द्र महेन्द्रपाल का ही उपनाम अथवा विरुद था। राजशेखर ने 'बालरामायण' में स्वयं को निर्भयनरेन्द्र महेन्द्रपाल का गुरू कहा है।[3] यह निर्भय और महेन्द्रपाल एक ही व्यक्ति हैं।[4] 'बालरामायण' का रचनाकाल 905 ई० के लगभग है, तथा महेन्द्रपाल की अन्तिम ज्ञात तिथि 907 ई० है। अत: राजशेखर महेन्द्रपाल के समय में थे और प्रसिद्धि भी प्राप्त कर चुके थे।

आचार्य राजशेखर महीपाल प्रथम के शासनकाल में :-

महेन्द्रपाल प्रथम के बाद उसके ज्येष्ठ पुत्र भोज द्वितीय ने सत्ता संभाली, किन्तु वह अधिक दिनों तक नहीं रहा। तत्पश्चात् उसके द्वितीय पुत्र महीपाल प्रथम ने लगभग 912 ई० में राज्यभार संभाला और लगभग 943 ई० तक शासन किया। आचार्य राजशेखर के द्वितीय नाटक 'बालभारत' की प्रस्तावना में गुर्जरप्रतिहारवंशी महेन्द्रपाल के पुत्र महीपाल के विजय अभियानों का उल्लेख है।[5]

हड़ल ग्राम से प्राप्त महीपाल के अभिलेख में उसकी तिथि 914 ई० उत्कीर्ण है।[6]

---

1 ''भो भो भुजस्तम्भालानितलक्ष्मीकरेणुना रघुकुलैकतिलकेन महेन्द्रपालदेवेनाधिकृत: सभासद:---------''
(बालरामायण, प्रथम अङ्क, पृष्ठ - 2)

2. 'फुल्ला कीर्तिर्भ्रमति सुकवेर्दिक्षु यायावरस्य'' (बालरामायण, प्रथम अङ्क, श्लोक - 6)

3 (क)—''निर्भयगुरूर्व्यधत्त च बाल्मीकिकथां किमनुसृत्य----'' (बालरामायण, प्र० अं०, पृष्ठ - 5)
(ख)—वर्ण्यं वा गुणरत्नरोहणगिरे: किं तस्य साक्षादसौ। देवो यस्य महेन्द्रपालनृपति: शिष्यो रघुग्रामणी:॥
(बालरामायण, प्रस्तावना - श्लोक - 19)

4. "Aufrecht had declared Mahendrapal and Nirbhaya to be one and the same person and their identify was proved by Pischel. Nirbhaya, accordingly, is a biruda of Mahendrapal." 'Rajshekhar's Karpurmanjari' 'Rajshekhar's life' Page - 177
S.R. Konow, C.R. Lanman

5 ''नमितमुरलमौलि: पाकलो मेकलानां रणकलितकलिङ्ग: केलिकृत्केरलेन्द्रै:। अजनि जितकुलूत: कुन्तलानां कठोरो हठविहतमठश्री: श्रीमहीपालदेव:॥'' (बालभारत, प्रस्तावना - श्लोक 7)

6 इण्डियन एण्टीक्वेरी जिल्द-12, पृष्ठ-193 (पाद टिप्पणी)

वि० सं० 974 = 917 ई० के फतेहपुर जिले के असनी नामक गाँव से प्राप्त अभिलेख में परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्री महीपालदेव के 'विजयराज्य' का उल्लेख है।[1]

विनायक महीपाल के महोदयनगर से प्रकाशित एशियाटिक सोसायटी ताम्रफलकाभिलेख[2] से यह प्रमाणित है कि प्रतिष्ठान भुक्ति का वाराणसी विषय वि० सं० 988 = 931 ई० में उसके अधिकार में था। अत: 931 ई० में महीपाल अवश्य सत्तासीन था।

ग्वालियर में चन्देरी स्थित रखेत्र नामक स्थान से प्राप्त (आस रि० 1924-25, पृष्ठ - 168) वि० सं० 1000= 943 ई० के एक दूसरे अभिलेख से उन प्रदेशों पर भी उसके शासन की पुष्टि होती है। इस प्रकार 943 ई० में भी महीपाल का शासन था।

महीपाल के समय के प्रतापगढ़ के अन्तिम अभिलेख पर 948 ई० अंकित है।[3] विभिन्न अभिलेखों के आधार पर महीपाल का समय लगभग 910 ई० से 948 ई० माना जा सकता है। उसका उल्लेख करने वाले आचार्य राजशेखर भी इसी काल में थे।

युवराजदेव प्रथम के शासनकाल में आचार्य राजशेखर :-

कलचुरी राजवंश के युवराजदेव प्रथम का भी आचार्य राजशेखर द्वारा उल्लेख है। यह युवराजदेव 'केयूरवर्ष' महेन्द्रपालदेव के पुत्र महीपालदेव के समकालीन थे। बिलहरी ग्राम में प्राप्त शिलालेख के आधार पर उनका शासनकाल 910 ई० से 948 ई० ज्ञात होता है।[4] आचार्य राजशेखर की

---

1. **"Rajshekhar lived about 900 A.D.—**
   Now fleet has shown that this Mahipala must be identified with the king Mahipala of the Asni inscription, dated Vikrama Samvat 974 = A.D. 917, and has thus proved that Rajshekhar lived at the beginning of the tenth century A.D."
   'Rajshekhar's Karpurmanjari' Page - 177 (S.Konow, C.R. Lanman)
2. (इण्डियन एण्टीक्वेरी, जिल्द 15, पृष्ठ - 138—141)
3. इण्डियन एण्टीक्वेरी, जिल्द - 14, पृष्ठ - 122, पादटिप्पणी।
4. एपिग्राफिका इण्डिका, जिल्द-1, पृष्ठ - 252, पादटिप्पणी।

तीसरी नाट्यकृति 'विद्धशालभञ्जिका' कलचुरी नरेश युवराजदेव 'केयूरवर्ष' की सभा के आदेश से प्रस्तुत की गई थी।[1]

आचार्य राजशेखर के तीनों आश्रयदाताओं के कार्यकाल के आधार पर आचार्य राजशेखर का समय 880 ई० से 950 ई० तक सिद्ध किया जा सकता है।

महेन्द्रपाल का समय	—	890 ई० से 910 ई०
महीपाल का समय	—	910 ई० से 948 ई०
युवराजदेव प्रथम का समय	—	910 ई० से 948 ई०

आचार्य राजशेखर द्वारा पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख :-

आचार्य राजशेखर ने काश्मीर के उद्‌भट, वामन, आनन्दवर्धन, रत्नाकर तथा कन्नौज के वाक्पतिराज तथा भवभूति के सिद्धान्तों तथा उक्तियों को उद्‌धृत किया है।[2] आचार्य रुद्रट का भी काव्यमीमांसा में उल्लेख है।[3] उद्‌भट काश्मीर के राजा जयापीड की सभा के सभापति थे। जयापीड का समय-विक्रमाब्द 836-870, ई० सन् 779-813 है। आचार्य वामन भी इसी काल के थे। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन तथा रत्नाकर समकालीन थे तथा काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा

---

1. ''तन्मन्ये तदभिनये श्रीयुवराजदेवस्य परिषदाज्ञा'' (विद्धशालभञ्जिका, प्रथम अङ्क)
''सुप्रभातं देवस्य केयूरवर्षस्य'' (विद्धशालभञ्जिका, चतुर्थ अङ्क)

2 **उद्‌भट का उल्लेख** :- ''अस्तु नाम नि: सीमार्थसार्थ:। किन्तु द्विरूप एवासौ विचारित सुस्थोऽविचारितरमणीय:। तयो: पूर्वमाश्रितानि शास्त्राणि तदुत्तरं काव्यानि।'' इत्यौद्‌भटा:। काव्यमीमासा - (नवम अध्याय)
वामन का उल्लेख :- ''आग्रहपरिग्रहादपि पदस्थैर्यपर्यवसायस्तस्मात्पदानां परिवृत्तिवैमुख्यं पाक:'' इति वामनीया: । (पृष्ठ - 50) काव्यमीमांसा - (पञ्चम अध्याय)
आनन्दवर्धन का उल्लेख :- ''प्रतिभाव्युत्पत्त्यो: प्रतिभा श्रेयसी'' इत्यानन्द:। (पृष्ठ - 38) काव्यमीमांसा - (पञ्चम अध्याय)
वाक्पतिराज का उल्लेख :- 'न' इति वाक्पतिराज:। ''आसंसारमुदारै: कविभि: प्रतिदिनगृहीतसारोऽपि। अद्याऽप्यभिन्नमुद्रो विभाति वाचां परिस्पन्द:।'' काव्यमीमांसा - (द्वादश अध्याय) (पृष्ठ - 154)

3 'काकुवक्रोक्तिर्नाम शब्दालङ्कारोऽयम्' इति रूद्रट:। काव्यमीमांसा - (सप्तम अध्याय) (पृष्ठ - 78)

(समय—विक्रमाब्द 914-941, ई० सन् 857-884) की सभा में थे।[1] आचार्य राजशेखर इन आचार्यों के परवर्ती थे।

आचार्य राजशेखर का उल्लेख करने वाले परवर्ती आचार्य :-

आचार्य राजशेखर को उद्धृत करने वाले आचार्यों में दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी के धनञ्जय, सोमदेव, क्षेमेन्द्र, सोड्ढल, अभिनवगुप्त, कुन्तक, मम्मट आदि प्रमुख हैं। वाग्भट, हेमचन्द्र, अरिसिंह, देवेश्वर, अमरचन्द्र, केशवमिश्र तथा विश्वनाथ ने भी आचार्य राजशेखर के उद्धरणों को ग्रहण किया है। जैन कवि सोमदेव ने अपने यशस्तिलकचम्पू में पूर्ववर्ती साहित्यकारों की नामावली में राजशेखर के नाम का उल्लेख किया है।[2] यशस्तिलकचम्पू का रचनाकाल सन् 959 ई० है।

धनञ्जय ने अपने 'दशरूपक' में आचार्य राजशेखर के विभिन्न श्लोकों को उद्धृत किया है। उन्होंने प्रपञ्च के प्रसङ्ग में कर्पूरमञ्जरी का उद्धरण प्रस्तुत किया है।[3] आयोग की दस अवस्थाओं में से 'आनन्द' के उदाहरण के रूप में भी धनञ्जय ने आचार्य राजशेखर की 'विद्धशालभञ्जिका' के श्लोक का उल्लेख किया है।[4] धनञ्जय का समय 974 ई० से 994 ई० के मध्य का है।

अन्ततः विभिन्न राजनैतिक, साहित्यिक साक्ष्य तथा राजशेखर द्वारा प्रस्तुत अन्तः साक्ष्य उन्हें 880 ई० से 970 ई० तक के काल का सिद्ध करते हैं। इस काल में अपनी प्रतिभा के प्रकाश से आचार्य राजशेखर ने साहित्य जगत् को आलोकित तथा महिमामण्डित किया।

---

1. मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥
(राजतरङ्गिणी - तरङ्ग-5, श्लोक -149)

2. यथा उर्वभारवि-भवभूति-भर्तृहरिभतृमेण्ठकण्ठगुणाढ्यव्यास-भास बाण-कालिदास मयूरनारायण कुमार माधराजशेखरादिमहाकविकाव्येषु। (यशस्तिलकचम्पू, चतुर्थ उच्छ्वास, 2/113)

3. "असद्भूतं मिथः स्तोत्रं प्रपञ्चो हास्यकृन्मतः-----। यथा कर्पूरमञ्जर्यां भैरवानन्दः रण्डा चण्डा दीक्षिता धर्मदारा मद्यं मासं पीयते खाद्यते च। भिक्षा भोज्यं चर्मखण्डं च शय्या कौलो धर्मः कस्य नो भाति रम्यः॥" (दशरूपक - 3—15)

4. "आनन्दो यथा विद्धशालभञ्जिकायाम् सुधाबद्ध ग्रासैरूपवनचकोरैनुसृतां किरत्र ज्योत्स्नामच्छां नवलवलिपाकप्रणयिनीम्" (दशरूपक - 4-54/55)

आचार्य राजशेखर का जन्मस्थान एवम् वंश: :-

आचार्य राजशेखर का जन्म यायावर वंश में महाराष्ट्र के विदर्भ नामक स्थान में हुआ था। यायावरवंश ब्राह्मणों का था। अत: राजशेखर ब्राह्मण थे।[1] विदर्भ का आधुनिक नाम बरार है। विदर्भ को अत्यधिक महत्व सम्भवत: अपनी जन्मभूमि के रूप में ही आचार्य राजशेखर द्वारा दिया गया है। इसको सरस्वती का जन्म स्थान तथा वाङ्मय की विलासभूमि कहा गया है। विदर्भ के वत्सगुल्म नगर में ही सारस्वतेय काव्यपुरुष ने साहित्यविद्यावधू से विवाह किया।[2] वत्सगुल्म अकोला जिले में स्थित वाशिम का ही प्राचीन नाम है। श्री नारायणदीक्षित भी आचार्य राजशेखर को महाराष्ट्र का ही मानते थे।[3]

यायावर वंश तत्कालीन महाराष्ट्र का सुप्रसिद्ध ब्राह्मणवंश था। यायावर एक स्थान पर न रहकर प्राय: यात्रा करते रहने वाले लोग थे। यह यायावर सन्यासी न होकर गृहस्थ अथवा वानप्रस्थी सन्त थे। ऐतरेय ब्राह्मण में भी निरन्तर यात्रा करने वाले लोगों का वर्णन है।[4] ऐसे ही ब्राह्मण यायावर वंश में

---

1. (क) "This Brahmana family hailed from Maharashtra Vatsagulma, modern Basim (properly Vasim) in the Akola District of Madhya Pradesh was probably its original place of habitation."

   (Corpus Inscriptionum, Indicarum, Vol. IV (Introduction) P. CIXXIV. Mirashi)

   (ख) ''वह स्वयं महाराष्ट्र का ही ब्राह्मण था, परन्तु कन्नौज के दरबार में जाकर वहाँ राजगुरू नियुक्त हो गया था।''

   (मध्यकालीन भारतकी सामाजिक अवस्था, हिन्दुस्तानी एकेडमी व्याख्यानमाला, अल्लामा अब्दुल्लाह यूसुफ, पृष्ठ 36, 1927-28 ई०)

2. (क) ''तत्रास्ति मनोजन्मनो देवस्य क्रीडावासो विदर्भेषु वत्सगुल्म नाम नगरम्। तत्र सारस्वतेयस्तामौमेयीं गन्धर्ववत्परिणिनाय।'' काव्यमीमांसा - (तृतीय अध्याय, पृष्ठ - 23)

   (ख) सुग्रीव:-भरताग्रज। अयमग्रे महाराष्ट्रविषय:। राम: - यत् क्षैमं त्रिदिवाय वर्त्म निगमस्याङ्गं च यत् सप्तमम् स्वादिष्टं च यदैक्षवादपि रसाच्चक्षुश्च यद् वाङमयम्। तद्यस्मिन्मधुरं प्रसादि रसवत् कान्तञ्च काव्यामृतम् सोऽयं सुभ्रु पुरो विदर्भविषय: सारस्वती जन्मभू:॥ (बालरामायण - अध्याय-10, श्लोक-74)

3. ''बालरामायणे स्वस्य महाराष्ट्रवर्णनात् महाराष्ट्र: कवि: ------''

   (विद्धशालमञ्जिका की टीका की प्रस्तावना) श्री नारायण दीक्षित)

4. पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलेग्रहि:। शेरेऽय सर्वे पाप्मान: श्रमेण प्रपथे हता:॥ (ऐतरेय ब्राह्मण, 7/15/2)

उत्पन्न आचार्य राजशेखर अपने वंश के नामसे अपने आप को गौरवान्वित समझते थे। इसी कारण 'काव्यमीमांसा' में उन्होंने अनेक स्थानों पर अपने विचार 'इति यायावरीय:' कहकर प्रस्तुत किए हैं। कीथ महोदय आचार्य राजशेखर को क्षत्रिय कुल में उत्पन्न कवि मानते थे, क्योंकि उनके विचारानुसार यायावर कुल सूर्यवंशी क्षत्रियों का कुल है।[1] किन्तु कीथ महोदय ने आचार्य राजशेखर को क्षत्रिय कन्या से विवाह के कारण क्षत्रिय मान लिया। किन्तु यायावर वंशके राजशेखर ने स्वयं को उपाध्याय कहकर भी अपना ब्राह्मणत्व सिद्ध किया है। 'काव्यमीमांसा' में कविचर्या नामक अध्याय में कवि के सन्ध्यावन्दन, पूजापाठ तथा पठनपाठन की चर्चा की गई है। यह सभी कार्य ब्राह्मण के ही हैं। महाराजाधिराज महेन्द्रपाल का गुरू होना आचार्य राजशेखर की ब्राह्मणवृत्ति के अनुकूल ही है। 'अत्रिसंहिता' में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के कर्मों के अन्तर का उल्लेख है।[2] आचार्य राजशेखर जिस यायावर वंश से सम्बद्ध थे, उन यायावरों का उल्लेख बौधायन धर्मसूत्र तथा महाभारत में भी है। बौधायन धर्मसूत्र के यायावर वे भिक्षु हैं, जो उत्तम जीविका से निर्वाह करते हुए शाला या घरों में रहते थे।[3] महाभारत के आदिपर्व में यायावरों को व्रतधारी ऋषि कहा गया है।[4]

निष्कर्षत: आचार्य राजशेखर का उपाध्यायत्व उन्हें वृत्यनुसार ब्राह्मण ही सिद्ध करता है, तो उनका यायावर वंश ब्राह्मणों का ही था और आचार्य राजशेखर महाराष्ट्र के यायावरवंशीय ब्राह्मण थे।

---

1. "He was of a Maharashtra Kshatriya family of the Yayavaras, who claimed decent from Ram." (The Sanskrit Drama—A.B. Keith) (Page - 231, Ed. 1954)
2. ''कर्म विप्रस्य यजनं दानमध्ययनं तप:। प्रतिग्रहोऽध्यापनं च याजनं चेति वृत्तय:॥ क्षत्रियस्यापि यजनं दानमध्ययनं तप:। शस्त्रोपजीवनं भर्तृरक्षणं चेति वृत्तय:॥ (अत्रिसंहिता - श्लोक 13-14)
3. ''अथ शालीनयायावराणाम्।''
   ''वृत्यावरया यातीति यायावरत्वम्।'' (बौधायनधर्मसूत्र, प्र-3, अ०-1, श्लोक-1—14)
4. ''यायावरा नाम वयमृषय: संशितव्रता:।'' (महाभारत, आदिपर्व—41/16)

आचार्य राजशेखर की कुल परम्परा :-

आचार्य राजशेखर का कुल अनेक यशस्वी विद्वानों, कवियों तथा राजनीतिज्ञों से महिमामण्डित था, अत: उनका व्यक्तित्व भी उनके कुलपरम्परागत पाण्डित्य से ओत प्रोत था। अकालजलद, सुरानन्द, तरल एवम् कविराज आचार्य राजशेखर के वंश के ही कवि थे। आचार्य राजशेखर ने अपनी कुल परम्परा का बालरामायण में स्पष्ट उल्लेख किया है।[1] सर्वगुणसम्पन्न अकालजलद तथा श्रुतिमधुर सूक्तियों के रचयिता सुरानन्द अवश्य ही पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। सुरानन्द कवि होने के साथ ही साथ काव्य शास्त्र के ज्ञाता भी थे। आचार्य राजशेखर ने काव्यमीमांसा में उनके हरण से सम्बद्ध विचारों का उल्लेख किया है।[2] यह सुरानन्द महाराष्ट्र के ही एक भाग चेदी में राजा रणविग्रह के यहाँ रहते थे।[3] आचार्य राजशेखर आमुष्यायण गोत्र के थे। यह अकालजलद के प्रपौत्र तथा दर्दुक के पुत्र थे। इनकी माता का नाम शीलवती था।[4] इनके पिता दर्दुक किसी राजा के महामन्त्री भी थे।[5] दर्दुक किस राजा के मन्त्रि थे यह स्पष्ट तो नहीं है, किन्तु आचार्य राजशेखर का बाल्यकाल में ही प्रतिहार राजाओं के दरबार में प्रवेश यह तो सिद्ध करने में समर्थ ही है कि उनके पिता मिहिरभोज तथा महेन्द्रपाल के दरबार में ही उच्च पद पर आसीन रहे होंगे। उनका महामन्त्रि होना यह भी सिद्ध करता है कि संभवत: वे कवि न रहे हों, किन्तु

---

1 ''स मूर्तो यत्रासीद् गुणगण इवाकालजलद: सुरानन्द: सोऽपि श्रवणपुटपेयेन वचसा। न चान्ये गण्यन्ते तरलकविराजप्रभृतयो महाभागस्तस्मिन्नयमजनि यायावरकुले॥'' (बालरामायण, प्रथम अङ्क, श्लोक—13)

2. ''ता इमा तुल्यदेहितुल्यस्य परिसंख्या: 'सोऽयमुल्लेखवाननुग्राह्यो मार्ग:' इति सुरानन्द:।
(काव्यमीमांसा - त्रयोदश अध्याय)

3. नदीनां मेकलसुता नृपाणां रणविग्रह:। कवीनां च सुरानन्दश्चेदिमण्डलमण्डनम्॥ जल्हण—सक्तिमुक्तावली (4-87)

4. ''तदामुष्यायणस्य महाराष्ट्रचूडामणेरकालजलदस्य चतुर्थो दौर्दुकि: शीलवतीसूनुरूपाध्याय श्री राजशेखर इत्यपर्याप्तं बहुमानेन।'' (बालरामायण, प्रथम अङ्क, पृष्ठ-12)

5. (क) ''उक्तं हि तेनैव महामन्त्रिपुत्रेण।'' (बालरामायण, प्रथम अङ्क, पृष्ठ-3)
(ख) ''सूक्तमिदं तेनैव मन्त्रिसुतेन।'' (बालरामायण, प्रथम अङ्क, पृष्ठ-8)

विद्वान्, राजनीतिज्ञ अवश्य थे। 'सूक्तिमुक्तावली' में तरल नामक कवि का भी उल्लेख है जिन्होंने 'सुवर्णबन्ध' नामक रचना द्वारा यायावरकुल की श्रीवृद्धि की थी।[1] यायावरवंश में राजशेखर के जिन पूर्वज कविराज का नामोल्लेख है उनके विषय में कोई परिचय प्राप्त नहीं होता। राजशेखर ने यह उल्लेख तो अवश्य किया है कि उनके सभी पूर्वज प्रसिद्ध थे, किन्तु इनमें से किसी की भी कोई रचना उपलब्ध नहीं है।

आचार्य राजशेखर का व्यक्तित्व :-

बाल्यकाल से ही राजदरबार में प्रविष्ट आचार्य राजशेखर निरन्तर किसी न किसी राजा के सभाकवि थे। उन्होंने अपने लिए 'बालकवि' तथा 'कविराज' शब्द प्रयुक्त किए हैं। संभवत: यह किसी राजदरबार से प्राप्त उपाधियाँ हों।[2] वह प्रतिहारवंशी नरेश महेन्द्रपाल की सभा में राजगुरू अथवा उपाध्याय के पद पर प्रतिष्ठित थे।[3] किन्तु वह 'बालकवि' संभवत: महेन्द्रपाल के पिता मिहिरभोज की सभा में थे। आचार्य राजशेखर स्वयं को बाल्मीकि, भर्तृमेण्ठ तथा भवभूति का अवतार स्वीकार करते थे,[4] अत: इन कवियों से वह अवश्य ही प्रभावित थे। वह कविराज की उपाधि से विभूषित भी थे।

---

1. ''यायावरकुलश्रेणेहरियष्टेश्च मण्डनम्। सुवर्णबन्धरुचिरस्तरलस्तरलो यथा। (सूक्तिमुक्तावली)
कर्पूरमञ्जरी (कोनो) पृ० 183 (द्वि० सं० 1963)

2. बालकवि: कविराजो निर्भयराजस्य तथोपाध्याय:। इत्यस्य परम्परया आत्मा माहात्म्यमारूढ:॥
(कर्पूरमञ्जरी—1-9)

3 (क) ''देवो यस्य महेन्द्रपालनृपति: शिष्यो रघुग्रामणी:।''
बालरामायण - (1/18)
बालभारत - (1/11)
(ख) ''रघुकुलतिलको महेन्द्रपाल: सकलकलानिलय: स यस्य शिष्य:। (विद्धशालभञ्जिका—1/6)

4. ''तत्र चैवंविधो दैवज्ञानां प्रवाद''
''बभूव बल्मीकभव: कवि पुरा तत: प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्। स्थित: पुनर्यो भवभूतिरेखया स: वर्तते सम्प्रति राजशेखर:॥'' (बालभारत — 1-12)

उस समय कविराज वही हो सकता था, जो कवि विभिन्न भाषाओं, विभिन्न प्रबन्धों तथा विभिन्न रसों में काव्यनिर्माण में समर्थ हो।[1] उनकी कृतियाँ उनकी कविराज उपाधि की सार्थकता को सिद्ध करती हैं। एक प्रकार के प्रबन्ध निर्माण में प्रवीण होने पर कोई महाकवि तो हो सकता था, कविराज नहीं। किन्तु आचार्य राजशेखर कविराज थे। वह संस्कृत, प्राकृत, पैशाची एवम् अपभ्रंश भाषाओं के प्रकाण्ड विद्वान् थे। अपनी सर्वभाषाविचक्षणता पर उन्हें गर्व था। उनके समय में सभी भाषाएँ प्रचलित थीं और उनमें काव्यरचना होती थी। काव्यमीमांसा के दशम अध्याय में राजाओं के कवि दरबार के चित्रण में आचार्य राजशेखर ने राजसिंहासन के चारों ओर चार भाषाओं के कवियों के बैठने का उल्लेख किया है, जिससे प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज में तथा राजसभाओं में सभी भाषाओं के कवियों को सम्मान प्राप्त था। सभी भाषाओं के विद्वान् राजशेखर जैसे कवि तो अवश्य ही परम आदरणीय रहे होंगे। इसी कारण आचार्य राजशेखर के परवर्ती कवि धनपाल, सोड्ढल और क्षेमेन्द्र आदि उनकी काव्यप्रतिभा से अत्यधिक प्रभावित थे।[2]

आचार्य राजशेखर वेद, वेदाङ्गों के, विभिन्न शास्त्रों तथा पुराणों के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इसी कारण 'काव्यमीमांसा' में व्याकरणशास्त्र का, विभिन्न पुराणों का, कौटिलीय अर्थशास्त्र, मनुस्मृति,

---

1 ''योऽन्यतरप्रबन्धे प्रवीणः स महाकविः।''
''यस्तु तत्र तत्र भाषा विशेषे तेषु प्रबन्धेषु तस्मिंस्तस्मिंश्च रसे प्रवीणः, स कविराजः। ते यदि जगत्यपि कतिपये।''
काव्यमीमांसा - (पञ्चम अध्याय)

2 (क) ''समाधिगुणशालिन्यः प्रसन्नपरिपक्त्रिमाः। यायावरकवेर्वाचो मुनीनामिव वृत्तयः॥''
(तिलकमञ्जरी—33, धनपाल)

(ख) यायावरः प्राज्ञवरो गुणज्ञैराशंसितः सूरिसमाजवर्यैः नृत्यत्युदारं भणिते रसस्था नटीव यस्योढरसा पदश्रीः।''
('उदयसुन्दरीकथा' कविवंशवर्णन, सोड्ढल)
काव्यमीमांसा - (बिहारराष्ट्रभाषा परिषद् की भूमिका से)

(ग) ''शार्दूलक्रीडितैरेव प्रख्यातो राजशेखरः। शिखरीव परं वक्रैः सोल्लेखैरुच्चशेखरः॥''
(सुवृत्ततिलक, क्षेमेन्द्र, 3-35)

नाट्यशास्त्र आदि का आधार उनके द्वारा ग्रहण किया गया है। काव्यशास्त्र के भी वह परमज्ञाता थे, इसी कारण काव्यशास्त्र के प्राचीन आचार्यों का उल्लेख उन्होंने 'काव्यमीमांसा' में किया है। उनका भौगोलिक ज्ञान उनकी यात्रा करने की यायावरीय प्रवृत्ति को स्पष्ट करता है। आचार्य राजशेखर इस धारणा के समर्थक थे कि कवि का काव्य उसके स्वभाव को अवश्य प्रतिबिम्बित करता है। इसी कारण वह वाणी, मन तथा शरीर की पवित्रता को कवि के लिए आवश्यक मानते थे।[1] काव्यमीमांसा में वर्णित 'कविचर्या' प्रकरण स्पष्ट करता है कि उन्होंने अपने जीवन को भी समय के नियमित विभाग से तथा वाणी, मन तथा शरीर की पवित्रता से सुन्दर तथा यशस्वी बनाया होगा। वे परिष्कृत रुचि-सम्पन्न प्रकृतिप्रेमी थे, 'काव्यमीमांसा' में वर्णित कवि का आवास उनके इन्हीं गुणों को प्रकट करता है। वह काव्य की सभी विद्याओं, उपविद्याओं के स्वयं भी ज्ञाता थे और कवियों को काव्यरचना से पूर्व उनके ज्ञान प्राप्त करने का उपदेश भी देते थे।

आचार्य राजशेखर की विदुषी पत्नी :-

आचार्य राजशेखर उदार विचारों के विद्वान् व्यक्ति थे। वे स्त्रियों की भी विद्वता का सम्मान करते थे[2] आचार्य राजशेखर की पत्नी अवन्ति सुन्दरी चौहानवंश की, क्षत्रियों के मूर्धन्य कुल की थीं,[3] जिनसे आचार्य राजशेखर ने अन्तर्जातीय अनुलोम विवाह किया था। अवन्तिसुन्दरी संस्कृत, प्राकृत तथा जनभाषा की परम विदुषी महिला थीं। अलङ्कारशास्त्र में भी वे निपुण थीं। पाक के विषय में उन्होंने आचार्य

---

1. ''स यत्स्वभाव: कविस्तदनुरूपम् काव्यम्।''
   ''अपि च नित्यं शुचि: स्यात्।'' काव्यमीमांसा - (दशम अध्याय)
2. ''पुरूषवत् योषितोऽपि कविभवेयु:, संस्कारो ह्यात्मनि समवैति। न स्त्रैणं पौरुषं वा विभागमपेक्षते।''
   काव्यमीमांसा - (दशम अध्याय)
3. ''चाहुआणकुलमोलिमालिआ राउसेहर कइंदगेहिणी। भत्तुणो किइमवंतिसुन्दरी सा पउंजइउमेअमिच्छइ॥
   (कर्पूरमञ्जरी, 1—11)

वामन के मत का खण्डन किया था।[1] शब्दहरण तथा रस परिपाक के उनके महत्वपूर्ण मत 'काव्यमीमांसा' में आचार्य राजशेखर द्वारा उल्लिखित हैं। अपनी विदुषी पत्नी के कारण भी उन्हें विशिष्ट ख्याति प्राप्त हुई थी।[2]

आचार्य राजशेखर की कर्मभूमि—कन्नौज :-

आचार्य राजशेखर के समय में प्रतिहारों का साम्राज्य-विस्तार हो चुका था। उनके विशाल साम्राज्य आर्यावर्त की तत्कालीन राजधानी 'महोदय' नगर था। महोदय कान्यकुब्ज का ही दूसरा नाम है। आचार्य राजशेखर कान्यकुब्ज के गुर्जरप्रतिहारवंशी नरेश महेन्द्रपाल के गुरू थे। महेन्द्रपाल के पुत्र महीपाल के दरबार में भी आचार्य राजशेखर रहे थे। महीपाल समस्त आर्यावर्त का महाराजाधिराज था। यद्यपि आचार्य राजशेखर विदर्भ देश के महाराष्ट्र थे किन्तु कन्नौज के काव्यप्रेमी राजा दूसरे देशों के कवियों को भी आश्रय तथा सम्मान देते थे। महेन्द्रपाल की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों में परस्पर विरोध होने पर कुछ समय के लिए कन्नौज की स्थिति बिगड़ गई। महीपाल का शासन भी सुदृढ़ न रह सका, तब आचार्य राजशेखर युवराजदेव 'केयूरवर्ष' के दरबार में कलचुरी चले गए। किन्तु आचार्य राजशेखर का प्रिय स्थान कन्नौज ही था। इसी कारण वह युवराजदेव की सभा में भी स्वयं को कन्नौज के महेन्द्रपाल का गुरू कहने में गौरवान्वित अनुभव करते रहे।[3] उन्होंने कन्नौज में ही 'कर्पूरमञ्जरी' तथा 'बालरामायण' की रचना महेन्द्रपाल के समय में की थी। कलचुरी के युवराजदेव 'केयूरवर्ष' के आश्रय में उन्होंने 'विद्धशालभञ्जिका' की रचना की। जब महीपाल ने पुनः अपने शासन को सुदृढ़ किया, कन्नौज की स्थिति भी सुधर गई, तब आचार्य राजशेखर ने कन्नौज लौटकर अपने इसी प्रियनगर में

---

1. ''इयमशक्तिर्न पुनः पाकः ''इत्यवन्तिसुन्दरी'' काव्यमीमांसा - (पञ्चम अध्याय)
2. सद्विज्ञानं कुलतिलकतां याति दौरैरूदारैः फुल्ला कीर्तिर्भ्रमति सुकवेर्दिक्षु यायाक्रस्य।''
(बालरामायण, प्रथम अङ्क, श्लोक-6)
3. ''रघुकुलतिलको महेन्द्रपालः सकलकलानिलयः स यस्य शिष्यः। (विद्धशालभञ्जिका—1-6)

'बालभारत' नामक नाटक की रचना महीपालदेव के आश्रय में की। उनका अन्तिम ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' कन्नौज में ही रचा गया था। आचार्य राजशेखर को मध्यदेश तथा उसका नगर कान्यकुब्ज परम प्रिय था। पाञ्चाल देश जो मध्यदेश भी था, के जनपदों में पाञ्चाल, शूरसेन, हस्तिनापुर, काश्मीर, वाहीक, बाह्लीक, बाह्लवेय आदि प्रसिद्ध थे।[1] कन्नौज में भारत के सभी क्षेत्रों के लोगों का आवागमन अधिकता से होता था, क्योंकि प्रसिद्ध प्रतिहारवंशी नरेशों की राजनीति का केन्द्र बिन्दु यही नगर था। भारत के सभी स्थानों से विभिन्न भाषा-भाषियों के आगमन से यहाँ के लोग सर्वभाषाविचक्षण हो गए थे। इसी प्रकार कन्नौज का आचार-विचार, रहन-सहन सम्पूर्ण भारत को प्रभावित करता था। आचार्य राजशेखर मध्यदेश के कवि को 'सर्वभाषानिषण्ण' मानते थे और वे स्वयं सर्वभाषा-विचक्षण थे।[2] इस पाञ्चाल देश के प्रधान नगर कान्यकुब्ज की रमणियों की वेपरचना, बोलचाल की सुन्दरशैली, केशों की आकर्षक रचना और आभूपण पहनने के प्रकार पर आचार्य राजशेखर परम मुग्ध थे और यह भी स्वीकार करते थे कि कान्यकुब्ज की ललनाओं के सम्पूर्ण व्यक्तित्व से भारत के अन्य क्षेत्रों की स्त्रियाँ भी प्रभावित थीं।[3] आचार्य राजशेखर काव्यपाठ की दृष्टि से तथा उच्चारण की दृष्टि से भी पाञ्चाल देश के कवियों की सर्वश्रेष्ठता स्वीकार करते थे।[4] आचार्य राजशेखर के जीवनकाल के कई ग्रन्थ कन्नौज में ही रचित हुए।

---

1. ततश्च स पाञ्चालान्प्रत्युच्चाल यत्र पाञ्चालशूरसेनहस्तिनापुरकाश्मीरबाहीकबाह्लीकबाह्लवेयादयो जनपदाः।
काव्यमीमांसा - (तृतीय अध्याय)

2. "-----
यो मध्ये मध्यदेशं निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः।" काव्यमीमांसा - (दशम अध्याय, पृष्ठ-126)

3. (क) "ताडङ्कवल्गानतरङ्गितगण्डलेखमानाभिलम्बिदरदोलिततारहारम्। आश्रोणिगुल्फपरिमण्डलितान्तरीयम् वेषं नमस्यत महोदयसुन्दरीणाम्।" काव्यमीमांसा - (तृतीय अध्याय, पृष्ठ-20)
(ख) यो मार्गः परिधानकर्मणि गिरां या सूक्तिमुद्राक्रमो भङ्गिर्या कवरीचयेषु रचनं यद् भूषणालीषु च। दृष्टं सुन्दरि कान्यकुब्जललनालोकैरिहान्यच्च यत् शिक्षन्ते सकलासु दिक्षु तरसा तत् कौतुकिन्यः स्त्रियः॥
(बालरामायण (10/90)

4. "मार्गानुगेन निनदेन निधिर्गुणानां सम्पूर्णवर्णरचनो यतिभिर्विभक्तः। पाञ्चालमण्डलभुवां सुभगः कवीनां श्रोत्रे मधु क्षरति किञ्चन काव्यपाठः॥" काव्यमीमांसा - (सप्तम अध्याय, पृष्ठ-85)

'काव्यमीमांसा' की रचना के समय भी वह मध्यदेश की इसी महोदय नगरी में थे, यह तथ्य इसी बात से प्रमाणित होता है कि उन्होंने काव्यमीमांसा में प्रस्तुत दिग्विभाग इसी स्थान को केन्द्र मानकर किया है।[1] उन्होंने भारत के उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम के पर्वत और नदियों का विवरण तो प्रस्तुत किया है, किन्तु मध्यदेश के सम्बन्ध में ऐसी आवश्यकता का अनुभव नहीं करते।[2] उनके विचार से मध्यदेश के विवरण सभी को ज्ञात हैं, ऐसा विचार वह मध्यदेश में उपस्थित रहने के कारण ही प्रकट कर सके होंगे।

आचार्य राजशेखर की रचनाएँ :-

संस्कृत साहित्यशास्त्र में आचार्य राजशेखर के सात ग्रन्थों का उल्लेख है—

नाटक—बालरामायण तथा बालभारत।

नाटिका—विद्धशालभञ्जिका।

सट्टक—कर्पूरमञ्जरी।

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ—काव्यमीमांसा।

महाकाव्य—हरविलास।

भूगोल विषयक ग्रन्थ 'भुवनकोश'।

सम्प्रति उनके केवल पाँच ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं। 'हरविलास' तथा 'भुवनकोश' प्राप्त नहीं होते।

---

1 ''विनशनप्रयागयोगङ्गायमुनयोश्चान्तरमन्तर्वेदी। तदपेक्षया दिशो विभजेत'' इति आचार्याः। तत्रापि महोदयं मूलमवधीकृत्य इति यायावरीयः। काव्यमीमांसा - (सप्तदश अध्याय, पृष्ठ-239)

2. ''तेषा मध्ये मध्यदेश इति कविव्यवहारः। न चाऽयं नानुगन्ता शास्त्रार्थस्य। यदाहुः—
''हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः।'' तत्र च ये देशाः पर्वताः सरितः द्रव्याणामुत्पादश्च तत्प्रसिद्धिसिद्धमिति न निर्दिष्टम्। काव्यमीमांसा - (सप्तदश अध्याय, पृष्ठ-238)

'बालरामायण' की प्रस्तावना में आचार्य राजशेखर ने उल्लेख किया है कि उनके षट् प्रबन्ध हैं।[1] भूगोल विषयक 'भुवनकोश' नामक ग्रन्थ के विषय में उन्होंने 'काव्यमीमांसा' में स्वयं लिखा है। 'काव्यमीमांसा' के 17वें अध्याय में कवियों के ज्ञान हेतु आचार्य राजशेखर ने भारतवर्ष का संक्षिप्त भूगोल प्रस्तुत किया और कहा है कि जो अधिक जानना चाहे, मेरे 'भुवनकोश' को देखे।[2] किन्तु वह ग्रन्थ अब अप्राप्त है। यद्यपि तात्कालिक भौगोलिक ज्ञान के लिए 'काव्यमीमांसा' पर्याप्त है।

'हरविलास' महाकाव्य के सम्बन्ध में आचार्य राजशेखर तो मौन हैं किन्तु जैन आचार्य हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' में तथा उज्ज्वलदत्त ने 'उणादिसूत्रवृत्ति' में इस ग्रन्थ की चर्चा की है।[3] किन्तु यह ग्रन्थ उपलब्ध न होने से इसके सम्बन्ध में स्पष्ट प्रमाण देना संभव नहीं है।

आचार्य राजशेखर ने 900 ई० के लगभग महेन्द्रपाल के समय में 'कर्पूरमञ्जरी' की रचना की। इस नाटिका में चण्डपाल और कुन्तल देश की राजकुमारी कर्पूरमञ्जरी की प्रणयकथा वर्णित है। प्राकृत भाषा में रचित होने के कारण यह ग्रन्थ 'सट्टक' कहलाया। जिस प्रबन्ध में नाटिका का पूर्ण अनुकरण

---

1. "यद्यस्ति स्वस्ति तुभ्यं भव पठनरुचिर्विद्धि नः षट् प्रबन्धान्--------------------"(बालरामायण, 1-11)
2. "इत्थं देशविभागो मुद्रामात्रेण सूत्रितः सुधीयाम्। यस्तु जिगीषत्यधिकं पश्यतु मद्भुवनकोशमसौ॥"
   काव्यमीमांसा - (सप्तदश अध्याय, पृष्ठ 248)
3. (क) स्वनामाङ्कता यथा राजशेखरस्य हरविलासे।" "आशीर्यथा हरविलासे
   ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म श्रुतीनां मुखमक्षरम्। प्रसीदतु सतां स्वान्तेष्वेकं त्रिपुरुषीमयम्॥"
   "सुजनदुर्जनस्वरूपं यथा हरविलासे—
   इतस्ततो भवन् भूरि न पतेत् पिशुनः शुनः अवदाततया किञ्च न भेदो हसतः सतः॥"
   (काव्यानुशासन - हेमचन्द्र—पृष्ठ-435)
   (ख) "दशाननक्षिप्तखुरप्रखण्डितः क्वचिद् गतार्धो हरदीधितिर्यथा।—इति हरविलासे"
   (उणादिसूत्रवृत्ति—उज्जवलदत्त, 2—28)

हो केवल प्रवेशक और विष्कम्भक न हों, उसे सट्टक कहते हैं। 'सट्टक' केवल प्राकृत भाषा में ही होता है।[1]

राजा महेन्द्रपाल के समय में रचित इनका 'बालरामायण' नामक नाटक पूर्वरामचरित्र पर आधारित है। सम्प्रति केवल दो अङ्को में उपलब्ध 'बालभारत' महाभारत की कथा पर आधारित है तथा राजा महीपाल के समय में रचित नाटक है। 'विद्धशालभञ्जिका' सर्वभाषाविचक्षण, अद्भुत भाषाकौशल वाले कविराज राजशेखर द्वारा रचित चार अङ्कों वाली नाटिका है। यह नाटिका कलचुरी नरेश युवराजदेव 'केयूरवर्ष' के शासनकाल में रची गई।

आचार्य राजशेखर की अन्तिम रचना 'काव्यमीमांसा' ने उन्हें आचार्यत्व प्रदान किया। यह काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ विभिन्न मौलिक विषयों से परिपूर्ण होने के कारण विवेचना के योग्य ग्रन्थों की श्रेणी में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना चुका है। आचार्य राजशेखर को सर्वाधिक ख्याति इसी ग्रन्थ से प्राप्त हुई।

1.(क) "सो सट्टओ त्तिभणइ दूरं जो णाडिआइ अणुहरइ। किं उण पवेसविक्खम्भंकाइ केवलं ण दीसन्ति।

(कर्पूरमञ्जरी—प्रस्तावना, - 1—6)

(ख) "सट्टकश्च कैश्चित्। विष्कम्भक-प्रवेश-रहितो यस्त्वेकभाषया भवति असंस्कृतप्राकृतया सट्टको नाटिका-प्रतिमः।"

(काव्यानुशासन - हेमचन्द्र, पृष्ठ-432)

द्वितीय अध्याय

काव्यमीमांसा के विविध रोचक प्रसङ्ग

(क) आचार्य राजशेखर का काव्यपुरुष

(ख) काव्य एवम् साहित्य

(ग) रीति, वृत्ति एवम् प्रवृत्ति

(घ) काकु एवम् काव्यपाठ

(क) आचार्य राजशेखर का काव्यपुरुष :-

सरस्वती पुत्र सारस्वत को आचार्य राजशेखर ने काव्यपुरुष के रूप में प्रस्तुत किया है। सरस्वती की कृपा से प्राप्त प्रतिभा के ही आधार पर कवि के काव्य का उद्‌भव होता है—इस आधार पर सरस्वती के ही पुत्र को काव्य कहने का औचित्य भी है। किन्तु इस विषय को एक रुचिकर आख्यान के रूप में प्रस्तुत किया गया है। बाणभट्ट के हर्षचरित में सरस्वती के सारस्वत नामक पुत्र की उत्पत्ति च्यवन ऋषि के पुत्र दधीचि द्वारा बताई गई है,[1] तथा महाभारत के शान्तिपर्व में भी सारस्वत का उल्लेख है।[2] आचार्य राजशेखर ने इस कथानक का अत्यल्प आधार ग्रहण करते हुए साक्षात् प्रजापति ब्रह्मदेव के द्वारा

---

1. 'दधीचस्यागमनं, सरस्वत्या सह वास:, तयो: पुत्रोत्पत्ति:--------------तस्मै तु जातमात्रायैव सम्यक् सरहस्या: सर्वे वेदा:, सर्वाणि च शास्त्राणि, सकलाश्च कला: सर्वाश्च विद्या: मत्प्रसादात् स्वयमेवाविर्भविष्यन्तीति' वरमदात्।

   यस्मिन्नेव वासरे सरस्वत्यसूत् तनयं तस्मिन्नेव दिवसे अक्षमालापि सुतं प्रसूतवती।--------एकस्तयो: सारस्वत्याख्य एवाभवत्। (बाणभट्ट का हर्षचरित,प्रथम उच्छ्वास)
2. अथ भूयो जगत्स्रष्टा भो: शब्देनानुनादयन्। सरस्वतीमुच्चचार तत्र सारस्वतोऽभवत्।
   (अध्याय - 359, महाभारत,शान्तिपर्व)

सरस्वती को पुत्र प्राप्ति होने का वर्णन कर उसे सारस्वतेय काव्यपुरुष माना है। सरस्वती की तपस्या से प्रसन्न ब्रह्मा ने उनके लिए पुत्र का सृजन किया।[1]

आचार्य राजशेखर ने अपना ग्रन्थ काव्यविद्या के शिष्यों के लिए प्रस्तुत किया। अतः काव्य की प्रामाणिकता और उपादेयता पर प्रकाश डालते हुए, शिष्यों के समक्ष काव्य के भव्य रूप को उपस्थित करना उनका अभीष्ट था। एक रोचक आख्यान की कल्पना द्वारा काव्य का पुराण पुरुष ब्रह्मा एवम् वाग्देवी सरस्वती से सम्बन्ध जोड़कर, उसकी प्राचीनता एवम् महत्ता को सिद्ध करना ही आचार्य का लक्ष्य प्रतीत होता है।

इस काव्य के प्रतीक काव्यपुरुष का प्रमुख वैशिष्ट्य है—छन्दोबद्ध वाणी। इस सरस्वती पुत्र ने महामुनि उशना के हृदय में छन्दोबद्ध वाणी की प्रेरणा की और इस प्रकार वैदिक वाङ्मय में छन्दबद्ध वाणी के दर्शन हुए। छन्दबद्ध वाणी के कारण उशना कवि कहलाए तथा इसी कारण लक्षणा से छन्दबद्ध रचना करने वाले सभी कवि कहलाए।

बाल्मीकि रचित रामायण लौकिक कवियों का आदि काव्य माना जाता है। किन्तु 'काव्यमीमांसा' में उशना आदि कवि हैं। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि भृगुपुत्र उशनस् (शुक्र) की कवि नाम से प्रसिद्धि थी, इस परम्परा को स्वीकार करते हुए उशना को आदि कवि के रूप में प्रस्तुत करना ही था। काव्योत्पत्ति की कथा बाल्मीकि के 'मा निषाद-------' इस रामायण के श्लोक से प्रारम्भ होती है। इन दोनों प्रसङ्गों का सम्बन्ध जोड़ने के लिए आचार्य राजशेखर ने छन्दोबद्ध वाणी का प्रारम्भ महामुनि उशना से माना है तथा काव्यप्रबन्ध का प्रथम रचयिता बाल्मीकि को माना है। इस अद्भुत काव्यपुरुषाख्यान में सारस्वतेय काव्यपुरुष ने शिशु का रूप धारण किया, सरस्वती द्वारा एकान्त में छोड़ा गया, तब धूप से सन्तप्त उस शिशु को उशना अपने आश्रम में ले गए, इसी काव्यपुरुष की प्रेरणा से

---

1. 'पुरा पुत्रीयन्ती सरस्वती तुषारगिरौ तपस्यामास। प्रीतेन मनसा तां विरिञ्चः प्रोवाच—पुत्रं ते सृजामि। अथैषा काव्यपुरुषं सुषुवे।'
काव्यमीमांसा - (तृतीय अध्याय)

उन्होंने सर्वप्रथम छन्दोबद्ध वाणी का उच्चारण किया और इसी कारण कवि कहलाए। स्नान करने के पश्चात् लौटी सरस्वती को महामुनि बाल्मीकि ने काव्यपुरुष के स्थान से अवगत कराया। अत: प्रसन्न बाग्देवी की प्राप्त काव्यप्रेरणा से बाल्मीकि ने ''मा निषाद------'' का उच्चारण किया तथा 'रामायण' की रचना की।

इस काव्यपुरुषाख्यान में काव्य के अङ्ग प्रत्यङ्ग काव्यपुरुष के शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्ग के रूप में दृष्टिगत होते हैं।[1] शब्द और अर्थ काव्यपुरुष के शरीर हैं, रस आत्मा है, समता, प्रसाद, माधुर्य, औदार्य एवम् ओजस् उसके गुण हैं, अनुप्रास, उपमा आदि उसके अलङ्कार हैं, उक्ति चातुर्य वचन हैं, छन्द रोम हैं तथा प्रश्नोत्तर, प्रहेलिका आदि वाणी की क्रीड़ाएँ हैं। काव्य का भी तो ऐसा ही स्वरूप काव्यशास्त्र में परिलक्षित होता है। काव्यपुरुष की यात्रा कथा में प्रवृत्तियों, वृत्तियों एवम् रीतियों का वर्णन है। काव्यरचना शैली का विकास क्रमश: ही हुआ, उसमें शनै: शनै: सरलता तथा सुधार परिलक्षित होने लगे। अन्त में वैदर्भी रीति की रचना सर्वोत्कृष्ट रही, क्योंकि इससे काव्यपुरुष में प्रसाद गुण अधिक मात्रा में उत्पन्न हुआ।

प्रजापति ब्रह्मा एवम् वाग्देवी सरस्वती से काव्य का सम्बन्ध सिद्ध करता हुआ यह काव्यपुरुषाख्यान अधिकांशत: काल्पनिक होने पर भी काव्यविद्या के जिज्ञासु शिष्यों के सम्मुख काव्य की अलौकिक महत्ता को सिद्ध करता है तथा काव्यविद्या को अधिकाधिक ग्राह्य बनाता है।

इस रोचक आख्यान का प्रमुख लक्ष्य काव्यविद्यास्नातकों को काव्यविद्या के ज्ञान की ओर प्रेरित करना है। कविशिक्षा के ही लिए लिखे गए इस 'काव्यमीमांसा' नामक ग्रन्थ के अधिकांश अंशों के समान काव्यपुरुषाख्यान भी 'कविशिक्षा' के ही लक्ष्य को परिपूर्ण करता है। इस प्रकार यह आख्यान काल्पनिक होते हुए भी सार्थक है।

---

1. ''शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृतं बाहु:, जघनमपभ्रंश:, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्। सम:, प्रसन्नो, मधुर उदार ओजस्वी चासि। उक्तिचणं च ते वचो, रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि, प्रश्नोत्तर-प्रवह्लिकादिकं च वाक्केलि:, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलङ्कुर्वन्ति।'' काव्यमीमांसा - (तृतीय अध्याय)

(ख) काव्य एवम् साहित्य :-

काव्यशास्त्र के अन्य सभी आचार्यों के समान आचार्य राजशेखर ने भी कविधर्मरूप, हितोपदेशक, गद्यपद्यमय काव्य की परिभाषा 'गुण और अलङ्कारयुक्त वाक्य' के रूप में प्रस्तुत की है[1] किन्तु उससे पूर्व शब्द, अर्थ, पद तथा उनसे निर्मित वाक्य का भी स्पष्टीकरण किया है। व्याकरण शास्त्र के द्वारा प्रकृति प्रत्यय से सिद्ध अर्थप्रतीति के लिए प्रयुक्त अभिधेयवान् समुदाय शब्द है और व्याकरण शास्त्र के अनुसार ही शब्द जिस वस्तु का संकेत करता है वह उसका अभिधेय अर्थ है। शब्द और अर्थ दोनों मिलकर पद कहलाते हैं।[2] आचार्य राजशेखर द्वारा प्रस्तुत शब्द और अर्थ की यह परिभाषाएँ तथा उनके पूर्ववर्ती आचार्य भामह और रुद्रट तथा परवर्ती भोजराज[3] द्वारा प्रस्तुत परिभाषाएँ उनके व्याकरणिक संयोग को ही बताती हैं। आचार्य राजशेखर वाक्य में पदों की औचित्यपूर्ण उपस्थिति को आवश्यक मानते हैं। शब्द और अर्थ के संयोग से बनने वाले पद जब अभिलषित भाव को व्यक्त करने के लिए समुचित रूप से संग्रथित होते हैं, तब वाक्य बनता है।[4]

सामान्यत: एक क्रियापद से एक वाक्य की समाप्ति स्वीकार की जाती है, किन्तु आचार्य राजशेखर एक वाक्य से एक सम्पूर्ण विचार का व्यक्त होना आवश्यक मानते हैं। अत: यदि कर्ता तथा

---

1. गद्यपद्यमयत्वात् कविधर्मत्वात् हितोपदेशकत्वाच्च।------------। काव्यमीमांसा - (द्वितीय अध्याय)
   'गुणवदलङ्कृतञ्च वाक्यमेव काव्यम्' काव्यमीमांसा - (षष्ठ अध्याय)
2. 'व्याकरणस्मृतिनिर्णीत: शब्दो निरुक्तनिघण्ट्वादिभिर्निर्दिष्टस्तदभिधेयोऽर्थस्तौ पदम्' काव्यमीमांसा - (षष्ठ अध्याय)
3. 'नन्वकारादिवर्णानां समुदायोऽभिधेयवान् अर्थप्रतीतये गीत: शब्द इत्यभिधीयते। 8।
   काव्यालङ्कार (भामह) (षष्ठ परिच्छेद)
   'वस्तुवाचि पदं नाम'
   'अर्थ: पुनरभिधावान् प्रवर्तते यस्य वाचक शब्द:' काव्यालङ्कार (रुद्रट) द्वितीय अध्याय
   शब्द:—येनोच्चारितेनार्थ: प्रतीयते।
   अर्थ:—य: शब्देन प्रत्यायते। प्रथम प्रकाश, पृष्ठ-2
   पद—पद्यतेऽनेनार्थ इति पदम् तृतीय प्रकाश, पृष्ठ-85
   श्रृङ्गारप्रकाश (भोजराज)
4. 'पदानामाभिधित्सितार्थग्रन्थनाकर: सन्दर्भो वाक्यम्' काव्यमीमांसा - (षष्ठ अध्याय)

वचन का अभिप्राय एक है तो अनेक क्रियापदों की उपस्थिति होने पर भी एक सम्पूर्ण विचार को व्यक्त करने वाला पद संदर्भ एक ही वाक्य होगा।[1] बाद में आकांक्षा, योग्यता और आसक्ति से युक्त पदों के समूह को वाक्य[2] कहने वाले आचार्य विश्वनाथ तथा एकार्थपर पदों के समूह को वाक्य[3] कहने वाले आचार्य भोजराज ने आचार्य राजशेखर से समानता रखने वाली वाक्य-परिभाषाएँ प्रस्तुत कीं।

आचार्य राजशेखर द्वारा वर्णित काव्यपुरुषाख्यान से परिलक्षित होता है कि साहित्य की चरम अवस्था में पहुँचने वाला काव्य ही श्रेष्ठता की कसौटी पर खरा उतरता है। इस दृष्टि से 'साहित्य' का स्पष्टीकरण आवश्यक है। 'साहित्य' शब्द 'सहित' से व्युत्पन्न है। सहित शब्द में 'स' पूर्वसर्ग 'समं' का वाचक है और 'हित' 'धा' धातु (धारण करना, रखना) का भूतकालिक कृदन्त रूप है। सहित का अर्थ है समान रूप से स्थापित, प्रतिष्ठित अथवा सन्तुलित शब्द और अर्थ। महिमभट्ट का 'साहित्य' भी शब्द अर्थ के संतुलन को व्यक्त करता है।[4] वाङ्मय के शास्त्र तथा काव्य यह दो भेद हैं और शब्द तथा अर्थ का साहित्य सर्वत्र अभीष्ट है। वाच्य तथा वाचक का अविनाभाव सम्बन्ध होने से उनका कहीं भी साहित्यविरह नहीं होता। एक के उपस्थित होने पर दूसरा स्वयम् उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार शब्द और अर्थ का व्याकरणिक संयोग ही सामान्य साहित्य है। किन्तु काव्य में जब शब्दार्थ साहित्य की आकाङ्क्षा होती है तो उसमें वैशिष्ट्य निहित होता है।[5] काव्य में शास्त्रादि के समान केवल अर्थप्रतीति कराने वाला शब्द प्रयुक्त नहीं होता।[6] स्वाभाविक शब्दार्थ सम्बन्ध को जब कवि अपने प्रतिभाव्यापार द्वारा

---

1. 'एकाकारतया कारकग्रामस्यैकार्थतया च वचोवृत्तेरेकमेवेदं वाक्यम्' काव्यमीमांसा - (षष्ठ अध्याय)
2. 'वाक्यं स्याद्योग्यताकाङ्क्षासक्तियुक्तः पदोच्चयः' साहित्यदर्पण (विश्वनाथ) द्वितीय परिच्छेद, पृष्ठ-24
3. एकार्थपरः पदसमूहो वाक्यम्' — तृतीय प्रकाश, पृष्ठ-101, शृंङ्गारप्रकाश—भोजराज
4. 'साहित्यं तुल्यकक्षत्वेनान्यूनातिरिक्तत्वम्' व्यक्ति विवेक, द्वितीय विमर्श, पृष्ठ 311
5. विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम् कीदृशम्—वक्रताविचित्रगुणालङ्कारसम्पदाम् परस्परस्पर्धाधिरोहः। पृष्ठ-25 वक्रोक्तिजीवित (कुन्तक) प्रथम उन्मेष
6. न च काव्ये शास्त्रादिवदर्थप्रतीत्यर्थं शब्दमात्रम् प्रयुज्यते, सहितयोः शब्दार्थयोस्तत्र प्रयोगात्। व्यक्तिविवेक (महिमभट्ट) द्वितीय विमर्श, पृष्ठ - 31।

विशिष्ट रूप में प्रस्तुत करता है तभी वह उत्कृष्टतर साहित्य बनकर काव्य के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

काव्य के शब्दों और अर्थों में साधारण शब्दों और अर्थों की अपेक्षा जो वैशिष्ट्य निहित होता है उसे आचार्य कुन्तक ने भली प्रकार स्पष्ट किया है—कवि के विवक्षित विशेष अर्थ के कथन में समर्थ शब्द काव्य के शब्द हैं और कवि की प्रतिभा में तत्काल परिस्फुरित किञ्चित उत्कर्षसहित पदार्थ काव्य के अर्थ।[1] इस प्रकार कवि की प्रतिभा में तत्काल परिस्फुरित उत्कर्षयुक्त पदार्थ तथा उसका प्रतिपादक एकमात्र शब्द दोनों मिलकर काव्य के रमणीय स्वरूप को उपस्थित करते हैं।

जब शब्द और अर्थ दोनों मिलकर एक ही सौन्दर्य को धारण करते हों, तभी काव्य पूर्णतः सुन्दर होता है। इस प्रकार काव्य में शब्द और अर्थ का समान महत्व अपेक्षित है। दोनों का परस्पर स्पर्धा करते हुए रमणीय तथा भव्य रूप आचार्य कुन्तक को भी काव्य में स्वीकृत है।[2] काव्य-परिभाषा में 'शब्दार्थौ सहितौ' कहने वाले आचार्य भामह, दण्डी, रुद्रट, वामन, मम्मट तथा भोजराज आदि काव्यशास्त्रियों को शब्दार्थ का विशिष्ट सम्बन्ध ही अभीष्ट है, केवल व्याकरणिक सम्बन्ध की काव्य जगत् में अपेक्षा नहीं है। यहाँ शब्द और अर्थ दोनों का उल्लेख दोनों का प्राधान्य बतलाने के लिए ही है। आचार्य राजशेखर ने 'साहित्य' को इसी अर्थ में प्रयुक्त किया है। उनकी दृष्टि में साहित्य का तात्पर्य है शब्द और अर्थ का यथावत् सहभाव अर्थात् समुचित रूप में साथ रहना।[3] आचार्य राजशेखर के पूर्ववर्ती आचार्य दण्डी, रुद्रट एवम् परवर्ती पण्डितराज जगन्नाथ की काव्य परिभाषाएँ भी काव्य में शब्द अर्थ के ऐसे ही सम्बन्ध को स्वीकार करती हैं। इष्ट अर्थ कवि का विवक्षित वही अर्थ होता है जो अलौकिक चमत्कारयुक्त होने के कारण उत्कृष्ट हो। उत्कृष्ट अर्थ के प्रतिपादक शब्दों का भी उत्कृष्ट होना अनिवार्य है। इष्ट अर्थ से

---

1. शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि अर्थः सहृदयहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः। ॥ 9 ॥ पृष्ठ-38
प्रथम उन्मेष वक्रोक्तिजीवित (कुन्तक)
2. साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ अन्यूनातिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥ 17 ॥ प्रथम उन्मेष
वक्रोक्तिजीवितम् (कुन्तक)
3. 'शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या' काव्यमीमांसा - (द्वितीय अध्याय)

युक्त पदावली का काव्यत्व स्वीकार करने वाले आचार्य दण्डी का यही तात्पर्य है। वर्णों के अर्थवान् समुदाय को काव्य कहने वाले आचार्य रुद्रट ने भी अर्थवान् शब्द से विशिष्ट अर्थ (लोकोत्तराह्लादजनक अर्थ) को ही काव्यार्थ स्वीकार किया होगा। इस विशिष्ट अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ शब्द ही काव्य के शब्द हैं। रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को 'काव्य' संज्ञा देने वाले पण्डितराज जगन्नाथ का रमणीयता से तात्पर्य है लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता।[1] इस प्रकार काव्य में शब्द और अर्थ दोनों की उत्कृष्टता से युक्त वह विशिष्ट साहित्य होता है, जिसे साधारण शब्दार्थ को काव्य में परिवर्तित कर देने का श्रेय है। आचार्य राजशेखर के द्वारा वर्णित शब्द और अर्थ के यथावत् सहभाव रूप साहित्य का परिपूर्ण स्वरूप परवर्ती आचार्य कुन्तक की साहित्य परिभाषा में स्पष्ट हुआ जिसमें उन्होंने मार्गों की अनुकूलता से सुन्दर, माधुर्य आदि गुणों की उत्कृष्टता से युक्त, अलङ्कारविन्यास तथा वृत्ति के औचित्य से मनोहारी रस परिपोष सहित शब्दार्थ सम्बन्ध को साहित्य स्वीकार किया।[2]

आचार्य राजशेखर द्वारा वर्णित काव्यपुरुषाख्यान में काव्यशास्त्र में वर्णित काव्य का सम्पूर्ण स्वरूप परिलक्षित होता है। इस वर्णन में आचार्य ने रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है।[3] आचार्य राजशेखर के समय तक काव्यशास्त्र विवेचन में रस काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित भी हो चुका था। उनके पूर्ववर्ती आचार्य आनन्दवर्धन ने प्रमुख ध्वनिकाव्य के रूप में रस को ही काव्य की

---

1. 'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।' (1/10) — काव्यादर्श (दण्डी)
   'ननु शब्दार्थौ काव्यम् शब्दस्तत्रार्थवाननेकविधः वर्णानां समुदायः स च भिन्नः पञ्चधा भवति। (2/1)
   — काव्यालङ्कार (रुद्रट)
   'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।1।
   रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता' — रसगङ्गाधर (प्रथमानन)
2. मार्गानुगुण्यसुभगो माधुर्यादिगुणोदयः। अलङ्करणविन्यासो वक्रतातिशयान्वितः। 34।
   वृत्यौचित्यमनोहारि रसानां परिपोषणम्
   स्पर्धया विद्यते यत्र यथास्वमुभयोरपि ।35।
   सा काव्यस्थितिस्तद्विदानन्दस्पन्दसुन्दरा
   पदादिवाक्परिस्पन्दसारः साहित्यमुच्यते ।36। — वक्रोक्तिजीवित—प्रथम उन्मेष
3. "--------रस आत्मा--------------" — काव्यमीमांसा - (तृतीय अध्याय)

आत्मा स्वीकार किया था। आचार्य राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' में 'कान्तासम्मितोपदेशेतया' काव्य के इस प्रयोजन का मनोहारी स्वरूप काव्यपुरुष एवम् साहित्यविद्यावधू के रूपक के रूप में परिलक्षित होता है। जिस प्रकार रूक्ष पुरुष को सरस बनाने के लिए रमणी के प्रेम की आवश्यकता है, उसी प्रकार छन्दोबद्ध शब्दमय काव्य को सरस बनाने के लिए साहित्यविद्या रूपी वधू की कल्पना की गई है। काव्यपुरुष एवम् साहित्यविद्यावधू की यह काल्पनिक कथा काव्य की सृष्टि, बाल्यकाल तथा यौवन को प्रदर्शित करती है। काव्यपुरुष क्रमशः साहित्यविद्यावधू की ओर आकृष्ट होता गया और उसी क्रम में उसमें सरसता की भी वृद्धि होती गई। इस प्रकार काव्य में सरसता का कारण साहित्य (शब्दार्थों का यथावत् सहभाव) ही है। यदि काव्य साहित्य से ओत प्रोत है तो उसका स्वरूप भी सरस और आकर्षक है। आचार्य राजशेखर कविशिक्षक आचार्य हैं, इसी कारण वह यह भी स्पष्ट करना चाहते थे कि काव्य अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ऐसा नहीं होता कि उसमें शब्द और अर्थ पूर्णतः एक दूसरे के अनुकूल हों। यह योग्यता काव्य में क्रमशः ही आती है और इस योग्यता के आने पर काव्य पूर्ण विकसित काव्य के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। शब्द, अर्थ के समुचित सामञ्जस्य से युक्त आचार्य राजशेखर का साहित्य शब्द परिपक्व, सरस, अतः श्रेष्ठ काव्य की अभिव्यञ्जना करता है। सामान्य 'साहित्य' शब्द वाचक शब्द तथा वाच्य अर्थ के संयोग तथा उनके अनिवार्य सम्बन्ध का पर्याय है, किन्तु आचार्य राजशेखर को अपनी काव्यशास्त्रीय कृति में काव्यात्मक साहित्य की ही आकाङ्क्षा है। शब्द और अर्थ केवल परिपक्व काव्य में ही समुचित रूप में साथ रहते हैं—प्रतीकात्मक रूप में यही सिद्ध करने के लिए आचार्य राजशेखर ने साहित्यवधू की ओर पूर्णतः आकर्षित काव्यपुरुष का उससे विवाह का रूपक प्रस्तुत किया है। सम्भवतः वत्सगुल्म नगर के काव्य की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करने के अभिलाषी आचार्य ने उनका विवाह वत्सगुल्म नगर में ही सम्पन्न कराया। काव्य की पुरुष तथा साहित्य की वधू रूप में प्रतीकात्मक कल्पना यह सिद्ध करती है कि साहित्य (शब्दार्थ के यथावत् सहभाव) से पूर्णतः प्रभावित काव्य विकसित, सरस और श्रेष्ठ है तथा पूर्ण परिपक्व कवि के मानस की उपज है।

साधारण शब्दार्थ साहित्य रसानुकूल हो, इसके लिए उनमें वैशिष्ट्य—गुण और अलङ्कार के रूप में निहित होना चाहिए। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में गुण तथा अलङ्कार के रूप में स्थित सौन्दर्य काव्य

का पर्यवसान रसास्वाद में कराता है। आचार्य राजशेखर इसी कारण गुण और अलङ्कार से युक्त वाक्य को काव्य कहते हैं। इस संदर्भ में वे आचार्य वामन के काव्यलक्षण से प्रभावित हैं।[1] परवर्ती आचार्य मम्मट तथा भोजराज भी 'अदोषौ' वैशिष्ट्य से युक्त इसी काव्यलक्षण को स्वीकार करते हैं।

विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रस्तुत काव्य की परिभाषाओं से काव्य की-शब्दार्थ साहित्य, दोषों का अभाव, गुण और अलङ्कार का योग तथा रस का अवियोग—विशेषताएँ प्रकट होती हैं। आचार्य वामन का काव्य अलङ्कार के कारण उपादेय है। अलङ्कार से उनका तात्पर्य सौन्दर्य से है। काव्य में सौन्दर्य दोषों के अभाव तथा गुण और अलङ्कार के योग से आता है। गुण अङ्गी (रस) के आश्रित होते हैं, अलङ्कार अङ्ग (शब्द, अर्थ) के आश्रित।[2]

रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करने वाले काव्यशास्त्र के सभी आचार्य रस के अपकर्षक सभी कारणों को दोष मानते हैं। शब्दादि रस प्रतीति तथा वाच्यार्थ बोध दोनों के उपकारक हैं, अत: वे दोषरहित होने चाहिए और रस का आश्रय होने से वाच्यार्थ भी दोष रहित होना चाहिए। इस प्रकार काव्य में सभी प्रकार के दोषों का अभाव काव्यशास्त्र में सर्वत्र स्वीकृत है।

उक्तिविशेष माधुर्य अग्राम्यता आदि से निर्मित होता है। माधुर्यादि गुण काव्य की आत्मा रस के उत्कर्षाधायक होते हैं। काव्य में उनकी उपस्थिति अनिवार्य है। अनुप्रास आदि शब्दालङ्कार तथा उपमा आदि अर्थालङ्कार कभी-कभी उपस्थित होकर काव्य के शरीर शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ाते हैं किन्तु साथ ही परम्परा से शरीरी रस की भी शोभा बढ़ाते हैं। शब्द और अर्थ दोनों के संस्कार से उपस्थित उक्तिविशेष काव्य को सामान्य भाषण की शैली से उत्कृष्ट विधा के रूप में प्रस्तुत करता है। शब्द अर्थ का संस्कार युक्त अग्राम्य स्वरूप उन्हें शब्दार्थ के यथावत् सहभाव रूप साहित्य के वैशिष्ट्य से युक्त करता

---

1. 'गुणवदलङ्कृतञ्च वाक्यमेव काव्यम्' — काव्यमीमांसा - (षष्ठ अध्याय)
   'काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयो: शब्दार्थयो: वर्तते — /1/1/1/ काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति (वामन)
2. तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणा: स्मृता:। अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा: मन्तव्या: कटकादिवत् ।6।
   ध्वन्यालोक— (द्वितीय उद्योत)

हैं। उक्तिविशेष काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति, उक्तिवैचित्र्य, वैदग्ध्यभङ्गिभणिति, अग्राम्यता, माधुर्य आदि नामों से अभिहित है। आचार्य भामह ने काव्य में शब्दार्थ वैचित्र्य की अपेक्षा को स्वीकार करते हुए वक्रोक्ति की आवश्यकता पर बल दिया है। आचार्य दण्डी तो विदग्धजन की भाषण शैली को ही काव्य की शैली मानते हैं।[1] विदग्धजन की भाषण शैली का तात्पर्य अग्राम्यता से ही है। इसी शैली को वैदग्ध्यभङ्गिभणिति अथवा उक्तिवैचित्र्य कहा गया है। काव्य का परमतत्व रस अग्राम्यता पर ही निर्भर है। आचार्य वामन के अनुसार उक्तिवैचित्र्य का ही तात्पर्य है माधुर्य।

साधारण शब्दार्थ साहित्य का दोषहान, गुणोपादान, अलङ्कारयोग एवम् रस के अवियोग से परिष्कार होता है[2] तथा असाधारण शब्दार्थ साहित्य उत्पन्न होता है। आचार्य राजशेखर का श्रेष्ठ काव्य भी यही है। काव्य में शब्द और अर्थ गुण और अलङ्कार आदि सम्पूर्ण सम्पत्ति के सहित सहृदय-हृदयाह्लादकारी रूप में उपस्थित रहते हैं। काव्य का सरसत्व तथा सहृदयहृदयहारित्व सर्वत्र स्वीकृत है। कवि के द्वारा कल्पित परिष्कारयुक्त साहित्य का भावन करता हुआ रसिक संसार में सुख प्राप्त करता है। आचार्य कुन्तक उस कविकौशलपूर्ण रचना को काव्य कहते हैं जो अपने शब्द सौन्दर्य तथा अर्थ सौन्दर्य के अनिवार्य सामञ्जस्य द्वारा काव्यमर्मज्ञ को आनन्द देती है।[3] शब्द और अर्थ दोनों में समान सौन्दर्य होना चाहिए। दोनों में तद्विदाह्लादकारित्व उसी प्रकार अन्तर्निहित होता है जैसे प्रत्येक तिल में तेल।[4]

---

1. वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः (1/36)
   'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना। (2/85)
   (काव्यालङ्कार—भामह)
2. दोषत्यागो गुणाधानमलङ्कारो रसान्वयः। इत्थं चतुर्विधा क्लृप्ता साहित्यस्य परिष्कृतिः॥ (प्रथम प्रकरण)
   (साहित्यमीमांसा - विश्वेश्वर)
3. शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि बन्धे व्यवस्थितौ, काव्यम् तद्विदाह्लादकारिणि
   वक्रोक्तिजीवित प्रथम उन्मेष ॥ 7 ॥ पृष्ठ - 18
4. 'प्रतितिलमिव तैलम् तद्विदाह्लादकारित्वम् वर्तते' वक्रोक्तिजीवित (कुन्तक) प्रथम उन्मेष - पृष्ठ - 18

यह तो स्पष्ट है कि रसोचित शब्दार्थ विन्यास में ही शब्दार्थ साहित्य होता है। आचार्य कुन्तक इसी को 'परस्परसाम्यसुभगावस्थान'[1] तथा आचार्य राजशेखर 'शब्दार्थों का यथावत् सहभाव' कहते हैं। श्रेष्ठ काव्य तथा काव्यपाक का लक्षण भी आचार्य राजशेखर तथा उनकी पत्नी अवन्तिसुन्दरी की दृष्टि में 'रसोचितशब्दार्थसूक्तिनिबन्धन' है।[2] आचार्य राजशेखर के पूर्ववर्ती आचार्य आनन्दवर्धन ने स्वीकार किया था कि औचित्य ही रसपरिपोष का एकमात्र रहस्य है। वाच्य, वाचक का रसादि औचित्य से उपयोग करना महाकवि का प्रधान कर्म है।[3] दृश्य तथा श्रव्य काव्यों में दर्शकों तथा श्रोताओं के हृदय में रसोन्मीलन के लिए परम अपेक्षित तत्व औचित्य है। किसी भी प्रकार का अनौचित्यपूर्ण प्रयोग रस प्रतीति में बाधक बन जाता है। यथा दृश्य काव्य की रसप्रतीति में अनुचित वेशभूषा, कथोपकथन तथा मञ्चरचना बाधा डालते हैं तो अनुचित पद प्रयोग श्रव्य काव्य को रसप्रतीति कराने में अक्षम बना देते हैं। रस प्रतीति में बाधक होने पर शब्द और अर्थ उस विशिष्ट साहित्य से दूर हो जाते हैं, जो काव्य में अभीष्ट है। ऐसी अवस्था को आचार्य कुन्तक साहित्यविरह कहते है तथा आचार्य महिमभट्ट नीरसकाव्य को कवि का महान् दोष स्वीकार करते हैं तथा रसाभिव्यक्ति परक कविव्यापार को ही काव्य कहते हैं।[4] क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य' की विस्तृत रूप में चर्चा की है।

---

1. 'मम सर्वगुणौ सन्तौ सुहृदाविव सङ्गतौ परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा'
(वक्रोक्तिजीवित, प्रथम उन्मेष, पृष्ठ - 25)
2. 'रसोचितशब्दार्थसूक्तिनिबन्धन: पाक:' काव्यमीमांसा - (पञ्चम अध्याय)
3. 'अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा' (ध्वन्यालोक - तृतीय उद्योत)
'वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्। रसादिविषयेणैतत् मुख्यं कर्म महाकवे:'
(ध्वन्यालोक - तृतीय उद्योत)
4. 'नीरसस्तु प्रबन्धो य: सोऽपशब्दो महान् कवे:' व्यक्तिविवेक (द्वितीय विमर्श)
'कविव्यापारो हि विभावादिसंयोजनात्मा रसाभिव्यक्त्यव्यभिचारी काव्यमुच्यते (प्रथम विमर्श)
व्यक्तिविवेक (महिमभट्ट)

आचार्य राजशेखर के अनुसार गुण, अलङ्कार, रीति, उक्ति से युक्त शब्दों, अर्थों का जो गुम्फन क्रम सहृदयों, श्रोताओं तथा भावकों को आकर्षक प्रतीत होता है, वह 'वाक्यपाक' है।[1] सहृदयहृदय की आह्लादनक्षमता ही काव्यपाक का रहस्य है। काव्य के विभिन्न पाकों में केवल वही पाक स्वीकार्य है, जिसका पर्यवसान सरसता में होता है। रस तो काव्य में सर्वत्र निहित है। आचार्य राजशेखर के परवर्ती आचार्य विश्वनाथ आदि तो रसयुक्त वाक्य को ही काव्य कहते हैं।[2] गुणयुक्त अलङ्कृत वाक्य भी अलौकिक चमत्कारजनक होने से रस प्रतीति कराते हैं और शब्दार्थ का विशिष्ट साहित्य भी लोकोत्तरचमत्कारजनक होने से रस प्रतीति का ही कारण बनता है। इस प्रकार सभी काव्य परिभाषाएँ प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से रस को ही काव्य का प्रमुख तत्व स्वीकार करती हैं।

आचार्य राजशेखर कविशिक्षक आचार्य के रूप में काव्यशास्त्रीय जगत् में प्रतिष्ठित हुए। अत: उनके काव्यपुरुषाख्यान, काव्य एवम् साहित्य के लक्षण तथा काव्यपाक यह सिद्ध करते हैं कि वे प्रारम्भिक कवि को पूर्णत: सरस काव्य की रचना करने में समर्थ पूर्ण परिपक्व, श्रेष्ठ कवि के रूप में ही प्रतिष्ठित करके उसे काव्यशिक्षा के परमलक्ष्य तक पहुँचा देना चाहते थे और वे अपने इस लक्ष्य में सफल भी हुए।

(ग) रीति, वृत्ति एवम् प्रवृत्ति :-

रीति :-

आचार्य राजशेखर का काव्यपुरुषाख्यान तात्कालिक काव्यरचना शैलियों का देशों के क्रम से विवरण प्रस्तुत करता है। तत्कालीन काव्यविद्यास्नातकों के लिए यह विवरण परम उपादेय था। काव्यपुरुष की साहित्यविद्यावधू के साथ यात्रा के प्रसंग में आचार्य ने भारत का चार भागों में विभाजन

---

1 'गुणालङ्काररीत्युक्तिशब्दार्थग्रथनक्रम: स्वदते सुधियां येन वाक्यपाक: स मां प्रति'

काव्यमीमांसा - (पञ्चम अध्याय)

2 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' (पृष्ठ - 19)

साहित्यदर्पण - प्रथम परिच्छेद (विश्वनाथ)

करके उसके वेषविन्यास, विलासविन्यास एवम् वचनविन्यास की रूपरेखा प्रस्तुत की है। काव्यपुरुष को आकर्षित करने के लिए साहित्यविद्यावधू ने जिस वेष, विलास एवम् वचन को अपनाया वे ही क्रमश: प्रवृत्ति, वृत्ति तथा रीति हैं। काव्यपुरुषाख्यान यह सिद्ध करता है कि काव्य में श्रेष्ठता क्रमिक रूप से ही आती है। वेष, नृत्यगान तथा वचनों का भी क्रमश: संस्कार होता जाता है। रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति के क्रमिक विकास एवम् परिष्कार को प्रस्तुत करने वाली कथा इनकी उत्तरोत्तर श्रेष्ठता को प्रतिपादित करती है।

काव्य के दो भेद हैं—दृश्य काव्य तथा श्रव्य काव्य। वेषविन्यास रूप प्रवृत्ति तथा विलास विन्यास रूप वृत्ति का प्रमुख उपयोग दृश्य काव्य के लिए ही है। किन्तु वचन विन्यास (रचनाशैली अथवा रीति) की तो दृश्य तथा श्रव्य दोनों प्रकार के काव्यों में समान उपादेयता है।

काव्यशास्त्र में पदों की संघटना अथवा पद विन्यास प्रणाली रीति है। इसी को कहीं मार्ग, कहीं संघटना एवम् कहीं रीति नाम प्रदान किया गया है। 'रीति' शब्द गत्यर्थक रीङ् धातु से व्युत्पन्न हुआ है।[1] आचार्य राजशेखर 'वचनविन्यासक्रम' को रीति कहते हैं।[2] आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा के रूप स्थापित किया। 'विशेष पद रचना' उनकी 'रीति' है। रीति की परिभाषा में 'विशिष्ट' पद उनके अनुसार गुण सम्पन्नता का द्योतक है।[3] पदों की वह रचना, जिसमें गुणों की उपस्थिति अवश्य हो रीति है। काव्य का शोभाकारक धर्म गुण है। आचार्य वामन शब्दगत तथा अर्थगत सौन्दर्य को ही महत्व देते हैं। आचार्य दण्डी ने भी गुणों को तथा आचार्य रुद्रट ने समास को रीति के मूल में स्वीकार किया है।[4]

---

1 'वैदर्भादिकृतपन्था: काव्ये मार्ग इति स्मृत:। रीङ् गताविति धातो: सा व्युत्पत्या रीतिरुच्यते' । 27।
सरस्वतीकण्ठाभरण (द्वितीय परिच्छेद)

2. 'वचनविन्यासक्रमो रीति:' — काव्यमीमांसा – (तृतीय अध्याय)

3 'रीतिरात्मा काव्यस्य' (1/2/6)
'विशिष्टपदरचना रीति:' (1/2/7)
'विशेषो गुणात्मा' (1/2/8)
काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति (वामन)

4. इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा: दशगुणा: स्मृता:। एषां विपर्यय: प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि। काव्यादर्श (दण्डी) (1/42)
नाम्नां वृत्तिर्द्वेधा भवति समासासमासभेदेन वृत्ते: समासवत्यास्तत्र स्यू रीतयस्तिस्त्र: ।3।
वृतेरसमासाया वैदर्भी रीतिरेकेव ।6। काव्यालङ्कार (रुद्रट) द्वितीय अध्याय

आचार्य आनन्दवर्धन ध्वनि सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के बाद रीति का ध्वनितत्व में ही अन्तर्भाव स्वीकार करते हैं। ध्वनितत्व की जब तक व्याख्या नहीं हो सकी थी तब तक वामन आदि ने रीतियाँ प्रचलित कीं।[1] ध्वनितत्व के स्पष्ट प्रतिपादन के पश्चात् उससे भिन्न रूप में रीति लक्षणों की आवश्यकता आचार्य आनन्दवर्धन ने स्वीकार नहीं की है। रचना को वर्ण और पद की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। पदों की दृष्टि से रचना के तीन भिन्न स्वरूप हैं—असमासा, मध्यमसमासा और दीर्घसमासा।[2] आचार्य आनन्दवर्धन इसी को संघटना कहकर उसे रसाश्रयी कहते हैं। इस रसाश्रयी संघटना के आन्तरिक तत्व प्रसाद, माधुर्य और ओज आदि गुण हैं तथा समास उसका बाह्य तत्व है। माधुर्यादि गुणों के आश्रित स्थित संघटना रसादि को व्यक्त करती है[3] यह कहकर आचार्य आनन्दवर्धन ने ही संघटना का रस से घनिष्ठ सम्बन्ध सिद्ध किया है। आचार्य कुन्तक काव्य की रचना शैली के सम्बन्ध में कवि स्वभाव को ही विशेष महत्व प्रदान करते हैं। वे रीति के स्थान पर सुकुमार, विचित्र तथा मध्यमार्ग को स्वीकार कर उसे कवि प्रस्थान हेतु कहते हैं।[4] यह भेद कवि स्वभाव पर ही आधारित हैं।

'काव्यमीमांसा' का संक्षिप्त रीति विवेचन काव्य के उत्तरोत्तर विकास का सूचक होने के कारण कवि शिक्षा ग्रन्थ के अनुरूप विषय ही सिद्ध होता है। काव्यनिर्माण में प्रतिभा के साथ ही व्युत्पत्ति तथा अभ्यास भी परम आवश्यक तत्व हैं। इनके द्वारा ही कवि शब्दार्थ के यथोचित् साहित्य से युक्त, पूर्णतः सरस श्रेष्ठ काव्य की रचना करने में समर्थ होता है। काव्य साहित्य से जितना अधिक घनिष्ठता से सम्बद्ध

---

1. 'अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्वमेतद्यथोदितम् अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः ॥ 47 ॥
ध्वन्यालोक - तृतीय उद्योत
2. 'असमासा, समासेन मध्यमेन च भूषिता तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संङ्घटनोदिता ॥ 5 ॥
ध्वन्यालोक - तृतीय उद्योत
3. 'गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा रसान्' ध्वन्यालोक - तृतीय उद्योत
4. 'सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः। सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः' । 24 ।
वक्रोक्तिजीवित (द्वितीय - उन्मेष)

होता जाएगा, काव्य की रचना शैली उतनी ही अधिक मात्रा में आडम्बरहीन तथा प्रभावपूर्ण होती जाएगी। आचार्य राजशेखर ने स्पष्ट किया है कि गौडी रीति उस अवस्था में प्रयुक्त होती है जब कवि का काव्य साहित्यविद्या की ओर आकर्षणयुक्त नहीं होता, इसीलिए गौडी रीति में स्वाभाविकता कम है, आडम्बर अधिक। इस रीति में समास और अनुप्रास की अधिकता तथा अभिधावृत्ति का प्रयोग होता है।[1] काव्य पुरुष का प्रसन्न न होना यह संकेत देता है कि गौडी रीति की रचना प्रसादगुण युक्त नहीं होती। पाञ्चाली रीति का प्रयोग काव्य के साहित्यविद्या की ओर आंशिक रूप में आकृष्ट होने पर होता है, इस रीति का वैशिष्ट्य है किञ्चित् समास, किञ्चित् अनुप्रास एवम् लक्षणावृत्ति का प्रयोग।[2] यह रीति गौडी रीति की अपेक्षा उत्कृष्ट है। गौडी शैली में अक्षरों और शब्दों का ही आडम्बर अधिक रहता है, किन्तु पाञ्चाली रीति में शब्द तथा अर्थ दोनों की समानता रहती है। काव्य के साहित्यविद्या की ओर पूर्ण आकर्षण की अवस्था में वैदर्भी रीति का प्रयोग होता है। इस रीति में आडम्बरहीनता तथा काव्य की सरसता की चरम अवस्था दृष्टिगत होती है। यथास्थान समासों एवम् अनुप्रासों का प्रयोग, प्रसन्न पद तथा व्यञ्जनावृत्ति रूपी विशेषताएँ इस रीति को कवियों के लिए अधिकाधिक ग्राह्य बनाती हैं।[3] महाकवि कालिदास तथा श्रीहर्ष इसी रीति के कारण अत्यधिक लोकप्रिय हुए।

काव्यरचना शैली का क्रमिक विकासक्रम प्रारम्भिक अभ्यासी कवि को सर्वप्रथम गौडी, तत्पश्चात् पाञ्चाली रीति के अभ्यास की ओर प्रेरित करता है। काव्यरचना के लिए कवि की पर्याप्त प्रयत्नशीलता कवि के काव्य को आडम्बरों तथा कृत्रिमताओं से परिपूर्ण बना देती है। वैदर्भी रीति के प्रयोग की क्षमता सम्भवत: कवि में विकासक्रम से स्वयं ही आ जाती है। उसे प्रयत्नशील नहीं होना

---

1 'तथाविधाकल्पयापि तया यदऽवशंवदीकृत: समासवदनुप्रासवद्योगवृत्तिपरम्परागर्भं जगाद सा गौडीया रीति:'

काव्यमीमांसा - (तृतीय अध्याय)

2 'तथाविधाकल्पयापि तया यदीषद्वशंवदीकृत ईषद्समासम् ईषदनुप्रासमुपचारगर्भञ्च जगाद सा पाञ्चाली रीति:'

काव्यमीमांसा - (तृतीय अध्याय)

3 'यदत्यर्थं च स तया वशंवदीकृत स्थानानुप्रासवदसमासं योगवृत्तिगर्भञ्च जगाद सा वैदर्भी रीति:'

काव्यमीमांसा - (तृतीय अध्याय)

पड़ता। पूर्णत: सरस काव्य की रचना में कवि के स्वाभाविक हृदयोद्गार आडम्बरों से रहित होकर प्रकट होते हैं। आचार्य राजशेखर के पूर्ववर्ती आचार्य वामन ने गौडी तथा पाञ्चाली के अभ्यास से वैदर्भी रीति तक पहुँचने की स्थिति को अस्वीकार किया था। इस संदर्भ में उन्होंने तर्क दिया था—सन से टाट बुनना सीख लेने पर रेशम से वस्त्र बुनने की योग्यता भी तो नहीं उपस्थित हो जाती।[1]

विभिन्न रीतियों के द्वारा काव्य के क्रमिक विकास को स्वीकार करके भी आचार्य राजशेखर किसी भी रीति को अनुपादेय सिद्ध करने के पक्षधर नहीं थे। उन्होंने तीनों ही रीतियों में सरस्वती का साक्षात् निवास स्वीकार किया है।[2] जहाँ वाग्देवी का निवास हो वे रीतियाँ अग्राह्य किस प्रकार हो सकती हैं?

आचार्य भामह वैदर्भ और गौड मार्गों के आधार पर काव्य की ग्राह्यता अग्राह्यता का भेद-निर्धारण पूर्णत: अनुचित मानते हैं। उनके अनुसार अग्राम्यता, औचित्य और अलङ्कार से युक्त सदर्थ से पूर्ण कोई भी काव्य ग्राह्य है, उसकी पदविन्यासप्रणाली कोई भी हो सकती है।[3] वामन की रीतियों की उपादेयता गुण सिद्ध करते हैं। समग्र काव्यगुणों से गुम्फित वैदर्भी रीति ग्राह्य है, तो गौडी और पाञ्चाली में गुणों की अल्पसंख्या उनकी उपादेयता को भी कम कर देती है। आचार्य आनन्दवर्धन समास रहित, मध्यम समास वाली तथा दीर्घसमास वाली संघटनाओं का नियामक वक्ता, वाच्य तथा विषय के औचित्य को स्वीकार करते हैं।[4] शृंङ्गार तथा करुण रसों में दीर्घसमासा संघटना बाधक है। इन रसों में असमासा संघटना के ही प्रयोग का औचित्य है। रौद्रादि रसों में मध्यमसमासा तथा दीर्घसमासा संघटना भी बाधक

---

1 'तदारोहणार्थमितराभ्यास इत्येके (1/2/16)
तच्च न अतत्वशीलस्य तत्त्वानिष्पत्ते: (1/2/17)
निदर्शनमाह—न शणसूत्रवानाभ्यासे त्रसरसूत्रवानवैचित्र्यलाभ: (1/2/18) (काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति - वामन)

2 'वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली चेति रीतयस्तिस्त्र: आशु च साक्षान्निवसति सरस्वती तेन लक्ष्यन्ते।'
काव्यमीमांसा - (सप्तम अध्याय)

3. अलङ्कारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम् गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा (1/35) काव्यालङ्कार (भामह)

4 'तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययो:' ॥ 6 ॥ ध्वन्यालोक - तृतीय उद्योत

नहीं है। रस के प्रधान रूप से प्रतिपाद्य विषय होने पर उसकी प्रतीति में बाधक तत्वों का परिहार तो अनिवार्य ही है। आचार्य रुद्रट भी इसी प्रकार शृंङ्गार, करुण, भयानक तथा अद्‌भुत रसों में वैदर्भी और पाञ्चाली रीति का तथा रौद्ररस में लाटीया तथा गौडी रीति का प्रयोग उचित मानते हैं।[1] आचार्य कुन्तक के सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम इन तीन मार्गों में किसी की भी न्यूनता नहीं है, क्योंकि यह सभी भेद कवि के स्वभाव पर आधारित हैं। मध्यम मार्ग की 'मध्यम' संज्ञा मिश्रित रचना शैली के कारण है। तीनों मार्गो से रचित काव्य की परिसमाप्ति सहृदयहृदयाह्लादकारित्व में ही होती है।[2]

अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के समान ही आचार्य राजशेखर को भी काव्य के विषय, वक्ता आदि के अनुकूल ही रीति का प्रयोग स्वीकृत रहा होगा, क्योंकि 'रसोचित शब्दार्थसूक्तिनिबन्धन' ही उनके श्रेष्ठ काव्य का आधार है। इस दृष्टि से उनकी विचारधारा रसानुकूल रीतियों के प्रयोग का औचित्य मानने वाले आचार्य रुद्रट तथा आचार्य आनन्दवर्धन के समान ही है। रस का परम रहस्य औचित्य ही है, अतः काव्य की सरसता के लिए सभी पदविन्यास प्रणालियों का नियमन औचित्य से ही होना चाहिए। काव्यमीमांसा के काव्यपुरुषाख्यान में पुरुष तथा स्त्री का एक दूसरे के प्रति पूर्ण आकर्षण का विवेचन पूर्णतः कोमल भावनाओं से सम्पृक्त शृंङ्गार का द्योतक है। काव्यपुरुष का साहित्यविद्यावधू के प्रति आकृष्ट न होना उसके रुक्ष तथा कठोर रूप को ही उपस्थित करता है—ऐसी स्थिति में उसके द्वारा समास बहुला गौडी रीति का प्रयोग कठोर भावनाओं के द्योतक रस की प्रतीति का बोधक माना जा सकता है। साहित्यविद्यावधू के प्रति किञ्चित् आकर्षण होने पर अल्प मात्रा में उत्पन्न कोमल, मधुर भावनाओं के द्योतक रसों की प्रतीति में पाञ्चाली रीति सहायक है तथा पूर्णतः आकर्षित पुरुष की सर्वाङ्ग कोमल भावनाओं का द्योतन वैदर्भी रीति के द्वारा सम्भव है।

---

1 वैदर्भीपाञ्चाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकाद्‌भुतयोः लाटीयागौडीये रौद्रे कुर्याद्यथौचित्यम् ।20।

काव्यालङ्कार (रुद्रट) चतुर्दश अध्याय

2 तस्मादेषां प्रत्येकमस्खलितस्वपरिस्पन्दमहिम्ना
तद्विदाह्लादकारित्वपरिसमाप्तेर्न कस्यचिन्न्यूनता। (प्रथम उन्मेष)

वक्रोक्तिजीवित (कुन्तक) पृष्ठ - 102

विभिन्न रीतियों का स्वरूप प्राय: सभी आचार्यों की दृष्टि में एक सा ही है। यथा गौडी समासबहुला, पाञ्चाली अल्प समास से युक्त तथा वैदर्भी समास रहित। आचार्य वामन की गुणों के वैशिष्ट्य वाली रीतियों में वैदर्भी रीति समस्त गुणों से युक्त है।[1] गौडी में ओज तथा कान्ति एवम् पाञ्चाली में माधुर्य तथा सौकुमार्य की स्थिति होती है।[2] इन तीन रीतियों के अतिरिक्त लाटीया, आवन्तिका, मागधी आदि कुछ अन्य रीतियाँ भी काव्यशास्त्र में स्वीकृत हैं, किन्तु वे सभी वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली के मध्य स्थित तथा उनके मिश्रण से ही युक्त हैं। आचार्य रुद्रट की लाटीया पाञ्चाली तथा गौडी के मध्य की है तथा आचार्य विश्वनाथ की लाटीया वैदर्भी और पाञ्चाली के मध्य की है। भोजराज इसे समस्त रीतियों का मिश्रण स्वीकार करते हैं। भोजराज की आवन्तिका तथा मागधी भी इसी प्रकार की मिश्रित रीतियाँ हैं। वैशिष्ट्य की दृष्टि से सभी रीतियों का वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली में ही अन्तर्भाव हो जाता है, अत: आचार्य राजशेखर इनके अतिरिक्त अन्य किसी रीति को स्वीकार नहीं करते।

'काव्यमीमांसा' में स्थान की दृष्टि से रीति-विभाजन

काव्यरचना की दृष्टि से प्राचीन भारत के चार विभाग किए गए थे। पूर्व में मगध और बंगाल, मध्य देश में पाञ्चाल, पश्चिम में अवन्ति देश और दक्षिण में विदर्भ। इन्हीं में काव्यों और नाटकों की रचना शैली का विकास हुआ। अन्य स्थानों का इन चार भागों में ही अन्तर्भाव हुआ। काव्यमीमांसा में इन चारों भागों के जनपदों का भी नामोल्लेख है, जिससे प्राचीन भारत के समस्त जनपदों में अधिक प्रचलित रीति 'कौन सी थी' यह ज्ञात होता है। पूर्व देश में जिसमें अङ्ग, बङ्ग, सुह्म, ब्रह्म, पुण्ड्र आदि जनपद थे—गौडी रीति प्रचलित थी।[3] पाञ्चाल देश की पाञ्चाली रीति थी। भारत के इस विभाग में पाञ्चाल,

---

1 समग्रगुणा वैदर्भी (1/2/11) — काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति (वामन)

2 ओज: कान्तिमती गौडीया (1/2/12)
माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली (1/2/13) — काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति (वामन)

3. 'अथ सर्वे प्रथमं प्राचीं दिशं शिश्रियुयत्राङ्गवङ्गसुह्मब्रह्मपुण्ड्राद्या जनपदा:----------------सा गौडीया रीति:।'
काव्यमीमांसा - (तृतीय अध्याय)

शूरसेन, हस्तिनापुर, काश्मीर, बाहीक, बाह्लीक, बाह्लवेय आदि जनपद थे।[1] अवन्तिदेश में अवन्ती, वैदिश, सुराष्ट्र, मालव, अर्बुद, भृगुकच्छ आदि जनपद थे। इस स्थान की रीति के विषय में आचार्य राजशेखर मौन हैं, किन्तु यहाँ की वृत्ति तथा प्रवृत्ति को वे पाञ्चाल तथा दक्षिण देश की वृत्ति, प्रवृत्ति की मध्यवर्ती स्वीकार करते हैं, अत: यहाँ की रीति के विषय में भी उनका यही विचार रहा होगा। मलय, मेकल, कुन्तल, केरल, पाल, मञ्जर, महाराष्ट्र, वङ्ग, कलिङ्ग आदि जनपद दक्षिण देश में थे। इस स्थान की वैदर्भी रीति काव्यमीमांसा में उल्लिखित है।[2] एक ही रीति का अनेक स्थानों पर प्रयोग हो सकता है, किसी एक ही रीति को देश विशेष की सीमा में आबद्ध करना संभव नहीं है। उनका नामकरण देश विशेष में उनके अधिकता से प्रयोग से सम्बन्ध रखता है। आचार्य वामन के समान आचार्य राजशेखर भी यही स्वीकार करते प्रतीत होते हैं, क्योंकि उन्होंने विदर्भ देश में वैदर्भी रीति का अधिक प्रयोग होता है, यह स्पष्ट किया है। 'काव्यमीमांसा' से स्पष्ट प्रतीत होता है कि क्षेत्र विशेष की वेषभूषा, रहन-सहन, आचार-विचार का सीधा प्रभाव वहाँ की भाषा शैली पर भी पड़ता है। गौडी रीति पूर्व देश के लोगों के अव्यवस्थित वेष तथा जटिल व्यक्तित्व से प्रभावित थी,[3] इसी कारण उसमें लम्बे समासों, अनुप्रासों की बोझिल परम्परा है। वेषभूषा तथा रहन-सहन का जब किञ्चित् शिष्टतापूर्ण तथा सुन्दर समायोजन हुआ,[4] तब भाषा भी पाञ्चाली रीति के रूप में छोटे-छोटे समासों तथा अनुप्रासों की योजना से सुन्दर हुई। विदर्भ देश में तो कामदेव की क्रीडाभूमि वत्सगुल्म नामक नगर की स्थिति है।[5] विदर्भ के लोगों की सुन्दर, व्यवस्थित वेषभूषा तथा सरस शृंङ्गारपूर्ण क्रियाकलापों का प्रभाव वहाँ के वचन विन्यास पर स्पष्ट

---

1 ततश्च स पाञ्चालन्प्रत्युच्चचाल यत्र पाञ्चालशूरसेनहस्तिनापुरकाश्मीरवाहीकबाह्लीकबह्लवेयादयो जनपदा:-------- --------सा पाञ्चाली रीति: काव्यमीमांसा - (तृतीय अध्याय)

2 'ततश्च स दक्षिणां दिशमाससाद यत्र मलयमेकलकुन्तलकेरलपालमञ्जरमहाराष्ट्रवङ्गकलिङ्गादयो जनपदा:------- ---------- सा वैदर्भी रीति:।' काव्यमीमांसा - (तृतीय अध्याय)

3 'यदृच्छयाऽपि यादृङ्नेपथ्य: स सारस्वतेय आसीत् तद्वेषाश्च पुरुषा बभूवु:। काव्यमीमांसा - (तृतीय अध्याय)

4. 'किञ्चिदार्द्रितमना यन्नेपथ्य: स सारस्वतेय आसीदिति------------। काव्यमीमांसा - (तृतीय अध्याय)

5. 'तत्रास्ति मनोजन्मनो देवस्य क्रीडावासो विदर्भेषु वत्सगुल्मं नाम नगरम्।' काव्यमीमांसा - (तृतीय अध्याय)

परिलक्षित हुआ।[1] इसी विदर्भ देश के आधार पर वैदर्भी नामकरण वाली काव्यरचना शैली मधुर, उचित स्थान पर अनुप्रासयुक्त, समासरहित सहज स्वाभाविक वचन-विन्यास वाली थी, जो अपने माधुर्य के कारण सबको आकर्षित करने में समर्थ थी।

वृत्ति :-

'काव्यमीमांसा' के काव्यपुरुषाख्यान में काव्यपुरुष एवम् साहित्यविद्यावधू के यात्रा प्रसङ्ग में वृत्तियों का उल्लेख है।

काव्यशास्त्र में शब्द और अर्थ के उचित व्यवहार की प्रवर्तक वृत्तियों का विवेचन है। यह वृत्तियाँ तीन प्रकार के काव्यतत्वों की वाचक हैं।

प्रथम भट्टोद्भट्ट आदि की अभिमत परुषा, उपनागरिका, ग्राम्या आदि वृत्तियाँ हैं। यह भेद वर्णो के प्रयोग की दृष्टि से किए गए हैं। इनके लिए ही 'वर्तन्तेऽनुप्रासभेदाः आसु इति वृत्तयः' वचन प्रयुक्त हैं। यह शब्दाश्रित वृत्तियाँ कहलाती हैं, क्योंकि इनका सम्बन्ध मुख्यतः शब्द व्यवहार से है।

वाच्य अर्थ के रसानुकूल, औचित्ययुक्त व्यवहार की द्योतक भारती, सात्वती, आरभटी और कैशिकी आदि वृत्तियाँ हैं। नायकादि के रस पर आधारित व्यवहार से सम्बद्ध यह वृत्तियाँ अर्थाश्रित कहलाती हैं।

अर्थबोधात्मक व्यापार की दृष्टि से अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना इन शब्दशक्तियों को भी 'वृत्ति' नाम से अभिहित किया जाता है।

शब्दाश्रित परुषा आदि तथा अर्थाश्रित कैशिकी आदि दोनों ही प्रकार की वृत्तियाँ रस पर आधारित हैं। इन दोनों वृत्तियों का आत्मभूत रस है। काव्य तथा नाट्य में इन दोनों ही वृत्तियों से अनिर्वचनीय सौन्दर्य उत्पन्न होता है।

---

1 'तामनुरक्तमनाः स यन्नेपथ्यः सारस्वतेय आसीदिति। काव्यमीमांसा - (तृतीय अध्याय)

आचार्य राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में जिन वृत्तियों का उल्लेख किया है वह दृश्यकाव्य से सम्बद्ध कैशिकी आदि वृत्तियाँ ही हैं। इस विवेचन का आधार भरतमुनि का नाट्यशास्त्र ही है।

सर्वप्रथम भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में वृत्तियों का विस्तृत विवेचन प्राप्त हुआ। यह वृत्तियाँ विभिन्न नाट्यपद्धतियाँ ही थीं। प्राचीन काल में नृत्य के नाट्य का प्रमुख तत्व होने के कारण भिन्न प्रदेशों की भिन्न नृत्यपद्धतियाँ नाट्यप्रयोगों में भी वैविध्य उपस्थित कर देती थीं। भरतमुनि के परवर्ती आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, धनञ्जय, राजशेखर, विश्वनाथ, भोजराज आदि के ग्रन्थों में भी वृत्तिविवेचन प्राप्त होता है।

नाट्यशास्त्र के 'व्यापार: पुमर्थसाधको वृत्ति:' तथा दशरूपक के 'तदव्यापारात्मिका वृत्ति:' इत्यादि वचन स्पष्ट करते हैं कि नायकादि के व्यवहार की ही वृत्ति संज्ञा है। नाट्यशास्त्र के 'वृत्तयो नाट्यमातर:' तथा 'सर्वेषामेव काव्यानां वृत्तयो मातृका: स्मृता:' इत्यादि उल्लेखों से यह भी सिद्ध होता है कि भरतमुनि के लिए वृत्तियों के अभाव में नाट्य अस्तित्वहीन थे। आचार्य अभिनवगुप्त तथा भोजराज आदि आचार्यों ने भी नाटकादि के पात्रों की चेष्टाओं को ही वृत्ति रूप में स्वीकार किया है। नाटक के पात्र अथवा काव्य के नायकादि शरीर, वचन तथा मन की जो विचित्रता युक्त चेष्टाएँ करते हैं,[1] चित्त के विकास, विक्षेप, संकोच तथा विस्तार की दशा में यह पात्र जो व्यवहार करते हैं, वही वृत्तियाँ कहलाती हैं।[2]

---

1. 'कायवाङ्मनसां चेष्टा एव सह वैचित्र्येण वृत्तय:' नाट्यशास्त्र विंश अध्याय — अभिनवगुप्त की वृत्ति
2. या विकाशेऽथ विक्षेपे सङ्कोचे विस्तरे तथा चेतसो वर्तयित्री स्यात् सा वृत्ति: साऽपि षडविधा । 34 ।
सरस्वती कण्ठाभरण — द्वितीय परिच्छेद

रसानुकूल, औचित्ययुक्त व्यवहार को 'वृत्ति'[1] संज्ञा देने वाले आचार्य आनन्दवर्धन इनकी ध्वनि से अलग सत्ता स्वीकार नहीं करते। ध्वनि सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के बाद वे व्यापक स्वरूप वाले ध्वनितत्व में रीतियों के समान वृत्तियों का भी अन्तर्भाव करते हैं, क्योंकि ध्वनि सहृदयहृदयानुभवगोचरचमत्कारविशेषजनक है और वृत्तियाँ भी इसी चमत्कार को उत्पन्न करती हैं। अग्नि पुराण के काव्यशास्त्रीय भाग में नायकादि के कार्यों के नियमपूर्वक व्यवहार को वृत्ति कहकर उनका औचित्य से ही सम्बन्ध सिद्ध किया गया है।

'काव्यमीमांसा' में काव्यपुरुष के आकर्षण हेतु साहित्यविद्यावधू द्वारा प्रयुक्त नृत्य, गान, वाद्य आदि रूप 'विलासविन्यासक्रम' ही वृत्ति है।[2] इस प्रकार विलास विन्यास का तात्पर्य नृत्यकला से ही है। प्राचीन भारत के चार भागों के चार विभिन्न नृत्यरूप वृत्तियों के रूप में उल्लिखित हैं। कविशिक्षक आचार्य होने के कारण आचार्य राजशेखर सर्वत्र क्रमिक विकास के पक्षधर थे। नृत्यपद्धतियों का भी क्रमशः परिष्कार हुआ होगा। काव्यपुरुष के साहित्यविद्यावधू के प्रति क्रमिक आकर्षण के समान विलास विन्यास अथवा नृत्यकला का क्रमिक विकास वर्णित है। विलास विन्यास का यह विकास प्रारम्भिक अवस्था में केवल शरीर के प्रयोग का तथा क्रमशः शरीर और मन दोनों के प्रयोग का सूचक है। परिपक्व

---

1. 'वृत्यौचित्यन्तु यथारसमनुसर्तव्यम्' पृष्ठ - 251
ध्वन्यालोक - तृतीय उद्योत

'रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः औचित्यवान् यस्ता एता वृतयो द्विविधाः स्थिताः ॥ 33 ॥
ध्वन्यालोक - तृतीय उद्योत

'शब्दतत्त्वाश्रयाः काश्चिदर्थतत्वयुजोऽपराः वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे' ॥ 48 ॥
ध्वन्यालोक - तृतीय उद्योत

'व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते। तत्र रसानुगुण औचित्यवान् वाच्याश्रयो यो व्यवहारस्ता एताः कैशिकाद्याः वृत्तयः। वाचकाश्रयाश्चोपनागरिकाद्याः वृत्तयो हि रसादितात्पर्येण सन्निवेशिताः कामपि नाट्यस्य काव्यस्य च छायामावहन्ति। रसादयो हि द्वयोरपि तयोर्जीवितभूताः। (3/33 की वृत्ति)
(ध्वन्यालोक - तृतीय उद्योत)

2 'विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः' काव्यमीमांसा - (तृतीय अध्याय)

नृत्य में शरीर तथा मन दोनों का ही सुन्दर तालमेल सहित प्रयोग होता है। इस दृष्टि से भारती वृत्ति नृत्य शैली की प्रारम्भिक अवस्था है तथा नृत्य का परिपूर्ण विकसित सौन्दर्यमय रूप कैशिकी वृत्ति में परिलक्षित होता है।

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के समान[1] काव्यमीमांसा में भी भारती, सात्वती, आरभटी और कैशिकी चार वृत्तियों का उल्लेख है।

नाट्य शास्त्र में वृत्तियों की उत्पत्ति वेदों से मानी गई है। भारती वृत्ति का मूल स्त्रोत ऋग्वेद है तो सात्वती का यजुर्वेद। कैशिकी का सामवेद से तथा आरभटी का अथर्ववेद से उद्‌भव हुआ।[2]

नायकादि का व्यापार वाचिक मानसिक तथा शारीरिक तीन प्रकार का होता है। नाट्यकला की उत्पत्ति के समय भरतों अर्थात् अभिनेताओं ने जिस नृत्य पद्धति का आश्रय लिया वह उन्हीं के नाम से विख्यात होकर भारती वृत्ति कहलाने लगी। वाचिक व्यापार से सम्बद्ध यह वृत्ति पुरुष पात्रों से युक्त, संवाद प्रधान थी, इसमें संस्कृत का प्रयोग होता था, वीभत्स एवम् करुण इसके प्रमुख रस थे।[3] बाद में आचार्य विश्वनाथ ने इस वृत्ति का सर्वत्र प्रयोग स्वीकार किया। काव्यमीमांसा के काव्यपुरुषाख्यान में पूर्वदेश में साहित्यविद्यावधू द्वारा काव्यपुरुष के आकर्षण हेतु प्रस्तुत नृत्यगान आदि ही भारती वृत्ति है। पूर्वदेश में प्रचलित इस वृत्ति का स्वरूप साहित्यविद्यावधू के प्रति काव्यपुरुष के आकर्षण की न्यूनता का

---

1. 'भारती सात्वती चैव कैशिक्यारभटी तथा चतस्त्रो वृत्तयो ह्येता यासु नाट्यं प्रतिष्ठितम्'

   नाट्यशास्त्र षष्ठ अध्याय । 24 ।

2. ऋग्वेदाद् भारती क्षिप्ता यजुर्वेदाच्च सात्वती। कैशिकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्वणादपि । 25 ।

   (नाट्यशास्त्र - विंश अध्याय)

3. या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या स्त्रीवर्जिता, संस्कृतपाद्‌ययुक्ता। स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः। 26 ।

   वीभत्से करुणे चैव भारती संप्रकीर्तिता । 74 । — नाट्यशास्त्र - विंश अध्याय

   'भारती वाग्वृत्तिः' — अभिनव भारती (अभिनव गुप्त)

   [नाट्यशास्त्र - विंश अध्याय (41) की वृत्ति]

प्रतीक है। अतः यहाँ भी इसका सम्बन्ध वाचिक व्यापार से ही प्रतीत होता है और गौडी रीति से इसका सम्बन्ध भी इसी तथ्य को स्पष्ट करता है।

मानसिक व्यपार से सम्बन्ध रखने वाली सात्वती वृत्ति सत्वगुण प्रधान, हर्षपूर्ण तथा अभिनय की प्रधानता से युक्त है।[1] वीर, अद्भुत तथा शम रसों से सम्बन्ध रखने वाली[2] इस नृत्यशैली में पुरुषों की बहुलता होती थी, यद्यपि इसमें स्त्रियों की भी अत्यल्प संख्या विद्यमान रहती थी। इसका सात्वती नामकरण नर्तकों के द्वारा सत्वप्रधान भावों को प्रदर्शित करने के कारण हुआ।[3] सात्वतों (वैष्णवों) की नृत्यपद्धति होने के कारण भी इसे सात्वती कहा गया। काव्यमीमांसा में पाञ्चाल देश में साहित्यविद्यावधू द्वारा प्रस्तुत किया गया नृत्य, गान, वाद्य आदि सात्वती वृत्ति के रूप में वर्णित है। यहाँ भी इस वृत्ति में हर्ष की तथा सात्विक भावों की अधिकता है क्योंकि साहित्यविद्यावधू के इन व्यापारों से काव्यपुरुष के किञ्चित् आकर्षण का निर्देश है। इसी कारण यह वृत्ति भी किञ्चित् कोमल भावनाओं की ही द्योतक है और इसी प्रकार की भावनाओं का प्रदर्शन करने वाली पाञ्चाली रीति से इसका सम्बन्ध भी है।

कायिक व्यापार से सम्बन्ध रखने वाली आरभटी वृत्ति का प्रचलन नाट्य शास्त्र के अनुसार पहले दैत्य, दानव तथा राक्षस जातियों में ही था। माया, इन्द्रजाल, संग्रम, क्रोध, उद्भ्रान्ति, बन्ध, वध आदि इसके वैशिष्ट्य हैं। संवाद से लेकर नृत्य तक सर्वत्र औद्धत्य युक्त इस वृत्ति में भी पुरुषनर्तकों की बहुलता थी, स्त्रियाँ अत्यल्प संख्या में उपस्थित रहती थीं। आचार्य राजशेखर सात्वती वृत्ति को ही कुटिल गति वाली हो जाने पर आरभटी कहते हैं।[4] इस वृत्ति के नामकरण का आरभट जाति से भी

---

1 या सात्त्वतेनेह गुणेन युक्ता, न्यायेन वृत्तेन समन्विता च। हर्षोत्कटा संहृतशोकभावा सा सात्वती नाम भवेत्तु वृत्तिः। 41।
(नाट्यशास्त्र - विंश अध्याय)

2 सात्वती चापि विज्ञेया वीराद्भुतशमाश्रया । 73। (नाटयशास्त्र - विंश अध्याय)

3 मनोव्यापाररूपा सात्विकी सात्वती। सदिति प्रख्यारूपं संवेदनम्। तद् यत्रास्ति तत् सत्व मनः । तस्येयमिति।
(अभिनवभारती - अभिनवगुप्त)
(नाट्यशास्त्र विंश अध्याय (41) की वृत्ति)

4. 'आविद्धगतिमत्वात्सा चारभटी' काव्यमीमांसा - तृतीय अध्याय

सम्वन्ध है। यह वृत्ति रौद्र एवम् भयानक रसों में प्रयुक्त होती है,[1] आचार्य विश्वनाथ इसको वीभत्स रस में प्रयुक्त होने वाली भी स्वीकार करते हैं। सात्वती का ही अन्य रूप होने के कारण इसका प्रचलन भी सात्वती के ही समान पाञ्चाल देश में रहा होगा। आचार्य अभिनवगुप्त इस वृत्ति को भटों की कार्यवृत्ति के रूप में कायिक व्यापार से सम्बद्ध मानते हैं।[2] जिस प्रकार केश देह की शोभा के लिए उपयोगी हैं, उसी प्रकार वाचिक, मानसिक और शारीरिक तीनों प्रकार के व्यापारों में सौन्दर्योपयोगी व्यापार कैशिकी वृत्ति है।[3] शृंङ्गार और हास्य रस में प्रयुक्त, सुन्दर विलासों से युक्त इस वृत्ति का वैशिष्ट्य है कोमल और आकर्षक नेपथ्य विधान, स्त्री पात्रों की बहुलता, अनेक नृत्य तथा गीतों का आयोजन, कामचेष्टाओं का उद्दीपन तथा विस्तार।[4] कैशिकी वृत्ति सभी रसों का प्राण है, किन्तु शृंङ्गाररस का तो इसके बिना नाम भी नहीं लिया जा सकता। भारती, सात्वती और आरभटी का ही पहले प्रयोग होता था, किन्तु ब्रह्मा के आग्रह से कैशिकी वृत्ति का भी प्रयोग आरम्भ हुआ। इस वृत्ति का केवल नाट्यपुरुषों के द्वारा प्रयोग न हो

---

1. आरभटप्रायगुणा तथैव बहुकपटवञ्चनोपेता दम्भानृतवचनवती त्वारभटी नाम विज्ञेया ।64।

   नाट्यशास्त्र - विंश अध्याय

   रौद्रे भयानके चैव विज्ञेयारभटी बुधैः ।------- ।।74 । (नाट्यशास्त्र - विंश अध्याय)

   'पुरुषैर्बहुभिर्युक्तमल्पस्त्रीकं तथैव च सात्वत्यारभटीप्रायं नाट्यमाविद्धमेव तत् ।55।

   (नाट्यशास्त्र - विंश अध्याय)

   'एषां प्रयोगः कर्तव्यो दैत्यदानवराक्षसैः। उद्धता च ये पुरुषाः शौर्यवीर्यबलान्विताः' ।57।

   (नाट्यशास्त्र - विंश अध्याय)

2. इय्रति इति अराः भटाः सोत्साहा अनलसाः। तेषामियं आरभटी कार्यवृत्तिः। अभिनवभारती (अभिनवगुप्त)

   (नाट्यशास्त्र - विंश अध्याय (41) की वृत्ति)

3. केशाः किञ्चिदप्यर्थक्रियाजातमकुर्वन्तो देहशोभोपयोगिनः। तद्वत् सौन्दर्योपयोगी व्यापारः कैशिकी वृत्तिः।---------

   सर्वत्रैव कैशिकीप्राणाः------------शृंङ्गाररसस्य तु नामग्रहणमपि न तया विना शक्यम्।

   अभिनवभारती (अभिनवगुप्त)

   [नाट्यशास्त्र - विंश अध्याय (41) की वृत्ति]

4. या श्लक्ष्णनैपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसंयुता या बहुनृत्तगीता। कामोपभोगप्रभवोपचारा तां कैशिकीं वृत्तिमुदाहरन्ति ।53।

   (नाट्यशास्त्र - विंश अध्याय)

   हास्यश्रृङ्गारबहुला कैशिकी परिचक्षिता-------------।73। (नाट्यशास्त्र - विंश अध्याय)

सकने के कारण ब्रह्मा ने अप्सराओं की उत्पत्ति की। नीलकण्ठ शङ्कर के नृत्य में इस वृत्ति का प्रथम दर्शन हुआ।[1] अधिक संख्या में उपस्थित नर्तकियों के सुन्दर केश विन्यास के कारण, क्रथकैशिक प्रदेश अथवा कैशिक जाति का नाट्यप्रयोग होने के कारण इसका 'कैशिकी' नाम हुआ।

काव्यपुरुषाख्यान में वर्णित यह वृत्ति दक्षिण देश की है। दक्षिण देश में काव्यपुरुष के आकर्षण हेतु साहित्यविद्यावधू द्वारा प्रस्तुत नृत्य, गान, वाद्य आदि विलास क्रियाएँ ही कैशिकी वृत्ति हैं। इस आख्यान से भी इस वृत्ति का पूर्णतः कोमल भावनाओं को व्यक्त करने वाले शृंङ्गार रस से ही सम्बन्ध स्पष्ट होता है, क्योंकि इन्हीं विलासों के द्वारा काव्यपुरुष का पूर्णतः सरस तथा आकर्षित होना वर्णित है। दक्षिण देश में ही काव्यपुरुष की पूर्ण सरसता के वर्णन से प्रतीत होता है दक्षिण देश की यह वृत्ति आचार्य राजशेखर को सर्वाधिक प्रिय थी।

इसी आख्यान में अवन्तिदेश में साहित्यविद्यावधू द्वारा प्रस्तुत नृत्य, गान आदि पाञ्चाल देश तथा दक्षिण देश के मध्यस्वरूप वाला था, अतः यहाँ की वृत्ति सात्वती तथा कैशिकी दोनों स्वीकार की गई है।

आचार्य भोजराज ने इन चार वृत्तियों के अतिरिक्त मध्यमारभटी तथा मध्यमकैशिकी वृत्तियाँ भी स्वीकार कीं, किन्तु इनमें आरभटी और कैशिकी का केवल मिश्रण ही है, नवीन वैशिष्ट्य नहीं है।

आचार्य राजशेखर की काव्यमीमांसा में वर्णित भारती वृत्ति का गौडी रीति से, सात्वती और आरभटी का पाञ्चाली रीति से तथा कैशिकी का वैदर्भी रीति से सम्बन्ध दृश्यकाव्य में नायकादि के व्यवहार के अनुरूप ही पद विन्यास के औचित्य का सूचक है। भारती वृत्ति का रुक्ष काव्यपुरुष एवम् उदासीन साहित्यविद्या से, सात्वती का किञ्चित् आकर्षित काव्यपुरुष से एवम् कैशिकी वृत्ति का

---

1. दृष्टा मया भगवतो नीलकण्ठस्य नृत्यतः कैशिकी श्लक्ष्णनैपथ्या शृंङ्गाररससम्भवा ।45।
अशक्या पुरुषैः सा तु प्रयोक्तुं स्त्रीजनादृते ततोऽसृजन्महातट्टजा मनसाऽप्सरसो विभुः ।46।
(नाट्यशास्त्र - प्रथम अध्याय)

साहित्यविद्यावधू के प्रति पूर्णतः आकृष्ट, सरसहृदय काव्यपुरुष से सम्बन्ध[1] इन विभिन्न वृत्तियों का पृथक्-पृथक् भावनाओं की अभिव्यक्ति वाले रसों से सम्पृक्त होना स्पष्ट करता है।

प्रवृत्ति :-

प्रवृत्ति भिन्न देशों की वेष रचना[2] के वर्णन से सम्बद्ध होने के कारण दृश्यकाव्य अथवा नाट्य का परमोपयोगी तत्व है। सभी काव्यों का उद्देश्य दर्शकों तथा श्रोताओं के हृदय में रसोन्मीलन करना ही है। अतः दृश्यकाव्यों में पात्रों के देश के अनुकूल ही उनका वेष दिखलाना उचित है। अनुचित वेषभूषा तथा अनुचित मञ्च-रचना दृश्य काव्य के दर्शकों के लिए रस प्रतीति में बाधक बन जाती है। नाट्य में वेष रचना के औचित्य की अनिवार्यता के कारण भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में प्रवृत्ति का विस्तृत विवेचन प्राप्त हुआ, किन्तु काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में प्रवृत्ति का उल्लेख काव्यमीमांसा में ही प्राप्त होता है, इसका कारण यही है कि कवि शिक्षक के रूप में प्रतिष्ठित आचार्य राजशेखर कवियों को विभिन्न देशों की वेष रचना से परिचित कराने के अभिलाषी थे। उनका प्रवृत्ति विवेचन नाट्य शास्त्र पर ही पूर्णतः आधारित है। विभिन्न प्रान्तीय वेष भूषाओं के समग्र निर्देश हेतु भरत ने चार प्रकार की प्रवृत्तियों को स्वीकार किया है।[3] नाट्य शास्त्र में पूर्व देश की औड्रमागधी प्रवृत्ति, पाञ्चाल देश की पाञ्चाल मध्यमा, अवन्ति देश की आवन्ती तथा दक्षिण देश की दक्षिणात्या प्रवृत्ति का उल्लेख है। काव्यमीमांसा में भी इन देशों की यही

---

1. यदृच्छयापि यादृङ्नेपथ्यः स सारस्वतेय आसीत्------------
   यदपरं नृत्तवाद्यादिकमेषा चक्रे सा भारती वृत्तिः ------------
   किञ्चिदार्द्रितमना यन्नेपथ्यः स सारस्वतेय आसीदिति---------- सापि यदीषन्नृत्तगीतवाद्यविलासादिकं दर्शयाम्बभूव सा सात्त्वती वृत्तिः।---------------
   तामनुरक्तमनाः स यन्नेपथ्यः सारस्वतेय आसीदिति ------ सापि यद्विचित्रनृत्तगीतवाद्यक्लिासादिकमाविर्भावयामास सा कैशिकी वृत्तिः' काव्यमीमांसा - (तृतीय अध्याय)
2. 'पृथिव्यां नानादेशवेषभाषाचारवार्ताः ख्यापयतीति प्रवृत्तिः' नाट्यशास्त्र (त्रयोदश अध्याय)
3. चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्य-प्रयोक्तृभिः आवन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली चोड्रमागधी । 37 ।
   (नाट्यशास्त्र - त्रयोदश अध्याय)

प्रवृत्तियाँ वर्णित हैं। आचार्य राजशेखर द्वारा किया गया भारत का चार भागों में विभाग तथा विभिन्न भागों के जनपदों के नाम नाट्य शास्त्र पर ही आधारित हैं यथा पूर्व देश के अङ्ग, बङ्ग, पुण्ड्र; पाञ्चाल देश के पाञ्चाल, शूरसेन, हस्तिनापुर, काश्मीर, वाहीक; अवन्ति देश के अवन्ती, वैदिश, सुराष्ट्र, मालव, अर्बुद; दक्षिण देश के मलय, मेकल, पाल, मञ्जर तथा महाराष्ट्र आदि जनपद इसी प्रकार नाट्य शास्त्र में भी उल्लिखित हैं। किन्तु आचार्य राजशेखर द्वारा किए गए प्रवृत्ति विवेचन में भारत के चार विभागों के कुछ ऐसे जनपदों का भी नाम लिया गया है, जिनका उल्लेख नाट्यशास्त्र के प्रवृत्ति विवेचन में नहीं है। यथा पूर्वदेश के सुह्म तथा ब्रह्म जनपद, पाञ्चाल देश के बाह्लीक तथा बाह्वलेय जनपद, अवन्ति देश का भृगुकच्छ जनपद तथा दक्षिण देशों के कुन्तल, केरल और वङ्ग देशों का नाट्यशास्त्र में उल्लेख नहीं है। अत: आचार्य राजशेखर का प्रवृत्ति, वृत्ति विवेचन नाट्यशास्त्र पर आधारित अवश्य है, किन्तु उनका भारत के विभिन्न भागों तथा जनपदों का विभाजन अपने समय के देश विभाजन से प्रभावित प्रतीत होता है।

काव्यमीमांसा में काव्यपुरुष के आकर्षण हेतु साहित्यविद्यावधू द्वारा स्वीकृत वेष-विन्यास प्रवृत्ति है।[1] विभिन्न देशों की स्त्रियों की तात्कालिक वेषभूषा इस ग्रन्थ में प्रस्तुत श्लोकों से आंशिक रूप से ज्ञात होती है। पुरुषों की वेषभूषा का स्वरूप श्लोकों में उल्लिखित नहीं है।

पूर्वदेश की औड्रमागधी प्रवृत्ति :-

इस वेष विन्यास में स्त्रियाँ उत्तरीय वस्त्र इस प्रकार धारण करती थीं कि घूँघट मस्तक का चुम्बन करते थे तथा बाहुमूल का स्पष्ट प्रदर्शन होता था। अगुरू और सुगन्धित द्रव्य की धूल, चन्दन का लेप, गले से लटकने वाले हार इस वेष के अन्य वैशिष्ट्य थे। पुरुषों का वेष वर्णित न होने पर भी काव्यपुरुष की दशा से अनुमान लगाया जा सकता है कि पुरुषों का वेष कुछ भी धारण करने वाला

---

1. 'वेषविन्यासक्रम: प्रवृत्ति:' काव्यमीमांसा - (तृतीय अध्याय)

अव्यवस्थित सा रहा होगा।[1] वस्तुत: पूर्व देश की समस्त वेष रचना अव्यवस्थित तथा सतर्कता से रहित प्रतीत होती है।

मध्यदेश या पाञ्चाल देश की पाञ्चालमध्यमा प्रवृत्ति :-

इस वेष विन्यास में स्त्रियाँ कमर से घुटनों तक लहराते घाघरे पहनती थीं। कपोल तक लम्बे कर्णाभरण तथा नाभि तक लटकते मुक्ताहार स्त्रियों को विशेष रूप से प्रिय थे, किन्तु पुरुषों के वेष में परिवर्तन न होने का संकेत काव्य पुरुष की स्थिति से मिलता है।[2]

दक्षिण देश की दाक्षिणात्या प्रवृत्ति :-

इस वेष रचना में स्त्रियाँ भुजाओं के नीचे से कसकर साड़ियाँ बाँधती थीं। सुन्दर केश बन्धन तथा घुंघराली लटों से ललित ललाट इस वेष के वैशिष्ट्य थे। यदि काव्यपुरुष को पुरुष का प्रतीक स्वीकार करें तो सरसहृदय काव्यपुरुप दक्षिण देश के तत्कालीन पुरुषों के सुन्दर, व्यवस्थित वेष विन्यास की सूचना देता हुआ परिलक्षित होगा।[3]

नवीन कवियों को पात्रों की वेषभूषा से सम्बद्ध कुछ अन्य सूचनाएँ भी काव्यमीमांसा से प्राप्त होती हैं, जो इस ग्रन्थ का अपना ही वैशिष्ट्य है। देश अनन्त होने पर भी कवि को प्रवृत्ति, वृत्ति के सम्बन्ध में उनका चार ही विभाग करना चाहिए। चक्रवर्तिक्षेत्र ही चार भागों में विभक्त है। अपने देश की

---

1 'आर्द्रार्द्रचन्दनकुचार्पितसूत्रहार: सीमन्तचुम्बिसिचय: स्फुटबाहुमूल: दूर्वाप्रकाण्डरुचिरास्वगुरुपभोगाद् गौडाङ्गनासु चिरमेष चकास्तु वेष:'
''यदृच्छयाऽपि यादृङ्नेपथ्य: स सारस्वतेय आसीत्--------' काव्यमीमांसा - (तृतीय अध्याय)

2 'ताडङ्कवल्गनतरङ्गितगण्डलेखमानाभिलम्बिदरदोलिततारहारम्। आश्रोणिगुल्फपरिमण्डलितान्तरीयम् वेषं नमस्यत महोदयसुन्दरीणाम्'
'किञ्चिदार्द्रितमना यन्नेपथ्य: स सारस्वतेय आसीत्--------' काव्यमीमांसा - (तृतीय अध्याय)

3 'आमूलतो वलितकुन्तलचारुचूडश्चूर्णालकप्रचयलाञ्छितभालभाग:।
कक्षानिवेशनिबिडीकृतनीविरेष वेषश्चिरं जयति केरलकामिनीनाम्'
'तामनुरक्तमना: स यन्नेपथ्य: सारस्वतेय आसीद्-------'' काव्यमीमांसा - (तृतीय अध्याय)

वेषभूषा के वर्णन में कवि को किञ्चित् अंश में इच्छा की स्वतन्त्रता उपलब्ध हो सकती है, किन्तु यदि कवि दूसरे द्वीपों का वर्णन करे तो उसे उनका वेष विन्यास अवश्य जानना चाहिए। इसी प्रकार दिव्यदेश के वर्णन में उनकी वेषभूषा के वर्णन का ही औचित्य है। औचित्य के प्रति सावधान होना कवि का परम कर्तव्य है।

(घ) काकु एवम् काव्यपाठ :-

शुद्ध, सुन्दर उच्चारण को काव्य रचना के समान ही महत्व देना आचार्य राजशेखर की विशेषता है। तत्कालीन समाज में काव्य-गोष्ठियों की अधिकता तथा इन गोष्ठियों में उपस्थित होने वाले कवि के लिए शुद्धतायुक्त, मनोहारी उच्चारण की आवश्यकता ने आचार्य को 'काव्यमीमांसा' में 'काकु' एवम् 'काव्यपाठ' की विवेचना के लिए प्रेरित किया होगा।

आचार्य राजशेखर के पूर्व की गई काकु विवेचना में सर्वप्रथम भरतमुनि के नाट्यशास्त्र का उल्लेख आवश्यक है। नाट्य में उच्चारण का विशेष महत्त्व है। आचार्य भरत ने दो प्रकार की काकु को पाठ्यगुण के अन्तर्गत स्वीकार किया है। सात स्वर, तीन स्थान, चार वर्ण, दो प्रकार की काकु, ६, अलङ्कार, ६ अङ्ग पाठ्यगुण हैं। काकु में स्वर ही उपकारी हैं, इस स्वर के साधन स्थानादि हैं। काकुभूत स्वर का प्रवर्तन 'उर:, कण्ठ: शिर:' इन तीन स्थानों से ही होता है।[1] नाट्यशास्त्र एवम् उसकी अभिनवगुप्त की वृत्ति से काकु का स्पष्ट स्वरूप हमारे सम्मुख उपस्थित होता है। एक ही वाक्य विविध मानसिक भावों—हर्ष, शोक, भय, आश्चर्य, क्रोध, द्वेष आदि के कारण विभिन्न ध्वनियों में बोला जाता है। उच्चारण की यह विशेष ध्वनि ही काकु है। काकु शब्द की व्युत्पत्ति 'कक् लौल्ये' धातु से हुई है।

---

1 'पाठ्यगुणानिदानीं वक्ष्याम: तद्यथा सप्तस्वरा:, त्रीणि स्थानानि, चत्वारो वर्णा: द्विविधा काकु:, षडलङ्कारा:, षडङ्गानीति,
'इह काकुषु स्वरा एव वस्तुत उपकारिण:' — नाट्यशास्त्र, सप्तदश अध्याय, पृष्ठ - 385
'शारीर्यामथ वीणायां त्रिभ्य: स्थानेभ्य: एव उरस: शिरस: कण्ठात् स्वर: काकु: प्रवर्तते। ।106।
नाट्यशास्त्र - सप्दश अध्याय, पृष्ठ 388

साकाङ्क्ष या निराकाङ्क्ष रूप में विशेष प्रकार से बोला जाने वाला काकु युक्त वाक्य प्रकृत वाच्यार्थ से अतिरिक्त अन्य अर्थ की भी आकाङ्क्षा करता है—यही उसका लौल्य है। इसी के कारण इसको काकु कहते हैं। काकु अथवा जिह्वा के व्यापार से सम्पादित होना भी इसके 'काकु' कहलाने का कारण है।[1]

अभिनय में काकु का मुख्य उपयोग भरतमुनि के द्वारा स्वीकार किया गया है। पठित अर्थ काकु के द्वारा ही अभिनयत्व प्राप्त करता है। उच्च, दीप्त आदि अलङ्कारों में काकु से ही व्यवहार होता है। विच्छेद आदि अङ्ग रस, अर्थ और शोभादि को पोषित करने के लिए काकु के ही उपकारी हैं।[2]

भाव तथा रसों के अनुकूल ही काकु के प्रयोग का औचित्य है। हास्य, शृंङ्गार, करुण में विलम्बित काकु वीर, रौद्र में उच्च तथा दीप्त काकु, भयानक तथा वीभत्स में द्रुत तथा नीच काकु अभिवाञ्छित होती है।[3]

भरतमुनि के परवर्ती विभिन्न काव्यशास्त्रियों ने काकु को वक्रोक्ति अलङ्कार के एक भेद के रूप में स्वीकार किया। आचार्य भामह ने वक्रोक्ति को अलङ्कारों का जीवन, वामन ने अर्थालङ्कार तथा रुद्रट ने शब्दालङ्कार स्वीकार किया है। स्पष्ट रूप में उच्चारण किए गए स्वर के वैशिष्ट्य के कारण जहाँ दूसरे अर्थ की स्फुट प्रतीति हो, उसे आचार्य रुद्रट काकु वक्रोक्ति अलङ्कार कहते हैं।[4] बाद में आचार्य विश्वनाथ ने भी काकु को इसी रूप में स्वीकार किया।

---

1 'कक् लौल्ये, लौल्यं च साकांक्षते यथा स्वरवैचित्र्यं लक्ष्यते, ईषद्यतो वाच्यभूमिः संपद्यते सा काकुः, ईषदर्थे कुशब्दस्य कादेशः। काकुर्वा जिह्वा तद्व्यापारसंपाद्यत्वात् काकुः' पृष्ठ - 389

नाट्यशास्त्र, सप्तदश अध्याय, अभिनवगुप्त की वृत्ति

2. अथाङ्गानि—षट्—विच्छेदोऽर्पणम्, विसर्गोऽनुबन्धो दीपनम् प्रशमनमिति।---------एषां च रसगतः प्रयोगः।

नाट्य शास्त्र—सप्तदश अध्याय

3 हास्यशृंङ्गारकरुणेष्विष्टा काकुर्विलम्बिता वीररौद्राद्भुतेषूच्चा दीप्ता वापि प्रशस्यते ।128।
भयानके सबीभत्से द्रुता नीचा च कीर्तिता एवं भावरसोपेता काकुः कार्या प्रयोक्तृभिः ।129।

नाट्य शास्त्र - सप्तदश अध्याय

4 'काकुर्वक्रोक्तिर्नाम शब्दाऽलङ्कारोऽयम्' (काव्यालङ्कार - रुद्रट) (2-16)

आचार्य राजशेखर के पूर्ववर्ती तथा ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार करने वाले आचार्य आनन्दवर्धन का काकु के सम्बन्ध में भिन्न विचार है। वह काकु के उदाहरणों को गुणीभूतव्यङ्ग्य के रूप में स्वीकार करते हैं। काकु के प्रयोग में प्रतीयमान व्यङ्ग्य भी सदा शब्द से स्पृष्ट होने से गुणीभूत ही रहता है, वह ध्वनि नहीं होता।[1]

अपनी काकुविवेचना में आचार्य राजशेखर काकु को पाठ्यगुण के अन्तर्गत स्वीकार करने वाले भरतमुनि का अनुकरण करते हैं। आचार्य रुद्रट के मत का विरोध करते हुए वे काकु को अलङ्कार न मानकर 'अभिप्रायवान् पाठधर्म' स्वीकार करते हैं। मानुष वाक्यों के तीन रीतियों के अनुसार तीन प्रकारों को अनेक प्रकार का बनाने की सामर्थ्य काकु में है।[2] आचार्य राजशेखर स्वीकार करते हैं कि काकु का महत्व शास्त्रों में भी है। वेदमन्त्रों में भी ऐसे उदाहरण हैं, जहाँ स्वर विशेष के स्वल्प परिवर्तन से अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, किन्तु काव्य में तो अभिप्राययुक्त पाठ के महत्व को अस्वीकार करना सम्भव नहीं है। काव्य का तो काकु जीवन ही है।[3] वक्रोक्ति सम्प्रदाय के जनक आचार्य कुन्तक वक्रोक्ति को अलङ्कार न मानकर उसको काव्य का मूल तत्व मानते हैं। आचार्य राजशेखर उनसे पूर्व काकु के लिए इन्हीं वचनों का प्रयोग कर चुके थे। महिमभट्ट वाचिक अभिनय से सम्बद्ध काकु को रसाभिव्यक्ति का हेतु स्वीकार करते थे।[4]

---

1 अर्थान्तरगतिः काक्वा या चैषा परिदृश्यते। सा व्यङ्ग्यस्य गुणीभावे प्रकारमिममाश्रिता ।39।

ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत

2. 'अभिप्रायवान् पाठधर्मः काकुः'

'रीतिरूपं वाक्यत्रितयं काकुः पुनरनेकयति' काव्यमीमांसा - (सप्तम अध्याय)

3. 'अयं काकुकृतो लोके व्यवहारो न केवलम् शास्त्रेष्वप्यस्य साम्राज्यं काव्यस्याप्येष जीवितम्'

काव्यमीमांसा - (सप्तम अध्याय)

4. यतः समासो वृत्तं च वृत्तयः काकवस्तथा वाचिकाभिनयात्मत्वाद्रसाभिव्यक्तिहेतवः ।19।

व्यक्ति विवेक - द्वितीय विमर्श

आचार्य राजशेखर के परवर्ती आचार्य उनके विचारों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। आचार्य भोजराज ने तो काकु को अलङ्कार मानने वाले और पाठ्यगुण मानने वाले विचारों में समन्वय करने का प्रयत्न किया। वे अर्थ विशेष की प्रतीति के लिए किए जाने वाले काव्य पाठ को 'पठिति' कहते हैं। इस 'पठिति' को वे शब्दालङ्कारजातियों के 24 भेदों के अन्तर्गत स्वीकार करते हुए 'काकु' को इसके ही ६ प्रकारों में से एक बताते हैं।[1]

आचार्य राजशेखर के परवर्ती आचार्य हेमचन्द्र श्लेष वक्रोक्ति को अलङ्कार मानकर भी काकु को पाठधर्म ही कहते हैं।[2]

काकु प्रयोग का विभिन्न काव्य गोष्ठियों में अनुभव करने वाले आचार्य राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में यह भी उल्लेख किया है कि काकु प्रयोग के स्थान काव्य में अधिकांशतः निश्चित ही होते हैं—जैसे सखी के, नायिका के, सखी और नायिका के अथवा बहुत सी नायिकाओं अथवा सखियों के वाक्यों में।[3]

काकु प्रकार :-

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में वर्णित साकाङ्क्ष तथा निराकाङ्क्ष काकु भेदों[4] के अनुकरण पर ही 'काव्यमीमांसा' में काकु के दो प्रकारों का उल्लेख है। एक ही वाक्य काकु ध्वनि विशेष से साकाङ्क्ष

---

1. जातिर्गती-------------पठितिर्यमकानि च ------------- चतुर्विंशतिरित्युक्ता शब्दालङ्कारजातयः ।5।

सरस्वतीकण्ठाभरण - द्वितीय परिच्छेद

'काकुस्वर पदच्छेदभेदाभिनयकान्तिभिः पाठो योऽर्थविशेषाय पठितिः सेह षड्विधा ।56।

सरस्वतीकण्ठाभरण - द्वितीय परिच्छेद

2 'काकुवक्रोक्तिस्त्वलङ्कारत्वेन न वाच्या। पाठधर्मत्वात्' (पञ्चम अध्याय)

काव्यानुशासन (हेमचन्द्र)

3 'सख्या वा नायिकाया वा सखीनायिकयोरथ सखीनां भूयसीनां वा वाक्ये काकुरिह स्थिता'

काव्यमीमांसा - (सप्तम अध्याय)

4. द्विविधा काकुः साकाङ्क्षा निराकाङ्क्षा चेति वाक्यस्य साकाङ्क्षनिराकाङ्क्षत्वात्।

अनियुक्तार्थकं वाक्यं साकाङ्क्षमिति संज्ञितम्। नियुक्तार्थकंतु यद्वाक्यं निराकाङ्क्षं तदुच्यते ।111।

नाट्यशास्त्र - सप्तदश अध्याय

तथा निराकाङ्क्ष दो प्रकार का होता है। दूसरे वाक्य की आकाङ्क्षा होने पर साकाङ्क्षा तथा वाक्य का उत्तर उपस्थित हो जाने पर निराकाङ्क्षा काकु होती है। साकाङ्क्षा के तीन प्रकार आक्षेपगर्भा, प्रश्नगर्भा और वितर्कगर्भा हैं तथा निराकाङ्क्षा के तीन प्रकार विधिरूपा, उत्तररूपा तथा निर्णयरूपा हैं।[1] साकाङ्क्षा की आक्षेपगर्भा निर्देश देने वाले का वाक्य होने पर निराकाङ्क्षा की विधिरूपा, साकाङ्क्षा की प्रश्नगर्भा उपदेश देने वाले का वाक्य होने निराकाङ्क्षा की उत्तररूपा, तथा साकाङ्क्षा की वितर्कगर्भा उपदेश देने वाले का वाक्य होने पर पर निराकाङ्क्षा की निर्णय रूपा में परिवर्तित हो जाती है। इस साकाङ्क्षा तथा निराकाङ्क्षा काकु भेद को आचार्य राजशेखर ने नियमनियन्त्रित काकु रूप में उल्लिखित किया है। तीन चार प्रकार की काकु का योग आचार्य राजशेखर द्वारा वर्णित अनियन्त्रित काकु है जिसके अनन्त भेद है।[2] इस अनियन्त्रित काकु के दो भेद काव्यमीमांसा में वर्णित हैं— 'अभ्युपगमानुनय' तथा 'अभ्यनुज्ञोपहास' इनका नाम ही इनके अन्तर्गत मिश्रित भावों को प्रकट करने में सक्षम है।

काव्यमीमांसा में काव्यपाठ विवेचन

विभिन्न राजसभाओं तथा विद्वद्-गोष्ठियों में उपस्थित रहकर आचार्य राजशेखर ने काव्यपाठ की सूक्ष्म से सूक्ष्म विशेषताओं पर दृष्टि रखी थी तथा महाकवि तथा कविराज की उपाधियों से अलङ्कृत वे स्वयम् काव्यपाठ में पारङ्गत थे। तत्कालीन समाज में कवि के काव्य का प्रचार भी विद्वद्गोष्ठियों के द्वारा ही होता था। श्रेष्ठ काव्य का मूल्याङ्कन राजसभाओं में विद्वानों के समक्ष ही होता था। अत: काव्यपाठ का विशिष्ट गुणों से युक्त होना अनिवार्य था, अन्यथा विद्वानों के समक्ष श्रेष्ठकाव्य भी अपना प्रभाव छोड़ने में असमर्थ हो सकता था। उत्तम पाठ काव्य को सर्वग्राह्य बना सकता था। कवि के लिए महत्वपूर्ण सूचनाओं की निधि के रूप में उपस्थित 'काव्यमीमांसा' इसी कारण एक ओर कवि को

---

1 'सा च द्विधा साकाङ्क्षा निराकाङ्क्षा च। वाक्यान्तराकाङ्क्षिणी साकाङ्क्षा, वाक्योत्तरभाविनी निराकाङ्क्षा।------- आक्षेपगर्भा, प्रश्नगर्भा वितर्कगर्भा चेति साकाङ्क्षा । विधिरूपा उत्तररूपा निर्णयरूपेति निराकाङ्क्षा'

काव्यमीमांसा - (सप्तम अध्याय)

2. 'ता इमास्तिस्त्रोऽपि नियतनिबन्धा:। तद्विपरीता: पुनरनन्ता:' काव्यमीमांसा - (सप्तम अध्याय)

उत्तम पाठ के गुणों से परिचित कराकर अपना काव्यपाठ संवारने का निर्देश देती है, तो दूसरी ओर तत्कालीन विभिन्न भाषाओं तथा विभिन्न देशों के काव्यपाठ की विशेषता से भी परिचित कराती है।

नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत मुनि ने पाठ्यगुणों को प्रस्तुत किया था, क्योंकि नाट्याभिनय को उत्तम पाठ ही सरस बनाकर प्रस्तुत कर सकता था। सात स्वर, तीन स्थान, चार वर्ण, द्विविध काकु, षड् अलंकार और षड् अंग 'नाट्यशास्त्र' में पाठ्यगुणों के रूप में वर्णित हैं।[1] षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद सात स्वर हैं।

उर, कण्ठ, शिर—तीन स्थान हैं। काकु साकाङ्क्ष तथा निराकाङ्क्ष दो प्रकार की है।

उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और कम्पित चार वर्ण हैं।

उच्च, दीप्त, मन्द्र, नीच, द्रुत और विलम्बित अलङ्कार हैं। विच्छेद, अर्पण, विसर्ग, अनुबन्ध, दीपन और प्रशमन पाठ्य के षड् अङ्ग है। इन सभी का प्रयोग रसानुसार होना चाहिए। 'काव्यमीमांसा' में भी इन सभी गुणों से युक्त पाठ ही उत्तम पाठ है। आचार्य राजशेखर ने स्वीकार किया है उत्तम पाठ ललित स्वर से, काकु से युक्त, सुस्पष्ट, अर्थानुसार विराम सहित, गम्भीर, ऊँचे नीचे स्वर का भली प्रकार निर्वाह करते हुए, संयुक्ताक्षरों में लावण्य सहित, विभक्तियों की, समास की तथा पदों की सन्धियों की

---

1. पाठ्यगुणानिदानीं वक्ष्यामः - तद्यथा सप्तस्वराः त्रीणि स्थानानि चत्वारो वर्णाः द्विविधा काकुः षडलङ्काराः षडङ्गानीति।
सप्तस्वरा नाम—षड्जर्षभ गान्धारमध्यमपञ्चम धैवतनिषादाः त एते रसेषूपपाद्याः।
त्रीणि स्थानानि उरः कण्ठः शिरः इति। ।106।
उदात्तानुदात्तश्च स्वरित कम्पितस्तथा वर्णाश्चत्वारः एव स्युः पाठ्यप्रयोगे तपोधनाः
द्विविधा काकुः साकाङ्क्षा निराकाङ्क्षा चेति वाक्यस्य साकाङ्क्षनिराकाङ्क्षत्वात् ।111।
उच्चो दीप्तश्च मन्द्रश्च नीचो द्रुतविलम्बितौ पाठ्यस्यैते ह्यलङ्कारा लक्षणं च निबोधत ।113।
अथाङ्गानि षट्—विच्छेदोऽर्पणं विसर्गोऽनुबन्धो दीपनम् प्रशमनमिति।
तत्र विच्छेदो नाम विरामकृतः। अर्पणं नाम—लीलायमान-मधुरवल्गुना स्वरेण पूरयतेव रङ्ग यत्पठ्यते तदर्पणम्। विसर्गो नाम वाक्यन्यासः। अनुबन्धो नाम पदान्तरेष्वपि विच्छेदः अनुच्छ्वसनं वा। दीपनं नाम त्रिस्थानशोभि वर्धमानस्वरं चेति। प्रशमनं नाम तारगतानां स्वराणाम् प्रशाम्यतामवैस्वर्येणावतारणमिति। एषां च रसगतः प्रयोगः।

नाट्यशास्त्र - (भरतमुनि) (सप्तदश अध्याय)

स्पष्ट प्रतीति कराते हुए तथा क्रियापदों का स्पष्ट रूप से उच्चारण करते हुए होना चाहिए।[1] उत्तम पाठ के इन सभी वैशिष्ट्यों का उद्येश्य काव्यबन्ध के भाव का सुस्पष्ट, चमत्कारी तथा सरस रूप में प्रस्तुतीकरण है। उत्तम पाठ का गुण सरस्वती की कृपा से प्राप्त होता है।[2]

'काव्यमीमांसा' में काव्यपाठ करने के लिए तत्पर कवि को यह निर्देश भी दिया गया है उसका काव्यपाठ काव्य के गुणों के वैशिष्ट्य पर भी आधारित होना चाहिए। यथा प्रसाद गुण वाली कविता गम्भीरता से, ओजोमयी कविता उच्च स्वर से एवम् उभयगुण वाली रचना आवश्यकतानुसार गम्भीर और उच्च स्वर से पढ़ी जानी चाहिए।[3]

वर्णों के पाँच स्थानों—स्वर, काल, स्थान, प्रयत्न और अनुप्रदान—से उत्पन्न वर्णों का समुचित रूप से उच्चारण तथा अर्थ के अनुरोध से विराम उत्तम पाठ का रहस्य है।[4]

'काव्यमीमांसा' में वर्णित उत्तम पाठ के गुण आज भी प्रासङ्गिक हैं। काव्यपाठ के गुणों को प्रस्तुत करने के साथ ही 'काव्यमीमांसा' काव्यपाठ के दोषों से भी परिचित कराती है, तथा काव्यपाठ

---

1 ललितं काकुसमन्वितमुज्ज्वलमर्थवशकृतपरिच्छेदं श्रुतिसुखविविक्तवर्णं कवयः पाठं प्रशंसन्ति॥
गम्भीरत्वमनैश्वर्यं निर्व्यूढिस्तारमन्द्रयोः।
संयुक्तवर्णलावण्यमिति पाठगुणाः स्मृताः॥
यथा व्याघ्री हरेत्पुत्रान्दंष्ट्राभिश्च न पीडयेत्।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद्वर्णान्प्रयोजयेत्॥
विभक्तयः स्फुटा यत्र समासश्चाकदर्थितः।
अम्लानः पदसन्धिश्च तत्र पाठः प्रतिष्ठितः॥
न व्यस्तपदयोरैक्यं न भिदां तु समस्तयोः।
न चाख्यातपदम्लानिं विदधीत सुधीः पठन्॥ काव्यमीमांसा - (सप्तम अध्याय)

2 पठितुं वेत्ति स परं यस्य सिद्धा सरस्वती काव्यमीमांसा- (सप्तम अध्याय)

3 प्रसन्ने मन्द्रयेद्वाचं तारयेत्तद्विरोधिनि।
मन्द्रतारौ च रचयेन्निर्वाहिणि यथोत्तरम्॥ काव्यमीमांसा- (सप्तम अध्याय)

4. पञ्चस्थानसमुद्भववर्णेषु यथास्वरूपनिर्ष्पत्ति अर्थवशेन च विरतिः सर्वस्वमिदं हि पाठस्य॥
काव्यमीमांसा- (सप्तम अध्याय)

करने वाले कवि को अवधानपूर्वक उनसे दूर रहने का निर्देश देती है। यथा अतिशीघ्र, अतिविलम्ब से, बहुत जोर से चिल्लाकर, अतिमन्द स्वर से बिना पदच्छेद किए हुए अतिमृदुता अथवा अतिकठोरता से काव्यपाठ नहीं किया जाना चाहिए। पृथक्-पृथक् पदों को मिलाकर तथा समस्त पदों को पृथक् करके पढ़ना भी काव्यपाठ को सदोष बना देता है।[1] यह सभी दोष काव्यभाव की सरसता के प्रस्तुतीकरण में बाधक बन जाते हैं। आचार्य राजशेखर संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश सभी भाषाओं के काव्यपाठ का लालित्ययुक्त होना अनिवार्य मानते थे। विद्वानों के काव्यपाठ में ऐसा वैशिष्ट्य होना चाहिए कि वह विद्वानों के साथ-साथ साधारणजन को भी कर्णमधुर प्रतीत हो।[2]

अपने यायावर स्वरूप से विभिन्न स्थानों में भ्रमण करते हुए आचार्य राजशेखर प्रत्येक स्थान के काव्यपाठ की विधि तथा वैशिष्ट्य, गुण तथा दोषों से सम्यक् परिचित हो चुके थे। अत: उनकी 'काव्यमीमांसा' तत्कालीन भाषा प्रयोग तथा विभिन्न प्रान्तों के काव्यपाठ की विशेषताओं पर पर्याप्त प्रकाश डालती है।

मगध, गौड, लाट, सुराष्ट्र, कर्णाट, द्रविड, काश्मीर, उत्तरापथ और पाञ्चाल आदि स्थानों के काव्यपाठ की विशेषताएँ 'काव्यमीमांसा' में वर्णित हैं।[3]

---

1. अतितूर्णमतिविलम्बितमुल्बणनादं च नादहीनं च।
   अपदच्छिन्नमनावृत्तमतिमृदुपरूषं च निन्दति॥ काव्यमीमांसा- (सप्तम अध्याय)
2. आगोपालकमायोषिदास्तामेतस्य लेह्यता इत्थं कवि: पठन्काव्यं वाग्देव्या अतिवल्लभ: येऽपि शब्दविदो नैव नैव चार्थविचक्षणा:। तेषामपि सतां पाठ: सुष्ठु कर्णरसायनम्। काव्यमीमांसा- (सप्तम अध्याय)
3. काव्यमीमांसा (सप्तम अध्याय) में वर्णित विभिन्न देशों के पाठ :—
   मगध :- पठन्ति संस्कृत सुष्ठु कुण्ठा: प्राकृतवाचि ते। वाराणसीत: पूर्वेण ये केचिन्मगधादय:॥
   लाटदेश :- पठन्ति लटभं लाटा: प्राकृतं संस्कृतद्विष: जिह्वया ललितोल्लापलब्धसौन्दर्यमुद्रया॥
   सुराष्ट्र त्रवणादि :- सुराष्ट्रत्रवणाद्या ये पठन्त्यर्पितसौष्ठवम्। अप्रभ्रंशावदंशानि ते संस्कृतवचांस्यपि॥
   कर्णाट देश :- रस: कोऽप्यस्तु काप्यस्तु रीति: कोऽप्यस्तु वा गुण:।
   सगर्व'सर्वकर्णाटाष्टङ्कारोत्तरपाठिन:॥
   द्रविण देश :- गद्ये पद्येऽथवा मिश्रे काव्ये काव्यमना अपि। गेयगर्भे स्थित: पाठे सर्वोऽपि द्रविड: कवि:॥
   काश्मीर :- शारदाया: प्रसादेन काश्मीर: सुकविर्जन:। कर्णे गुडूचीगण्डूषस्तेषां पाठक्रम: किमु॥
   उत्तरापथ :- तत: पुरस्तात्कवयो ये भवन्त्युत्तरापथे। ते महत्यपि संस्कारे सानुनासिकपाठिन:॥

मगध के कवि संस्कृत का सुन्दर काव्यपाठ करते थे किन्तु प्राकृत काव्यपाठ में कुण्ठित हो जाते थे। लाट देश के कवि प्राकृत का तो ललित उच्चारण सहित सुन्दर पाठ करते थे, किन्तु उनका संस्कृत काव्यपाठ उत्तम नहीं था। सुराष्ट्र, त्रवण आदि देशों के कवि संस्कृत तथा अपभ्रंश दोनों का सुन्दर, स्पष्ट काव्यपाठ करते थे। कर्णाट देशवासी प्रत्येक रस, रीति अथवा गुण में अत्यन्त स्पष्ट किन्तु टनटनाहट के साथ काव्यपाठ करते थे। द्रविड देशवासी काव्यमर्मज्ञ तो थे, किन्तु गद्य, पद्य तथा मिश्र सभी का गाकर पाठ करते थे। सरस्वती के कृपापात्र होने पर भी काश्मीर के कवि अतिशय कर्णकटु काव्यपाठ करते थे। उत्तरापथ के कवि व्याकरण शास्त्र के ज्ञाता होने पर भी सानुनासिक पाठ करते थे। आचार्य राजशेखर ने गौड देश वासियों के काव्यपाठ को मध्यमकोटि का माना था[1] क्योंकि उनके पाठ का वैशिष्ट्य था न अति स्पष्ट, न अस्पष्ट, न रूक्ष न अतिकोमल, न अति उच्च स्वर न गम्भीर स्वर। किन्तु मध्यमकोटि का काव्यपाठ करने वाले यह गौडदेशवासी भी प्राकृत भाषा का कर्णकटु काव्य पाठ प्रस्तुत करते थे। अतः सरस्वती दुःखी थीं।[2]

आचार्य राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में सर्वाधिक प्रशंसा पाञ्चाल देश के कवियों के काव्यपाठ की प्रस्तुत की है। उनका पाठ अत्यन्त मधुर, नियमानुसार समुचित ध्वनि से सम्पूर्ण, वर्णों के स्पष्ट उच्चारण सहित तथा उचित स्थान पर विश्रामयुक्त होता था।[3] इस प्रकार आचार्य राजशेखर ने विभिन्न स्थानों के काव्यपाठ के दोषों का ही नहीं, उनके गुणों का भी सम्यक् निरीक्षण किया था।

---

1 नातिस्पष्टो न चाश्लिष्टो न रूक्षो नातिकोमलः। न मन्द्रो नातितारश्च पाठी गौडेषु वाडवः॥

काव्यमीमांसा - (सप्तम अध्याय)

2 आह स्म—

ब्रह्मन्विज्ञापयामि त्वां स्वाधिकारजिहासया। गौडस्त्यजतु वा गाथामन्या वाऽस्तु सरस्वती॥

काव्यमीमांसा - (सप्तम अध्याय)

3 मार्गानुगेन निनदेन निधिर्गुणानाम् सम्पूर्णवर्णरचनो यतिभिर्विभक्तः।

पाञ्चालमण्डलभुवां सुभगः कवीनाम् श्रोत्रे मधु क्षरति किञ्चन काव्यपाठः॥ काव्यमीमांसा - (सप्तम अध्याय)

कविशिक्षक के रूप में आचार्य राजशेखर ने कवि को केवल काव्यनिर्माण के विशद स्वरूप से ही परिचित नहीं कराया, बल्कि उसको काव्यपाठ के औचित्य अनौचित्य से परिचित कराकर विदग्धगोष्ठियों में पहुँचकर काव्यपाठ प्रस्तुत करते हुए महाकवि तथा कविराज के उच्च स्तर तक ले जाने में भी अपना योगदान किया।

तृतीय अध्याय
'काव्यमीमांसा' में काव्यहेतु तथा कविशिक्षा

काव्यमीमांसा में प्रतिभा एवम् व्युत्पत्ति का विस्तार—लौकिक जगत् के प्राणियों को अलौकिक आनन्द की पराकाष्ठा तक पहुँचाने वाले काव्य का सृष्टा 'कवि' कहलाता है। सरस्वती का महारहस्य काव्यरूप में ही कवि की वाणी द्वारा व्यक्त होता है। वाणी से प्रस्फुटित होने वाली यह काव्यरूप सरस्वती कवि की अलौकिक प्रतिभा विशेष को व्यक्त करती है, किन्तु अलौकिक आनन्ददायक काव्य का सृष्टा कवि काव्यसृजन कुछ हेतुओं द्वारा ही कर पाता है। अत: काव्यशास्त्र के प्राय: सभी आचार्यों ने काव्यनिर्माण की क्षमता के उत्पादक साधन के रूप में तीन अनिवार्य काव्यहेतुओं का अपने ग्रन्थों में विवेचन किया है।

इन काव्यहेतुओं के महत्व की दृष्टि से यदि विचार करें तो प्रतिभा अथवा शक्ति का सर्वोच्च स्थान सभी आचार्यों को स्वीकार है। फिर भी कवित्व की पराकाष्ठा उसे ही प्राप्त होती है जो प्रतिभा सम्पन्न है, शास्त्र और काव्यादि के ज्ञान द्वारा व्युत्पन्न है और जो सतत काव्यनिर्माण का अभ्यास भी करता है। इस प्रकार काव्य के तीनों हेतु समष्टि रूप से ही काव्य के कारण हैं, काव्यनिर्माण के लिए उनकी अनिवार्यता के विषय में प्राय: काव्यशास्त्र के सभी आचार्य एकमत हैं। श्रेष्ठ काव्य तो तीनों के सम्मिलन से ही निर्मित होता है। सौन्दर्यमय, सहृदयहृदयाह्लादक काव्य की रचना के लिए—जिसमें नीरस अंश का सर्वथा त्याग किया गया हो और केवल सरस अंश का ही ग्रहण किया गया हो—आचार्य रुद्रट तीनों काव्यहेतुओं की समष्टि को ही आवश्यक मानते हैं।[1]

आचार्य दण्डी, मम्मट और विद्याधर आदि आचार्य भी काव्यहेतुओं को सम्मिलित रूप में ही काव्य का कारण स्वीकार करते हैं, पृथक् रूप में नहीं। आचार्य दण्डी के ग्रन्थ में इस विषय में किञ्चित्

---

1. तस्यासारनिरासात्सारग्रहणाच्च चारुण: करणे त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यास:। (1/14) (काव्यालङ्कार—रुद्रट)

असामान्य विचार उपस्थित हुआ है यद्यपि वह तीनों हेतुओं की सम्मिलित अनिवार्यता तो स्वीकार करते हैं, किन्तु यदा कदा प्रतिभा के अभाव में भी व्युत्पत्ति और अभ्यास का महत्व स्वीकार करते हैं।[1]

इस विषय में आचार्य राजशेखर तीनों हेतुओं की समष्टि को स्वीकार तो करते हैं, किन्तु शक्ति और प्रतिभा को काव्यनिर्माण का परम कारण मानते हैं; तथापि उनके ग्रन्थ में व्युत्पत्ति और अभ्यास को जितना महत्व तथा विस्तार प्राप्त हुआ है, उतना उनके पूर्व अन्यत्र नहीं मिलता।

शक्ति एवम् प्रतिभा :-

निरन्तर प्रयत्न करने पर भी श्रेष्ठ कवित्व सभी के लिए सम्भव नहीं है। विभिन्न आचार्यों ने प्रयत्न से कवि बनने की सम्भावना को स्वीकार तो किया है, किन्तु कवि के काव्य में उसके प्रयास का प्रतिबिम्ब जब दिखाई देता है, तब काव्य सामान्य ही होता है, उत्तम कोटि का नहीं। श्रेष्ट काव्य में—उसके भाव तथा भाषा के अन्तिम स्वरूप में—केवल सरसता ही परिलक्षित होनी चाहिए, कवि का सश्रम प्रयास नहीं।

आचार्य राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में प्रतिभा को प्रर्याप्त विस्तार प्रदान किया है। प्रतिभा प्रत्येक स्थिति में काव्य का प्रत्यक्ष स्त्रोत है। कवि प्रतिभा के द्वारा ही काव्य की सृष्टि करता है तथा उन भावों तथा चित्रों की उद्‌भावना करता है जिन तक सामान्य जन की दृष्टि नहीं पहुँच पाती, साथ ही कवि की प्रतिभा वस्तु को लोकोत्तर सौन्दर्य से मंडित करने में भी सक्षम है। कवि में निहित काव्य की जन्मदात्री सामर्थ्य काव्यशास्त्रीय जगत् में शक्ति एवम् प्रतिभा शब्दों से अभिहित है। प्रतिभा अथवा कवित्वशक्ति नवीन कल्पनाओं, नवीन शब्दों, अर्थों से युक्त श्रेष्ठ मौलिक काव्य की रचना में कवि को समर्थ बनाती है। प्रतिभा से प्रभावित कल्पनाओं में नवीनता का समावेश अवश्य होता है, तथा काव्य के शब्द और अर्थ नवीन न होने पर भी नवीन से प्रतीत होते हैं। कवि प्रतिभा श्रेष्ठ काव्य के परम तत्व रस के अनुकूल ही शब्द, अर्थ, उक्ति आदि को कवि के हृदय में प्रतिभासित करती है।

---

1. नैसर्गिकी च प्रतिभाश्रुतञ्च बहुनिर्मलम् अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः (103)
न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभा(नम)द्‌भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवम् करोत्येव कमप्यनुग्रहम् (104) प्रथम परिच्छेद काव्यादर्श (दण्डी)

शक्ति एवम् प्रतिभा दोनों ही शब्दों का काव्यशास्त्र में पूर्ववासना एवम् जन्मान्तरीण संस्कार रूप कवित्वबीज के लिए प्रयोग हुआ है। आचार्य दण्डी एवम् वामन ने पूर्ववासना रूप कवित्वबीज के लिए प्रतिभा शब्द का प्रयोग किया है तथा मम्मट एवम् केशवमिश्र द्वारा कवित्व का बीजरूप पूर्वजन्म का विशेष संस्कार अथवा पुण्य शक्ति शब्द से अभिहित है। अतः शक्ति और प्रतिभा दो भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। विभिन्न आचार्यों जैसे रुद्रट, केशव मिश्र आदि ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है कि शक्ति को ही अन्य आचार्य प्रतिभा कहते है।

आचार्य भामह की दृष्टि में नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा जो त्रैकालिकी भी हो—प्रतिभा है। गुरू के उपदेश से शास्त्र के अध्ययन में तो जड़बुद्धि भी सफल हो जाता है किन्तु काव्योत्पत्ति के लिए प्रतिभा परम आवश्यक तत्व है।[1]

प्रतिभा तथा शक्ति आचार्य दण्डी द्वारा पर्याय रूप में स्वीकृत की गई हैं। पूर्वजन्म से उत्पन्न संस्कार ही नैसर्गिकी प्रतिभा अथवा शक्ति है।[2] यह प्रतिभा गुणानुबन्धि अर्थात् कवि की उत्कर्षाधायक, कवि को सुयशदात्री है। आचार्य वामन भी उस सामर्थ्य को—जिसके कारण काव्य बनता है 'प्रतिभान' कहते हैं।[3] यह कवित्वबीजरूप प्रतिभान पूर्वजन्म से प्राप्त वह संस्कार है जिसके बिना काव्यरचना या तो हो ही नहीं सकती, यदि होती है तो उपहासयोग्य ही होती है।

भामह, दण्डी, वामन आदि आचार्यों में से किसी ने भी शब्द, अर्थ के मानसिक स्फुरण रूप सामर्थ्य का वर्णन नहीं किया है। उन्होंने केवल एक ही सामर्थ्य को कवित्व का बीजरूप संस्कार

---

1 गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम् काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः॥ 1-5॥
काव्यालङ्कार (भामह) प्रथम परिच्छेद

इसी संदर्भ में **प्रतिभा का स्पष्टीकरण**
'स्मृतिर्व्यतीतविषया मतिरागामिगोचरा, बुद्धिस्तात्कालिकी प्रोक्ता, प्रज्ञा त्रैकालिकी मता। प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनीम् प्रतिभां विदुः॥
काव्यालङ्कार (भामह) प्रथम परिच्छेद

2 न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्। श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्।104।
[काव्यादर्श (दण्डी) प्रथम परिच्छेद]

3. कवित्वबीजं प्रतिभानम् (1-3-16)
कवित्वस्य बीजं कवित्वबीजम्। जन्मान्तरागत संस्कारविशेषः कश्चित्। यस्माद्विना काव्यं न निष्पद्यते, निष्पन्नं वा हास्यायतनं स्यात्। 16।
काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति (वामन) प्रथमाधिकरण (तृतीय अध्याय)

अथवा नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा कहा है। अधिकांशतः यह सामर्थ्य प्रतिभा शब्द से ही अभिहित है। आचार्य रुद्रट से पूर्वकालीन इन आचार्यों की परिभाषाओं में दो वैशिष्ट्य निहित हैं—कवित्व का बीजरूप संस्कार तथा नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि। आचार्य रुद्रट की दृष्टि में प्रतिभा तथा शक्ति पर्यायवाची हैं। निरन्तर एकाग्र मन में अनेक प्रकार के अर्थों का तथा अक्लिष्ट पदों का विस्फुरण कराने वाली सामर्थ्य आचार्य रुद्रट की शक्ति है।[1] अन्य पूर्वाचार्यों की प्रतिभा आचार्य रुद्रट की शक्ति के समान है क्योंकि इस शक्ति की तुलना पूर्वाचार्यों की परिभाषा की 'नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि' से की जा सकती है। 'काव्योपयोगी शब्द और अर्थ का मन में विस्फुरण' एवम् 'बुद्धि का नवनवोन्मेष' केवल वचनान्तर ही हैं। आचार्य रुद्रट की शक्ति तथा आचार्य राजशेखर की प्रतिभा परिभाषा की दृष्टि से समान हैं। कविहृदय में शब्दों, अर्थों, अलङ्कारों, उक्तियों आदि काव्योपयोगी सामग्री को प्रतिभासित करने वाली सामर्थ्य आचार्य राजशेखर के अनुसार प्रतिभा है।[2] आचार्य मम्मट की शक्ति भी कवित्व का बीजरूप संस्कारविशेष ही है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने भी शक्ति एवम् प्रतिभा शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है। ध्वनिकाव्य की श्रेष्ठता स्वीकार करने वाले आचार्य आनन्दवर्धन कवि की अशक्ति अथवा अव्युत्पत्ति से दोषयुक्त काव्य को ध्वनि का विषय नहीं मानते। ध्वनि से अन्यथा प्रसङ्गों में सहृदयों को कवि की अव्युत्पत्ति से उत्पन्न दोष उसकी प्रतिभा के प्रभाव से तिरोहित हो जाने के कारण कभी-कभी प्रतीत नहीं होते, किन्तु कवि की अशक्ति से उत्पन्न दोष तो व्युत्पत्ति द्वारा भी छिपाया नहीं जा सकता, वह तुरन्त प्रतीत हो जाता है।[3] यद्यपि यह दोनों ही स्थल दोषयुक्त हैं, अतः ध्वनिकाव्य नहीं है। ध्वनि एवम् गुणीभूतव्यङ्ग्य के आश्रय से कवियों का प्रतिभागुण अनन्तता को प्राप्त होता है। यदि कवि में

---

1. मनसि सदा सुसमाधिनी विस्फुरणमनेकधामिधेयस्य अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः। (1-15)
काव्यालङ्कार (रुद्रट)

2. या शब्दग्राममर्थसार्थमलङ्कारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा। (चतुर्थ अध्याय)
काव्यमीमांसा - (राजशेखर)

3. अव्युत्पत्तेरशक्तेर्वा निबन्धो यः स्खलद्गतेः शब्दस्य स च न ज्ञेयः सूरिभिर्विषयो ध्वनेः। 32।
अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झगित्येवावभासते।।
ध्वन्यालोक (द्वितीय उद्योत)

प्रतिभागुण हो तो ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य का आश्रय लेने से काव्यार्थों की समाप्ति नहीं हो सकती, उसे असंख्य काव्यार्थ प्राप्त हो ही जाते हैं।[1] आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार प्राक्तन जन्म के पुण्य अर्थात् संस्कार तथा अभ्यास के परिपाक से काव्यरचना में प्रवृत्त कवि के मानस में सरस्वती अभिमत अर्थ का आविर्भाव स्वयं करा देती है। पूर्वजन्म का संस्काररूप प्रतिभा तथा इस जन्म में अभ्यास का परिपाक कवियों को शब्दों और अर्थों के अन्वेषण में प्रयत्नशील नहीं रहने देता। सरस्वती द्वारा शब्द और अर्थ उनके मानस में स्वयं उद्‌बुद्ध होते हैं, यही महाकवियों का महाकवित्व है।[2] आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा वर्णित इन सभी स्थलों में प्रतिभा तथा शक्ति दो भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। आचार्य राजशेखर ने भी आचार्य आनन्दवर्धन के द्वारा प्रयुक्त 'शक्ति' शब्द के लिए कहा है कि 'शक्ति' शब्द लक्षणा से प्रतिभा के लिए ही प्रयुक्त है।[3]

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार प्रतिभा वाग्देवता के अनुग्रह से कवि के हृदय में उत्पन्न विचित्र अपूर्व अर्थ के निर्माण की शक्तिरूप है।[4] कवि के हृदय में परिस्फुरित अभिधेय को उन्ही के विशेष प्रतिपादन में समर्थ अभिधान द्वारा कथन प्रतिभा के वैशिष्ट्य के रूप में आचार्य कुन्तक द्वारा स्वीकार किया गया है।[5] रस के अनुकूल शब्द, अर्थ के लिए चिन्तित कवि की क्षणमात्र में स्वरूप के स्पर्श से

---

1. ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च समाश्रयात्
   न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात्प्रतिभागुण: ।6। — ध्वन्यालोक - (आनन्दवर्धन) चतुर्थ उद्योत
2. सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
   अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति प्रतिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ।7। — ध्वन्यालोक - (प्रथम उद्योत)
3. 'शक्तिशब्दश्चायमुपचरित: प्रतिभाने वर्तते' — (काव्यमीमांसा - पञ्चम अध्याय)
4. न कवेरपि स्वहृदयायतनसततोदितप्रतिभाभिधानपरवाग्देवतानुग्रहोत्थितविचित्रापूर्वार्थनिर्माणशक्तिशालिन: प्रजापतेरिव कामजनितजगत: — (प्रथम अध्याय)
   अभिनव भारती (अभिनव गुप्त)
5. शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि अर्थ: सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दर: ।9।
   कविविवक्षितविशेषाभिधानक्षमत्वमेव वाचकत्वलक्षणम्। यस्मात् प्रतिभायां तत्कालोल्लिखितेन केनचित्परिस्पन्देन परिस्फुरन्त: पदार्था: प्रकृतप्रस्तावसमुचितेन केनचिदुत्कर्षेण वा समाच्छादितस्वभावा: सन्तो विवक्षाविधेयत्वेनाभिधेयतापदवीमवतरन्तस्तथाविधविशेषप्रतिपादनसमर्थेनाभिधानेनाभिधीयमानाश्चेतनचमत्कारितामापद्यन्ते। — प्रथम उन्मेष
   वक्रोक्तिजीवित - (कुन्तक)

उदवुद्ध प्रज्ञा को आचार्य महिमभट्ट प्रतिभा कहते हैं।[1] यह प्रतिभा भगवान् का तृतीय नेत्र है, जिससे तीनों लोकों के भाव साक्षात् हो जाते हैं, प्रतिभा द्वारा निबद्ध अप्रत्यक्ष अर्थ भी साक्षात् से प्रतीत होते हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ की प्रतिभा के स्वरूप की सम्बद्धता काव्यरचना के अनुकूल पद तथा पदार्थ की शीघ्र उपस्थिति कराने वाली बुद्धि से है।[2] आचार्य वाग्भट का विचार है कि अक्लिष्ट पदों तथा अभिनव उक्तियों के उद्बोध में समर्थ उत्तम कवि की सर्वव्यापिनी बुद्धि ही प्रतिभा है।[3] काव्य अथवा कला के निर्माण में प्रतिभा ही समर्थ है, यह प्रतिभा नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा है। प्रतिभा के प्रभाव से ही क्रान्तिदर्शी कवि भूत, भविष्य तथा वर्तमान् को मानों प्रत्यक्ष देखते और वर्णन करते हैं। अव्यक्त रूप वस्तुओं के दर्शन में तथा मनोहारी वर्णन में प्रतिभा ही नियोजित करती है। आचार्य केशवमिश्र की प्रतिभा पूर्वजन्म के संस्कार रूप में प्राप्त पुण्य अथवा शक्ति ही है।[4]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र के अधिकांश आचार्यों की दृष्टि में शक्ति तथा प्रतिभा दो भिन्न वस्तुओं की बोधक नहीं हैं, किन्तु आचार्य राजशेखर शक्ति एवम् प्रतिभा को पूर्णतः भिन्न मानते हैं।[5] आचार्य राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में केवल प्रतिभा का स्वरूप ही स्पष्ट किया है, शक्ति का नहीं।

जब शक्ति का प्रतिभा से पृथक् रूप में स्वरूप स्पष्ट नहीं है तब शक्ति और प्रतिभा का पार्थक्य केवल एक ही वस्तु की दो भिन्न स्थितियों के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है। आचार्य

---

1. रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः। (117)
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः॥ (118)
व्यक्ति विवेक (महिमभट्ट) द्वितीय विमर्श

2. तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा सा च काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः॥ प्रथमानन
रसगङ्गाधर (पण्डितराज जगन्नाथ)

3. प्रसन्नपदनव्यार्थयुक्त्युदबोधविधायिनी स्फुरन्ती सत्कवेर्बुद्धिः प्रतिभा सर्वतोमुखी। 4।
........सर्वतो मुखं यस्याः सा तथा सर्वव्यापिनी सर्वाङ्गीणा चेत्यर्थः। एवं विधोत्तमकवेर्बुद्धिः प्रतिभा उच्यते।
वाग्भटालङ्कार (वाग्भट) (प्रथम परिच्छेद)

4. शक्तिः पुण्यविशेषः । स एव प्रतिभेत्युच्यते॥ अलङ्कारशेखर (केशवमिश्र) (प्रथम मरीचि)

5. समाधिरान्तरः प्रयत्नो बाह्यस्त्वभ्यासः तावुभावपि शक्तिमुद्भासयतः। 'सा केवलम् काव्ये हेतुः' इति यायावरीयः। विप्रसृतिश्च सा प्रतिभाव्युत्पत्तिभ्याम्। चतुर्थ अध्याय
काव्यमीमांसा - (राजशेखर)

राजशेखर केवल शक्ति को ही काव्य का परम कारण स्वीकार करते हैं। प्रतिभा उनकी दृष्टि में काव्यनिर्माण की परम सहायक सामग्री है।[1] जब तक शब्दों, अर्थों, उक्तियों आदि का हृदय में प्रतिभास न हो कवि काव्यनिर्माण कर ही नहीं सकता। किन्तु काव्य की इस परम सहायक सामग्री रूपी प्रतिभा के भी 'हेतु' रूप में आचार्य राजशेखर 'शक्ति' का उल्लेख करते हैं। 'काव्यमीमांसा' में शक्ति का स्वरूप स्पष्ट न होने के कारण अनेक विसंगतियों के उपस्थित होने पर भी शक्ति को काव्यशास्त्र के विभिन्न आचार्यों से सहमति व्यक्त करते हुए पूर्ववासना रूप, कवित्व का बीजभूत संस्कार विशेष स्वीकार करना ही उचित होगा। कवि के जन्म के साथ ही कवि-समवेत होना इस कवित्वबीज रूप पूर्ववासना का वैशिष्ट्य है। समाधि एवम् अभ्यास द्वारा उद्भासित यह शक्ति काव्योपयोगी शब्द, अर्थ, उक्ति, अलङ्कार आदि सामग्रियों को हृदय में प्रतिभासित करने वाली सामर्थ्य बन जाती है—जिसे प्रतिभा कहते हैं। इस प्रकार बीज की अविचलित स्थिति एवम् उसका उद्भेद होकर अंकुर निकलना एक ही बीज की जिस प्रकार दो स्थितियाँ हैं, उसी प्रकार शक्ति एवम् प्रतिभा को भी एक ही सामर्थ्य की दो विभिन्न स्थितियों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। जिस व्यक्ति में कवित्व का बीजभूत संस्कार है, उसके हृदय में ही काव्योचित सामग्रियों का प्रतिभास होता है—यही नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा अर्थात् प्रतिभा है। इस प्रकार की स्थिति स्वीकार की जाए तो आचार्य राजशेखर के दोनों विचारों—'केवल शक्ति ही काव्य का परम कारण है' तथा 'प्रतिभा काव्यनिर्माण की परम सहायक सामग्री है'—में परस्पर विरोध उत्पन्न नहीं होगा। आचार्य राजशेखर ने स्वीकार किया है कि शक्ति और प्रतिभा में कारण कार्यभाव है।[2] कर्तृत्व रूप शक्ति का कर्मरूप है प्रतिभा तथा व्युत्पति। प्रज्ञा तथा प्रतिभा एक ही अर्थ में प्रयुक्त होती हैं, किन्तु आचार्य राजशेखर तीनों कालों की तीन प्रकार की बुद्धि स्वीकार करते हैं—स्मृति, मति, प्रज्ञा।[3] कवि से सम्बद्ध कारयित्री प्रतिभा के आचार्य राजशेखर ने तीन भेद 'काव्यमीमांसा' में प्रस्तुत किए हैं—सहजा

---

1. 'प्रतिभैव परिकर:' इति यायावरीय: — काव्यमीमांसा - (दशम अध्याय)
2. 'शक्तिकर्तृके हि प्रतिभाव्युत्पत्तिकर्मणी — चतुर्थ अध्याय, काव्यमीमांसा - (राजशेखर)
3. त्रिधा च सा स्मृतिर्मति: प्रज्ञेति अतिक्रान्तस्यार्थस्य स्मर्त्री स्मृति:। वर्तमानस्य मन्त्री मति:। अनागतस्य प्रज्ञात्री प्रज्ञेति। सा त्रिप्रकाराऽपि कवीनामुपकर्त्री। — चतुर्थ अध्याय, काव्यमीमांसा - (राजशेखर)

प्रतिभा, आहार्या प्रतिभा तथा औपदेशिकी प्रतिभा।[1] आचार्य राजशेखर द्वारा किया गया विशिष्ट वर्गीकरण प्रतिभा के कारणों की व्यापकता को प्रदर्शित करता है।

सहजा प्रतिभा का कारण—पूर्वजन्म का संस्कार।

आहार्या प्रतिभा का कारण—इस जन्म के व्युत्पत्ति और अभ्यास।

औपदेशिकी प्रतिभा का कारण—मन्त्र, तन्त्र, देवता, महापुरुषादि के वरदान अथवा उपदेश।

पूर्वजन्म का संस्कार होने पर भी ऐहिक संस्कार की आवश्यकता को आचार्य राजशेखर ने प्रबलता से स्वीकार किया है। सहजा प्रतिभा के लिए इस जन्म का अत्यल्प संस्कार तथा आहार्या प्रतिभा के लिए अत्यधिक संस्कार अपेक्षित है। औपदेशिकी प्रतिभा के लिए उपदेश, वरदान आदि पर्याप्त हैं।

प्रतिभा से सम्बद्ध कवि भेद :-

तीन प्रकार की कारयित्री प्रतिभाओं से सम्बद्ध तीन प्रकार के कवि भी 'काव्यमीमांसा' में उपस्थित हैं[2]

सारस्वत कवि—स्वाभाविक बुद्धिमान् प्रखरबुद्धि कवि को जन्म से सहजा प्रतिभा प्राप्त होती है। ऐहिक अल्प संस्कार से उद्बुद्ध प्रतिभा वाला वह व्यक्ति श्रेष्ठ कवि बन सकता है। सहृदयों के हृदयहरण की क्षमता विशेष रूप से सहजा प्रतिभासम्पन्न कवियों में ही होती है। श्रेष्ठ काव्य का कारण नैसर्गिकी अथवा सहजा प्रतिभा दुर्लभ है। सभी कवि नैसर्गिकीप्रतिभासम्पन्न नहीं होते।

आभ्यासिक कवि—इस जन्म के अत्यधिक संस्कार से आहार्या प्रतिभा की उत्पत्ति होती है। इस जन्म के संस्कार निश्चय ही व्युत्पत्ति तथा अभ्यास रूप हैं। काव्यजगत् में सामान्य कवित्व आहार्या

---

1. सा च त्रिधा कारयित्री भावयित्री च। कवेरूपकुर्वाणा कारयित्री। साऽपि त्रिविधा सहजाऽऽहार्यौपदेशिकी च। जन्मान्तरसंस्कारापेक्षिणी सहजा। जन्मसंस्कारयोनिराहार्या। मन्त्रतन्त्राद्युपदेशप्रभवा औपदेशिकी। ऐहिकेन कियतापि संस्कारेण प्रथमां तां सहजेति व्यपदिशन्ति। महता पुनराहार्या। औपदेशिक्याः पुनरैहिक एव उपदेशकालः, ऐहिक एव संस्कारकालः। (चतुर्थ अध्याय)
काव्यमीमांसा - (राजशेखर)

2. त इमे त्रयोऽपि कवयः सारस्वतः, आभ्यासिकः,औपदेशिकश्च। जन्मान्तरसंस्कारप्रवृत्तसरस्वतीको बुद्धिमान्सारस्वतः। इह जन्माभ्यासोद्भासितभारतीक आहार्यबुद्धिराभ्यासिकः उपदेशदर्शितवाग्विभवो दुर्बुद्धिरौपदेशिकः।
काव्यमीमांसा - (चतुर्थ अध्याय)

प्रतिभा से उत्पन्न हो सकता है। आचार्य राजशेखर का इस प्रकार का कवि 'आभ्यासिक' कहलाता है, क्योंकि काव्यनिर्माण की प्रबल इच्छा होने पर वह व्युत्पत्ति तथा अत्यधिक अभ्यास से ही सामान्य कवित्व प्राप्त करने में सक्षम होता है।

औपदेशिक कवि—बुद्धि के अभाव में कवि बनना संभव नहीं होता। मन्त्र, तन्त्रादि से, उपदेश वरदानादि से बुद्धि तथा प्रतिभा की उत्पत्ति होने पर इस प्रकार का दुर्बुद्धि व्यक्ति कवि बन सकता है। यह औपदेशिक कवि औपदेशिक प्रतिभासम्पन्न होता है।

बुद्धिमता, काव्य एवं काव्याङ्ग विद्याओं का अभ्यास तथा दैवी शक्ति एकत्र दुर्लभ हैं। इन तीनों के एकत्र होने पर व्यक्ति कविराज अथवा श्रेष्ठ कवि बन जाता है।[1]

प्रतिभा के इस प्रकार के भेदों को आचार्य राजशेखर के अतिरिक्त अन्य आचार्यों ने भी स्वीकार किया है। आचार्य दण्डी ने यद्यपि काव्यहेतुओं में प्रमुख स्थान नैसर्गिकी प्रतिभा को ही दिया है। किन्तु व्युत्पत्ति एवम् अभ्यास द्वारा किञ्चित् काव्यनिर्माण की सामर्थ्य की प्राप्ति को वह स्वीकृति देते हैं।[2] अत: आहार्या प्रतिभासम्पन्न कवियों की स्थिति उन्हें मान्य है। उनकी प्रतिभाएँ प्राक्तनी—पूर्वजन्म के संस्कार से प्राप्त तथा इदानीन्तनी—ऐहिक संस्कार से प्राप्त हैं। आचार्य रुद्रट की सहजा और उत्पाद्या शक्तियाँ (प्रतिभाएँ) इसी प्रकार की हैं।[3] आचार्य राजशेखर के प्रतिभाभेद के समान भेद पण्डितराज जगन्नाथ के ग्रन्थ में भी मिलते हैं। पण्डितराज ने प्रतिभा के कारणों के दो वर्ग प्रस्तुत किए हैं (क)

---

1 ''बुद्धिमत्त्वं च काव्याङ्गविद्यास्वभ्यासकर्म च कवेश्चोपनिषच्छक्तिस्त्रयमेकत्र दुर्लभम्॥
काव्यकाव्याङ्गविद्यासु कृताभ्यासस्य धीमत: मन्त्रानुष्ठाननिष्ठस्य नेदिष्ठा कविराजता॥''

काव्यमीमांसा - (चतुर्थ अध्याय)

2. न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्। श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥

काव्यादर्श (दण्डी) प्रथम परिच्छेद (104)

3 प्रतिभेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति।
पुंसा सह जातत्वादनयोस्तु ज्यायसी सहजा। 16।
स्वस्यासौ संस्कारे परमपरं मृगयते यतो हेतुम् उत्पाद्या तु कथंचिद्व्युत्पत्त्या जन्यते परया । 17 ।

(प्रथम अध्याय)

(काव्यालङ्कार—रुद्रट)

अदृष्ट (ख) व्युत्पत्ति और अभ्यास। अदृष्टोत्पत्ति के विभिन्न कारण होते हैं—जैसे देवता, महापुरुषादि के प्रसाद तथा वरदान।[1]

आचार्य वाग्भट तथा हेमचन्द्र की नवीन उल्लेख की सामर्थ्य वाली प्रज्ञारूपी प्रतिभा का जब तक उदय नहीं होता, यह बीज रूप में निहित होती है।[2] इस प्रतिभा पर एक आवरण होता है, इस आवरण का हटना ही प्रतिभा का उद्बोध है। जहाँ पर आवरण के हटने की प्रक्रिया स्वयं घटित होती है, वहाँ सहजा प्रतिभा होती है, जहाँ आवरण को दूर हटाने के लिए देवता आदि के अनुग्रह की आवश्यकता हो वहाँ औपाधिकी प्रतिभा होती है। यह औपाधिकी प्रतिभा आचार्य राजशेखर की औपदेशिकी प्रतिभा से समानता रखती है, मन्त्र, तन्त्र उपदेशादि से उत्पन्न होना ही दोनों का साम्य है।

आचार्य राजशेखर ने शक्ति को व्यापक तथा प्रतिभा को सीमित स्वरूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया, किन्तु शक्ति तथा प्रतिभा का भेद पूर्णत: स्पष्ट करने में उन्हें सफलता नहीं मिली। शक्ति तथा प्रतिभा का भेद, शक्ति को कर्ता तथा प्रतिभा को उसका कर्म स्वीकार करना, शक्ति का स्वरूप स्पष्ट न होना तथा प्रतिभा की उत्पत्ति के लिए विभिन्न संस्कारों की अपेक्षा-आचार्य राजशेखर के यह विचार परस्पर किञ्चित् असंगत से हैं। शक्ति यदि काव्यनिर्माणक्षमता की बीज रूप में उपस्थिति है तो सहजा प्रतिभा के पूर्व तो कारण रूप में शक्ति का अस्तित्व स्वीकार किया जा सकता है किन्तु औपदेशिकी प्रतिभा के पूर्व तो शक्ति कारण रूप में उपस्थित नहीं हो सकती। इस औपदेशिकी प्रतिभा के स्थल में भी

---

1 काव्यकारणीभूतायाः प्रतिभायाः कारणमाह-तस्याश्च हेतुः कश्चित् देवतामहापुरुषप्रसादादिजन्यमदृष्टम्, क्वचिच्च विलक्षणव्युत्पत्तिकाव्यकरणाभ्यासौ। प्रथमानन

रसगङ्गाधर (पण्डितराज जगन्नाथ)

2 (क) प्रतिभा नवनवोल्लेखशालिनी प्रज्ञा। सा च ज्ञानावरणीयादिकर्मक्षयोपहेतुका गणधरादीनामिव सहजा, देवता परितोषौपधादिहेतुका कालीदासादीनामिवौपाधिकी। (प्रथम अध्याय)

काव्यानुशासन (वाग्भट)

(ख) प्रतिभा नवनवोल्लेखशालिनी प्रज्ञा ------------सा च सहजौपाधिकी चेति द्विधा

सावरणक्षयोपशममात्रात् सहजा ।5।

सवितुरिव प्रकाशस्वभावस्यात्मनोऽभ्रपटलमिव ज्ञानावरणीयाद्यावरणम्, तस्योदितस्य क्षयेऽनुदितस्योपशमे च यः प्रकाशाविर्भावः सा सहजा प्रतिभा मन्त्रादेरौपाधिकी ।6। (प्रथम अध्याय)

(काव्यानुशासन - हेमचन्द्र)

यदि शक्ति हो तो शिष्य पूर्णत: दुर्बुद्धि नहीं हो सकता। अत: आचार्य राजशेखर का यह विचार 'जहाँ शक्ति हो वहीं प्रतिभा का जन्म होता है'[1] असंगत न प्रतीत हो इसके लिए स्वीकार करना होगा कि आहार्या तथा औपदेशिकी प्रतिभाओं के स्थल में प्रतिभा की उत्पत्ति से पूर्व काव्यनिर्माणक्षमता के बीज रूप में शक्ति की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार पूर्वजन्म के संस्कार से प्राप्त शक्ति, ऐहिक संस्कार से उत्पन्न शक्ति तथा मन्त्र-तन्त्रादि से उत्पन्न शक्ति का स्वरूप काव्यनिर्माणक्षमता के बीजरूप में उपस्थित होता है। तत्पश्चात् समाधि एवम् अभ्यास से उद्भासित यह शक्ति कविहृदय में शब्दों, अर्थों, अलङ्कारों, उक्तियों आदि काव्योपयोगी सामग्रियों को प्रतिभासित करने वाली सामर्थ्य को जन्म देती है। यही सामर्थ्य प्रतिभा है। आचार्य राजशेखर की शक्ति और प्रतिभा के भेद का स्पष्टीकरण इसी प्रकार संभव है। समाधि एवम् अभ्यास सभी प्रकार की प्रतिभाओं की उत्पत्ति में सहायक साधन बनते हैं, क्योंकि बीज की प्रस्फुटित होकर प्रतिभारूप में परिणति इनके द्वारा ही होती है। शक्ति एवम् प्रतिभा के भेद की आचार्य राजशेखर की मान्यता काव्य के चार कारण सिद्ध करती है—शक्ति, प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास। किन्तु आचार्य राजशेखर 'सा केवलं काव्यहेतु:' कहकर काव्यनिर्माण में केवल शक्ति की ही अनिवार्यता का स्पष्टीकरण देते हैं।

व्युत्पत्ति :-

प्रतिभा के अभाव में काव्यसृजन असंभव है, अत: प्रतिभा काव्यनिर्माण का प्रत्यक्ष स्त्रोत है, किन्तु व्युत्पत्ति और अभ्यास भी प्रतिभा के व्यापार का संस्कार तथा नियमन करने के कारण काव्यनिर्माण के परम सहायक हैं। व्युत्पत्ति के संस्कार के बिना कवि की प्रतिभा पूर्णत: प्रकाशित नहीं हो सकती।

कवि के ज्ञानक्षेत्र के विस्तार की सीमा निश्चित करना संभव नहीं है। अधिक से अधिक सामान्य-ज्ञान प्राप्त करना कवि का परम कर्तव्य है। संसार का समस्त ज्ञान कवि की व्युत्पत्ति की सीमा में आता है। केवल पदरचना करके ही कवि बनना संभव नहीं है। प्रत्येक क्षेत्र के समान काव्यक्षेत्र में भी तपस्या जैसा कठिन परिश्रम अनिवार्य है, तथा श्रेष्ठकवि बनने की कसौटी भी। कवि के लिए अनेक

---

1. 'शक्तस्य प्रतिभाति शक्तश्च व्युत्पद्यते' (चतुर्थ अध्याय)
(काव्यमीमांसा - राजशेखर)

शास्त्रों, व्यवहारों, कलाओं तथा देशकाल आदि के व्यापक ज्ञान की अपेक्षा है, अन्यथा काव्यरचना के समय विविध व्यवधानों की उपस्थिति अपरिहार्य हो जाएगी।

काव्यशास्त्र में काव्यहेतु व्युत्पत्ति, 'बहुज्ञता' अथवा 'उचित अनुचित का विवेक' के रूप में स्वीकृत है, किन्तु उचित अनुचित के विवेक की उत्पत्ति बहुज्ञ होने पर ही संभव है, अल्पज्ञानी ऐसे विवेक में सक्षम नहीं हो सकता। अत: व्युत्पत्ति के दोनों वैशिष्ट्यों में परस्पर पार्थक्य संभव नहीं है। लोक तथा शास्त्र के अनुशीलन से उत्पन्न निपुणता, स्वाध्याय से विभिन्न सांसारिक विषयों तथा विभिन्न शास्त्रों का ज्ञान व्युत्पत्ति है। आचार्य राजशेखर काव्यनिर्माण में प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति को समान रूप से उपकारिणी मानते हैं। जैसे लावण्य के बिना सुन्दर रूप निस्तेज है, उसी प्रकार रूप सम्पत्ति के बिना लावण्य भी तेजरहित है।[1]

आचार्य राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' में काव्यहेतु व्युत्पत्ति को पर्याप्त विस्तार प्राप्त हुआ है। यहाँ व्युत्पत्ति का स्वरूप 'उचित अनुचित का विवेक है'।[2] किन्तु कवि के ज्ञान की परिधि को अत्यधिक विस्तृत करके आचार्य राजशेखर कवि की सर्वज्ञता को भी श्रेष्ठकवित्व हेतु परमावश्यक स्वीकार करते हैं।

बाणभट्ट के हर्षचरित में सरस्वती के गर्भ से उत्पन्न पुत्र का उल्लेख है, जिसे सरस्वती ने रहस्य, सभी वेदों, सभी कलाओं सभी विद्याओं का स्वयं ही ज्ञाता होने का आशीर्वाद दिया।[3] राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' में भी सरस्वती का पुत्र ही काव्यपुरुष है। इस काव्यपुरूष को सभी विषयों का ज्ञाता कहना कवि को भी सर्वज्ञाता होने की प्रेरणा देता है।

---

1. 'प्रतिभाव्युत्पत्ति मिथ: समवेते श्रेयस्यौ' इति यायावरीय:। न खलु लावण्यलाभादृते रूपसम्पदृते रूपसम्पदो वा लावण्यलब्धिर्महते सौन्दर्याय। (काव्यमीमांसा - पञ्चम अध्याय)
2. 'उचितानुचितविवेको व्युत्पत्ति:' इति यायावरीय:। (काव्यमीमांसा - पञ्चम अध्याय)
3. किं कवेस्तस्य काव्येन सर्ववृतान्तगामिनी।
   कथैव भारती यस्य न व्याप्नोति जगत्त्रयम् । 10।
   अथ दैवयोगात् सरस्वती बभार गर्भम्। असूत चानेहसा सा सर्वलक्षणाभिरामं तनयम्।
   तस्मै तु जातमात्रायैव 'सम्यक् सरहस्या: सर्वे वेदा:, सर्वाणि च शास्त्राणि, सकलाश्च कला:, सर्वाश्च विद्या: मत्प्रसादात् स्वयमेवाविर्भविष्यन्तीति वरमदात् (प्रथम उच्छ्वास)
   हर्षचरित - (बाणभट्ट)

आचार्य राजशेखर के पूर्ववर्ती आचार्य भामह, दण्डी, वामन ने काव्यहेतु व्युत्पत्ति को बहुज्ञता के रूप में स्वीकार किया है। आचार्य भामह अल्पज्ञानी के लिए कवित्व को दुर्लभ वस्तु मानते हैं, इसीलिए कवित्व को 'मितज्ञदुरासद' कहते हैं। वह स्वीकार करते हैं कि कवि को दूसरों के निबन्धों का ज्ञान प्राप्त करके ही काव्यरचना में प्रवृत्त होना चाहिए। कवि के कन्धों पर महान् भार है, क्योंकि कोई भी ऐसा शब्द, अर्थ, न्याय, कला नहीं है, जो काव्य का अङ्ग न हो।[1] कवित्व के लिए व्याकरण, छन्द, अभिधानकोष, इतिहास, लोकव्यवहार, युक्ति, कला आदि का ज्ञान आवश्यक है।[2]अनेक शास्त्रों के सम्यक् परिशीलन तथा लोकदर्शनादि से आचार्य दण्डी के अनुसार व्युत्पत्ति उत्पन्न होती है। श्रुत से आचार्य दण्डी का तात्पर्य प्राक्तन काव्यप्रबन्धों के अनुशीलन से है।[3] आचार्य वामन लोक, विद्या और प्रकीर्ण को काव्याङ्ग मानते हैं।[4] प्रकीर्ण में लक्ष्यज्ञत्व भी अन्तर्निहित है। अन्य कवियों के काव्य का परिचय ही लक्ष्यज्ञत्व है, उससे काव्यबन्ध की व्युत्पत्ति होती है।

---

1 न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः ।4।
एवमेव सर्वो न्यायः, सर्वः शास्त्रार्थः सर्वा च कला काव्याङ्गं भवति। अत एव हि कवित्वम् मितज्ञदुरासदम्। महान् हि भारः कवेः ।4। (पञ्चम परिच्छेद)
काव्यालङ्कार-(भामह)

2. शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः लोको युक्ति कलाश्चेति मन्तव्याः काव्यगैर्ह्यमी (9)
शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम् विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः ।10। (प्रथम परिच्छेद)
काव्यालङ्कार - (भामह)

3 नैसर्गिकी च प्रतिभाश्रुतञ्च बहुनिर्मलम् अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः ।103।
बहु अनेकं छन्दोव्याकरणकोषकला-चतुर्वर्गगजतुरगखङ्गादिलक्षणात्मकमित्यर्थः, निर्मलम् सदुपदेशेन निः-मन्देहतयाधिगत्य सम्यक् परिशीलितमित्यर्थः श्रुतं शास्त्रं च बहुनिर्मलशास्त्रानुशीलनजनिता व्युत्पत्तिरित्यर्थः, एतदुपलक्षणं लोकदर्शनजनितापि व्युत्पत्तिः काव्यकारणम्।
श्रूयते इति श्रुतं श्रवणं प्राक्तनकाव्यप्रबन्धानुशीलनमित्यर्थः (प्रथम परिच्छेद)
काव्यादर्श - (दण्डी)

4. लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि (1—3—1)
लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवाऽवेक्षणं प्रतिभानमवधानञ्च प्रकीर्णम् (1-3-11) तत्र काव्यपरिचयो लक्ष्यज्ञत्वम् (1—3—12) अन्येषां काव्येषु परिचयो लक्ष्यज्ञत्वम्। ततो हि काव्यबन्धस्य व्युत्पत्तिर्भवति।
काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति - (वामन)

कवि की कल्पना दूरगामी है। उसकी वाणी का प्रसार सभी दिशाओं में होता है।[1] कवि के काव्य से लौकिक, अलौकिक कोई भी विषय अस्पृष्ट नहीं रहता। इसी कारण काव्यमीमांसा में भी कवि के विस्तृत ज्ञान क्षेत्र का विवेचन है। आचार्य राजशेखर ने इसी कारण काव्यरचना के पूर्व सर्वप्रथम कवि के लिए काव्य की विद्याओं, व्याकरण, अभिधानकोश, छन्दशास्त्र और अलङ्कारशास्त्र आदि का तथा काव्य की उपविद्याओं तथा चौसठ कलाओं का ज्ञान आवश्यक माना है।[2] व्याकरण की शब्दशुद्धि के लिए, अभिधानकोष की विभिन्न शब्दों के परिचय हेतु, छन्द शास्त्र की विभिन्न छन्दप्रयोगों के लिए तथा अलङ्कारशास्त्र की काव्य तथा काव्य से सम्बद्ध रीति, रस, अलङ्कार, गुण, दोष आदि के ज्ञान के लिए कवि को आवश्यकता पड़ती है। यह सभी काव्यरचना के साधन हैं। पोतयन्त्र के बिना समुद्र पार करना असम्भव है।[3]

व्युत्पत्तिशून्य कवि के काव्य का स्तर संतोषप्रद ही नहीं हो पाता। अत: 'काव्यमीमांसा' में कवि के परिचय योग्य कुछ अन्य विषय काव्यमाताओं के रूप में स्वीकृत हैं। इन काव्यमाताओं में से—देशवार्ता, विदग्धवाद, लोकयात्रा, पुरातन कवियों के निबन्ध, विद्वत्कथा एवम् बहुश्रुतता का सम्वन्ध कवि की व्युत्पत्ति से है।[4] काव्यजननी के रूप में इनकी स्वीकृति ही काव्यनिर्माण के लिए इनके महत्व तथा आवश्यकता को सिद्ध करती है। विभिन्न देशो के व्यवहारों, विद्वानों की सूक्तियों, सांसारिक व्यवहारों तथा प्राचीन कवियों के निबन्धों का ज्ञान काव्यनिर्माता के लिए परमावश्यक है। देशों

---

1. प्रसरति किमपि कथञ्चन नाभ्यस्ते गोचरे वच: कस्य।
   इदमेव तत्कवित्वं यद्वाच: सर्वतोदिक्का॥ काव्यमीमांसा - (पञ्चम अध्याय)
2. गृहीतविद्योविद्य: काव्यक्रियायै प्रयतेत। नामधातुपारायणे, अभिधानकोश:, छन्दोविचिति:, अलङ्कारतन्त्रं च काव्यविद्या:। कलास्तु चतु:षष्टिरूपविद्या:। काव्यमीमांसा - (दशम अध्याय)
3. रीतिं विचिन्त्य विगण्य्य गुणान्विगाह्य शब्दार्थसार्थमनुसृत्य च सूक्तिमुद्रा:।
   कार्यो निबन्धविषये विदुषा प्रयत्न:
   के पोतयन्त्ररहिता जलधौ प्लवन्ते॥ काव्यमीमांसा - (दशम अध्याय)
4. सुजनोपजीव्यकविसन्निधि:, देशवार्ता:, विदग्धवादो, लोकयात्रा, विद्वद्गोष्ठ्यश्च काव्यमातर:, पुरातनकविनिबन्धाश्च। किञ्च—
   स्वास्थ्यं प्रतिभाभ्यासो भक्तिर्विद्वत्कथा बहुश्रुतता। स्मृतिदाढर्यमनिर्वेदश्च मातरोऽष्टौ कवित्वस्य॥
   काव्यमीमांसा - (दशम अध्याय)

के व्यवहार का ज्ञान कवि को देश विषयक अक्षम्य भूलों से बचाता है। कविशिक्षा से सम्बद्ध 'काव्यमीमांसा' में इसी कारण देश से सम्बद्ध सम्पूर्ण अध्याय 'देशविभाग' है। विद्वानों की सूक्तियाँ विभिन्न अतिरिक्त विषयों की ज्ञान प्राप्ति का साधन बनती हैं। सांसारिक व्यवहारों के ज्ञानाभाव में रचित काव्य सांसारिक व्यवहार के विपरीत वर्णन के कारण हास्यास्पद हो जाता है। प्राचीन कवियों के निबन्धों का अध्ययन अपरिपक्व कवि को परिपक्व बनाने के साथ ही उसे काव्यप्रयोग सम्बन्धी ऐसे विषयों का ज्ञान भी देता है, जो महाकवियों के काव्यप्रयोग में ही प्राप्त हो सकते हैं; अन्यत्र नहीं। कविसमयादि ऐसे ही विषय हैं, जिन्हें काव्यमीमांसा में पर्याप्त विस्तार प्राप्त हुआ है।

आचार्य राजशेखर के पूर्ववर्ती आचार्य रुद्रट विभिन्न विषयों के विशिष्ट ज्ञान तथा उचित अनुचित के विवेक की परस्पर सम्बद्धता को स्वीकार करते हैं। सर्वज्ञता ही व्युत्पत्ति है—उचित अनुचित की विवेकशीलता इसके द्वारा ही प्राप्त होती है।[1] ध्वनिकाव्य के अधिष्ठाता आचार्य आनन्दवर्धन कवि के लिए औचित्य की महत्ता पहले ही सिद्ध कर चुके थे। उनका विचार है कि महाकवियों के प्रबन्धों का अनुशीलन करके अपनी प्रतिभा का अनुसरण करते हुए एकाग्रचित होकर विभावादि से सम्बन्द्ध रसादि के अनौचित्य के परित्याग के लिए कवि को प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि अनौचित्य के अतिरिक्त रसभङ्ग का दूसरा कारण नहीं है। प्रसिद्ध औचित्यबन्ध रस का परम रहस्य है।[2] व्युत्पति को 'उचित अनुचित का विवेक' कहकर उसका औचित्य से आचार्य राजशेखर ने भी सम्बन्ध जोड़ा है। बहुज्ञ बन जाने पर कवि रसोचित शब्दार्थ सन्निवेश हेतु उचित अनुचित के विवेक में स्वयम् को समर्थ पाता है। कवि को शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की परिपक्वता का सर्वत्र ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि यह शब्दार्थ साहित्य ही तो श्रेष्ठ काव्य की कसौटी है। आचार्य अभिनवगुप्त भी समस्तवस्तु पौर्वापर्य के

---

1 छन्दोव्याकरणकलालोकस्थितिपदपदार्थविज्ञानात् युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन ।18।
विस्तरस्तु किमन्यत्तत इह वाच्यं न वाचकं लोके न भवति यत्काव्याङ्गं सर्वज्ञत्वं ततोऽन्यैषा ।19। (प्रथम अध्याय)
काव्यालङ्कार - (रुद्रट)

2. अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।
महाकविप्रबन्धांश्च पर्यालोचयता स्वप्रतिभां चानुसरता कविनाऽवहितचेतसा भूत्वा विभावाद्यौचित्यभ्रंशपरित्यागे पर: प्रयत्नो विधेय:
ध्वन्यालोक (तृतीय उद्योत)

कौशल[1] को व्युत्पत्ति का स्वरूप मानकर औचित्य तथा विवेकशीलता के निकट ही व्युत्पत्ति का स्थान निश्चित करते प्रतीत होते हैं।

आचार्य राजशेखर के परवर्ती आचार्य क्षेमेन्द्र ने तो औचित्य को ही रससिद्ध काव्य का जीवन माना।[2] विभिन्न काव्यशास्त्रियों ने कवियों को अनौचित्य से दूर रखने तथा औचित्य में प्रवृत्त करने के लिए ही दोषप्रकरण का निबन्धन किया। अग्निपुराण में औचित्य अलङ्कारों के 6 भेदों में से एक है।[3] वस्तु के अनुकूल रीति, वृति के अनुकूल रस, उर्जस्वि और मृदु के संदर्भ से औचित्य उत्पन्न होता है।

आचार्य राजशेखर के परवर्ती हेमचन्द्र ने लोक,शास्त्र तथा काव्य में निपुणता को, विद्याधर ने बहुशास्त्रदर्शिता को व्युत्पत्ति के रूप में स्वीकार किया। अनेक शास्त्रों में परम्परा से प्राप्त असाधारण प्रतिपत्ति वाग्भट की व्युत्पत्ति है।[4]

काव्यार्थों को किसी सीमा में आबद्ध करना सम्भव नहीं है किन्तु सभी काव्यशास्त्री काव्य में सरस अर्थ के निबन्धन का ही औचित्य स्वीकार करते हैं। आचार्य राजशेखर काव्य की सरसता नीरसता का सम्बन्ध कवि के वचनों से मानते हैं, काव्यार्थों से नहीं।[5] यदि कवि प्रतिभा संपन्न है, उचित

---

1. 'समस्तवस्तु पौर्वापर्यकौशलं व्युत्पत्तिः अभिनव भारती (अभिनव गुप्त)
2. औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारूचर्वणे रसजीवितभूतस्य विचारं कुरूतेऽधुना ।3।
   अलङ्कारास्त्वलङ्कारा: गुणा एव गुणाः सदा औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ।5।
   (औचित्यविचारचर्चा (क्षेमेन्द्र) (प्रथम परिच्छेद)
3. शब्दार्थयोरलङ्कारो द्वावलङ्कुरुते समम् ।1।
   प्रशस्तिः कान्तिरौचित्यं संक्षेपो यावदर्थता अभिव्यक्तिरिति व्यक्तं षड्भेदास्तस्य जाग्रति ।2।
   यथावस्तु तथा रीतिर्यथा वृत्तिस्तथा रसः उर्जस्विमृदुसंदर्भादौचित्यमुपजायते ।5।
   (अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग) (नवम अध्याय)
4. (क) लोक-शास्त्रकाव्येषु निपुणता व्युत्पत्तिः ।8। काव्यानुशासन (हेमचन्द्र) (प्रथम अध्याय)
   (ख) बहुशास्त्रदर्शिता व्युत्पत्तिः। सर्वपथीनाः खलु कवयो भवन्ति। सर्वपथीनाः सर्ववेदिनः इत्यर्थः।
   एकावली (विद्याधर) (प्रथमोन्मेष)
   (ग) शब्दधर्मार्थकामादिशास्त्रेष्वाम्नायपूर्विका प्रतिपत्तिरसामान्या व्युत्पत्तिरभिधीयते ।5।
   वाग्भटालङ्कार (वाग्भट) प्रथम परिच्छेद
5. अस्ति चानुभूयमानो रसस्यानुगुणो विगुणश्चार्थः, काव्ये तु कविवचनानि रसयन्ति विरसयन्ति च नार्थाः,
   (काव्यमीमांसा - नवम अध्याय)
   अस्तु वस्तुषु मा वा भूत्कविवाचि रसः स्थितः (काव्यमीमांसा - नवम अध्याय)

अनुचित के विवेक से युक्त है तो वह किसी भी अर्थ को उसके पूर्ण सरस स्वरूप में ही प्रस्तुत करता हैं।

काव्यहेतु व्युत्पति के दो क्षेत्र हैं।

(1) काव्यसंघटना से सम्बद्ध व्युत्पत्ति

(2) काव्यार्थ की प्राप्ति से सम्बद्ध व्युत्पत्ति।

काव्यमीमांसा में काव्यार्थ की प्राप्ति से सम्बद्ध व्युत्पत्ति का भी विस्तृत विवेचन है। जो कवि जितने अधिक विषयों का ज्ञाता होगा उसको उतने ही अधिक काव्यार्थ प्राप्त होंगे। इसके अतिरिक्त काव्य में शास्त्रीय अर्थों का भी निवेश होने के कारण काव्य में शास्त्र ज्ञान अपेक्षित है। विभिन्न शास्त्रों तथा वेद, पुराण इतिहासादि के परिचय की कवि के लिए अपेक्षा से सम्बद्ध विवेचन आचार्य राजशेखर की काव्यमीमांसा के अर्थोत्पत्तिविषयक अध्याय में मिलता है। इन विभिन्न ग्रन्थों का अध्ययन कवि को अपने काव्य के लिए विभिन्न प्रकार के अर्थ प्रदान करता है। इस प्रकार कवि को अर्थ प्राप्ति उसके ज्ञानक्षेत्र के विस्तार से सम्बद्ध है, विभिन्न प्रकार के अर्थों का ज्ञाता कवि अर्थ की दृष्टि से दरिद्र नहीं रहता।[1]

कवि को काव्यार्थप्राप्ति के स्त्रोत श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, प्रमाणविद्या, समयविद्या, राजसिद्धान्तत्रयी, लोक, विरचना तथा प्रकीर्णक सर्वमान्य हैं। लौकिक अर्थ के दो प्रकार प्राकृत (स्वाभाविक) तथा व्युत्पन्न (कतिपय जनजन्य तथा समस्तजनजन्य) हैं। कविमनीषा से निर्मित कथा अथवा अर्थ की विरचना संज्ञा है।[2] इन सर्वमान्य काव्यार्थस्त्रोतों के अतिरिक्त आचार्य राजशेखर ने चार नवीन काव्यार्थस्त्रोत भी प्रस्तुत किए हैं—

---

1 इदं कविभ्यः कथितमर्थोत्पत्तिपरायणम् इह प्रगल्भमानस्य न जात्वर्थकदर्थना। (काव्यमीमांसा-अष्टम अध्याय)
इत्थङ्कारं घनैरर्थैर्व्युत्पन्नमनसः कवेः दुर्गमेऽपि भवेन्मार्गे कुण्ठिता न सरस्वती (काव्यमीमांसा - नवम अध्याय)

2 श्रुतिः, स्मृतिः, इतिहासः, पुराणम्, प्रमाणविद्या, समयविद्या, राजसिद्धान्तत्रयी, लोको विरचना, प्रकीर्णकं च काव्यार्थानां द्वादश योनयः, इति आचार्याः उचितसंयोगेन, योक्तृसंयोगेन, उत्पाद्यसंयोगेन, संयोगविकारेण च मह ....षोडश, इति यायावरीयः।
लौकिकस्तु द्विधा प्राकृतो व्युत्पन्नश्च द्वितीयो द्विधा समस्तजनजन्यः कतिपयजनजन्यश्च। तयोः प्रथमोऽनेकधा देशाना ....बहुत्वात्।
कविमनीषानिर्मितं कथातन्त्रमर्थमात्रं वा विरचना (काव्यमीमांसा-अष्टम अध्याय)

(1) **उचित संयोग** पदार्थो के उपमानोपमेय भाव सम्बन्ध उचित प्रतीत होने पर।

(2) **योक्तृसंयोग** - एक से क्रमश: दूसरे अर्थ का संयोग होते जाना अर्थात् उत्तरोत्तर सम्बन्धकारी संयोग।

(3) **उत्पाद्यसंयोग** - उपमान उममेय का सम्बन्ध संभावित होने पर।

(4) **संयोग विकार** - संयोग से विकार उत्पन्न होना।

इन चार नवीन काव्यार्थ स्त्रोतों पर कवि प्रतिभा का ही प्रभाव दिखाई देता है, प्रतिभासम्पन्न तथा व्युत्पन्न कवि इस प्रकार के असंख्य काव्यार्थ प्रस्तुत कर सकता है, अत: इन चार नवीन भेदों में कोई विशेष मौलिकता का तत्व नहीं दिखता। काव्यमीमांसा में प्रस्तुत सभी काव्यार्थस्त्रोतों के सात अवान्तर भेद—दिव्य, दिव्यमानुष, मानुष, पातालीय, मर्त्यपातालीय, दिव्यपातालीय तथा दिव्यमर्त्यपातालीय हैं। काव्य के पात्रों तथा वस्तुओं से सम्बद्ध इन सात अर्थों का स्वरूप उनके नाम से ही स्पष्ट है। अर्थस्त्रोतों के इन अवान्तर भेदों के भी भेद विभेद काव्यमीमांसा में प्रस्तुत हैं—

दिव्य आदि सभी अर्थों के सर्वप्रथम दो भेद हैं तथ इन दो भेदों के पुन: पाँच भेद।[1]

(1) मुक्तक —— (2) प्रबन्ध

(1) मुक्तक:
- (1) शुद्ध
- (2) चित्र
- (3) कथोत्थ
- (4) संविधानकभू
- (5) आख्यानवान्

(2) प्रबन्ध:
- (1) शुद्ध
- (2) चित्र
- (3) कथोत्थ
- (4) संविधानकभू
- (5) आख्यानवान्

---
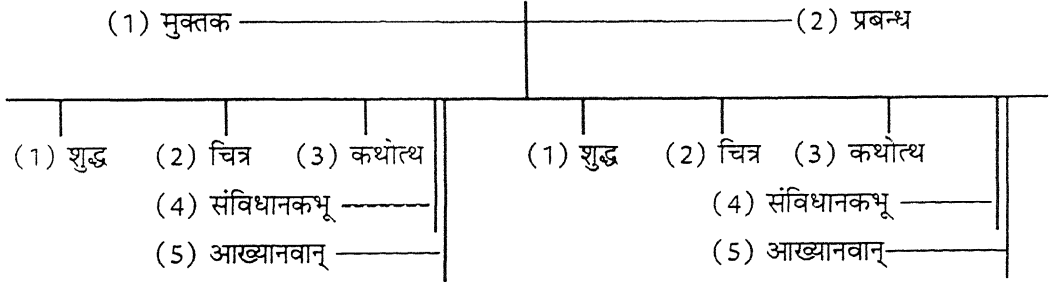
1. 'स त्रिधा' इति द्रौहिणि:; दिव्यो, दिव्यमानुषो, मानुषश्च। 'सप्तधा' इति यायावरीय:। पातालीयो, मर्त्यपातालीयो, दिव्यपातालीयो, दिव्यमर्त्यपातालीयश्च।
दिव्यमानुषस्तु चतुर्धा। दिव्यस्य मर्त्यागमने, मर्त्यस्य च स्वर्गगमन इत्येको भेद:। दिव्यस्य मर्त्यभावे, मर्त्यस्य च दिव्यभाव इति द्वितीय:। दिव्येतिवृत्तपरिकल्पनया तृतीय:। प्रभावाविर्भूत— दिव्यरूपतया चतुर्थ:।
मर्त्यपातालीय:————————————
इहापि पूर्ववत्समस्तमिश्रभेदानुगम:।
————————————————
स पुनर्द्विधा। मुक्तकप्रबन्धविषयत्वेन। तावपि प्रत्येकं पञ्चधा। शुद्ध:, चित्र:, कथोत्थ:, संविधानकभू:, आख्यानकवांश्च। तत्र मुक्तेतिवृत्त: शुद्ध:, स एव सप्रपञ्चश्चित्र:। वृत्तेतिवृत्त: कथोत्थ:। सम्भावितेतिवृत्त: संविधानकभू:। परिकल्पितेतिवृत्त: आख्यानकवान्। (काव्यमीमांसा-नवम अध्याय)

(1) **शुद्ध** — वास्तविक स्थिति का वर्णन ।

(2) **चित्र** — विस्तार पूर्वक विषय के चित्र का प्रस्तुतीकरण।

(3) **कथोत्थ** — किसी पूर्वकथा का दिग्दर्शन।

(4) **संविधानकभू** — किसी एक घटना से उत्पन्न परिस्थिति का वर्णन।

(5) **आख्यानवान्** — किसी आख्यान का वर्णन।

सङ्घटना के नियामक औचित्यवर्णन के प्रसङ्ग में दिव्यमानुष प्रकृतिभेदों में वर्णन का औचित्य ध्वन्यालोक में भी वर्णित है।[1]

इन सभी भेद विभेदों के स्वरूप को आचार्य राजशेखर ने काव्य के विभिन्न उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया है। इन स्थलों में आचार्य राजशेखर की भेद विभेद की प्रवृत्ति ही परिलक्षित होती है। प्रत्येक विषय में अपनी मौलिकता प्रस्तुत करने के प्रयत्न की भावना ही इसके परोक्ष में स्थित है। उद्भट आदि आचार्यों ने विचारितसुस्थ (शास्त्रों में वर्णित अर्थ) तथा अविचारितरमणीय (काव्यों में वर्णित अर्थ) दो ही प्रकार के अर्थ स्वीकार किए हैं।[2] क्योंकि अर्थों की निःसीमता को भुलाना तथा सीमाबद्ध करना संभव नहीं है।

पश्चाद्वर्ती कविशिक्षाग्रन्थ के रचयिता आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी आचार्य राजशेखर के समान ही शिक्षार्थी कवि के लिए बौद्धिक विकास की आवश्यकता पर बहुत अधिक बल दिया है। क्षेमेन्द्र द्वारा शिक्षार्थी कवि के लिए निर्दिष्ट सौ शिक्षाओं के अन्तर्गत कवि के परिचय तथा काव्योपयोगी ज्ञान से सम्बद्ध विभिन्न शिक्षाएँ हैं, किन्तु इन सभी को आचार्य राजशेखर द्वारा स्वीकृत काव्यमाताओं—देश व्यवहार, सांसारिक व्यवहार, विद्वानों की सूक्तियों तथा प्राचीन कवियों के निबन्धों के अन्तर्गत ही समाहित किया जा सकता है। इन आचार्यों के बाद आचार्य विनयचन्द्र ने भी कवि की परिचेय वस्तुओं का विवेचन किया ।

---

1 एतद् यथोक्तमौचित्यमेव तस्या नियामकम् सर्वत्र गद्यबन्धेऽपि छन्दोनियमवर्जिते ।8। ....
भावौचित्यं तु प्रकृतौचित्यात्। प्रकृतिर्हि उत्तममध्यमाधमभावेन दिव्यमानुषादिभावेन च विभेदिनी। केवलमानुषाश्रयेण योत्पाद्यवस्तुकथा क्रियते तस्यां दिव्यौचित्यं न योजनीयम्। दिव्यमानुष्यायान्तु कथायामुभयौचित्ययोजनमविरुद्धमेव। यथा पाण्डवादिकथायाम्। ध्वन्यालोक (तृतीय उद्योत)

2. सोऽयमित्थङ्कारमुल्लिख्योपजीव्यमानो निःसीमार्थसार्थः सम्पद्यते। अस्तु नाम निःसीमार्थसार्थः किन्तु द्विरूप एवासौ विचारितसुस्थोऽविचारितरमणीयश्च। तयोः पूर्वमाश्रितानि शास्त्राणि तदुत्तरं काव्यानि॥ इत्यौद्भटाः।
(काव्यमीमांसा - नवम अध्याय)

कवि शिक्षा एवम् अभ्यास—काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के इतिहास में भामह, दण्डी, वामन, रूद्रट आनन्दवर्धन आदि राजशेखर से पूर्व आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में काव्य के स्वरूप, काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु, गुण, दोष अलंकार, रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति, रस, ध्वनि काव्यभेद तथा काव्य में शब्दों, अर्थो के प्रयोग आदि विषयों का विवेचन किया है। इन विषयों के प्रयोग के विवेचन को काव्यशास्त्र का सैद्धान्तिक पक्ष माना जा सकता है, किन्तु काव्यशास्त्र के इस सैद्धान्तिक पक्ष के साथ-साथ काव्यशास्त्र का व्यावहारिक पक्ष 'कवि शिक्षा' भी विभिन्न काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में आचायों के विवेचन का विषय बना। 'कवि शिक्षा' प्रारम्भिक कवियों के अनुशासन तथा पथप्रदर्शन से सम्बद्ध विषय है।

काव्य निर्माण के इच्छुक जनों के सम्मुख काव्य रचना शास्त्र के प्रस्तुतकर्ता सर्वप्रथम आचार्य राजशेखर ही हैं। उन्होंने काव्यशास्त्रीय जगत् में कविशिक्षा सम्प्रदाय को जन्म दिया। काव्य-निर्माणेच्छु के लिए शिक्षा की आवश्यकता पर तो आचार्य राजशेखर के पहले भी ध्यान आकृष्ट कराया गया था किन्तु 'कविशिक्षा' का मौलिक ग्रन्थ तो काव्य-मीमांसा को ही स्वीकार किया जा सकता है। कविशिक्षा सम्प्रदाय का लक्ष्य कवियों का मार्गदर्शन करना ही है। अब तक की सभी विचारधाराओं—रस,रीति, ध्वनि एवम् अलङ्कार से भिन्न पूर्णत: नवीन विचारधारा 'कविशिक्षा सम्प्रदाय' का प्रवर्तक ग्रन्थ काव्यमीमांसा अलङ्कारशास्त्र विषयक ज्ञान देने में बहुत समर्थ भले ही न हो, किन्तु कवियों के लिए महान् उपयोगी है। काव्यशास्त्र के किसी भी एक ही सिद्धान्त का विवेचन इस ग्रन्थ का लक्ष्य नहीं था।

आचार्य राजशेखर का विचार है कि काव्य क्रिया में प्रवृत्त होने के पहले कवि को विभिन्न विद्याओं, उपविद्याओं में निष्णात होना चाहिए। अत: कवि बनने के इच्छुक व्यक्ति को शिक्षित करने के लिए रचित 'काव्यमीमांसा' ग्रन्थ कवि के लिए उपकारक समस्त विषयों का विवेचक है। इसी कारण आचार्य राजशेखर इस ग्रन्थ को काव्यविद्या के प्रौढ़ ज्ञान का कारण कहते हैं। यह वह मीमांसा है जिसमें वाणी के अंश—शब्द और अर्थ का सूक्ष्म विवेचन है।[1] शब्द और अर्थ के साहित्य से ही श्रेष्ठ

---

1. इयं न: काव्यमीमांसा काव्यव्युत्पत्तिकारणम्। इयं सा काव्यमीमांसा मीमांस्यो यत्र वाग्लव:॥

काव्यमीमांसा—(प्रथम अध्याय)

काव्यनिर्मित होता है, अत: काव्यमीमांसा में शब्द और अर्थ की तथा काव्यनिर्माण की परिपक्वता तक पहुँचाने वाले शब्दपाक एवम् अर्थपाक की भी गम्भीर विस्तृत विवेचना की गई है।

कविशिक्षा की तात्विक एवम् नूतन विवेचना ही इस ग्रन्थ की विलक्षणता है। अत: आचार्य राजशेखर 'कविशिक्षा सम्प्रदाय' के जनक कहे जा सकते हैं। उन्होंने इस विषय को इतना व्यवस्थित रूप दे दिया है कि परवर्ती आचार्य कविशिक्षा से सम्बद्ध कोई नवीन उद्‌भावना नहीं कर सके।

'कविशिक्षा' का काव्यनिर्माण में विशेष महत्व स्वीकार करने वाले आचार्य राजशेखर 'प्रतिभा' के परम पक्षधर हैं, क्योंकि शिक्षा का कार्य केवल बुद्धि का विकास तथा परिष्कार है, बुद्धि उत्पन्न कर देना नहीं।

प्राय: सभी आचार्यों ने काव्य के तीन अनिवार्य हेतुओं, प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास का अपने ग्रन्थों में विवेचन किया है— यद्यपि आचार्यों की दृष्टि में इन काव्य-हेतुओं का मानदण्ड अलग-अलग रहा है। आचार्य राजशेखर ने काव्य का एकमात्र हेतु शक्ति को माना है—उनके अनुसार काव्यनिर्माण का आन्तर प्रयत्न समाधि तथा बाह्य प्रयत्न अभ्यास दोनों काव्य के एकमात्र कारण शक्ति के उद्‌भासक हैं।[1] किन्तु शक्ति को काव्य का एकमात्र हेतु मानकर भी प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास की काव्यनिर्माण के लिए अनिवार्यता उन्होंने स्वीकार की है। काव्य के आठ जीवनस्त्रोतों (माताओं) में उन्होंने अभ्यास को भी स्थान दिया है।[2] कवि की काव्यरचना में अधिक से अधिक प्रवृत्ति तथा कवि का काव्यरचना की दृष्टि से अधिक से अधिक संस्कार दोनों ही निरन्तर अभ्यास से सम्भव हैं। प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को पृथक-पृथक् रूप में काव्यनिर्माण के लिए आवश्यक मानने वाले अन्य आचार्य हैं—हेमचन्द्र, वाग्भट तथा पण्डितराज जगन्नाथ। इन आचार्यो के अनुसार काव्य का एकमात्र कारण प्रतिभा ही है—हेमचन्द्र, वाग्भट तथा पण्डितराज जगन्नाथ। इन आचार्यो के अनुसार काव्य का एकमात्र कारण प्रतिभा ही है—हेमचन्द्र के अनुसार व्युत्पत्ति तथा अभ्यास काव्य की कारण रूप प्रतिभा के केवल

---

1. समाधिरान्तर: प्रयत्नो बाह्यस्त्वभ्यास:। तावुभावपि शक्तिमुद्‌भासयत:। 'सा केवलं काव्ये हेतु:' इति यायावरीय:।
काव्यमीमांसा—(चतुर्थ अध्याय)

2. स्वास्थ्यं प्रतिभाभ्यासो भक्तिर्विद्वत्कथा बहुश्रुतता। स्मृतिर्दार्ढ्यमनिर्वेदश्च मातरोऽष्टौ कवित्वस्य॥
काव्यमीमांसा—(दशम अध्याय)

संस्कारक ही हैं[1]—स्वयं वे काव्य निर्माण के साक्षात् कारण नहीं हैं। हेमचन्द्र ने प्रतिभा के अभाव में व्युत्पत्ति तथा अभ्यास की व्यर्थता स्वीकार की है। 'वाग्भटालङ्कार' के रचयिता वाग्भट काव्य का एकमात्र कारण प्रतिभा को ही मानते हैं किन्तु उन्होंने अभ्यास को काव्य की शीघ्र उत्पत्ति में सहायक माना है।[2] पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार काव्य का एकमात्र कारण प्रतिभा है।[3] व्युत्पत्ति और अभ्यास इस प्रतिभा के ही कारण रूप हैं—वे स्वयं काव्य के कारण नहीं हैं।

काव्य की कारणता के विषय में इस विचार से भिन्न विचार रखने वाले आचार्य हैं—दण्डी, रूद्रट, मम्मट और विद्याधर। इन आचार्यों ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को सम्मिलित रूप से ही काव्य का कारण स्वीकार किया है—पृथक्-पृथक् रूप में नहीं। यद्यपि इस विषय में आचार्य दण्डी का कुछ असामान्य विचार है। तीनों हेतुओं की सम्मिलित कारणता स्वीकार करके भी आचार्य दण्डी यदा कदा प्रतिभा के अभाव में भी व्युत्पत्ति और अभ्यास का महत्त्व स्वीकार करते हैं।[4] उनकी धारणा है कि काव्यरचना का निरन्तरप्रयास काव्यनिर्माण के लिए कवि को कुछ न कुछ सामर्थ्य अवश्य प्रदान करता

---

1. प्रतिभास्य हेतुः ।4।
   प्रतिभा नवनवोल्लेखशालिनी प्रज्ञा। अस्य काव्यस्य इदं प्रधानं कारणम्। व्युत्पत्यभ्यासौ तु प्रतिभाया एव संस्कारकाविति वक्ष्यते। (काव्यानुशासन- हेमचन्द्र) (प्रथम अध्याय)

2. प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम् भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्याद्यकविसङ्कथा ॥ 3 ॥
   अभ्यासस्तु पुनः पुनस्तदासेवनलक्षणस्तस्य काव्यस्य भृशमुत्पत्तिं करोति भृशोत्पत्तिकृद्भवति। अभ्यसने हि सतः स्थैर्यादेर्योगान्निर्विलम्बकाव्योत्पत्तेः वाग्भटालङ्कार (वाग्भट) (प्रथम परिच्छेद)

3. तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा सा च काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः। (पृष्ठ 25)
   रसगङ्गाधर (पण्डितराज जगन्नाथ)(प्रथमानन)

4. नैसर्गिकी च प्रतिभाश्रुतञ्च बहुनिर्मलम्।
   अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः (1/103)
   न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्
   श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् (1/104)
   तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
   कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते (1/105)
   काव्यादर्श (दण्डी)

है। इसका यही तात्पर्य माना जा सकता है कि श्रेष्ठ काव्य भले ही प्रतिभा के अभाव में न रचा जा सके परन्तु काव्य तो केवल व्युत्पत्ति और अभ्यास की सहायता से भी निर्मित हो सकता है—पूर्ण कवित्व भले ही न प्राप्त हो किन्तु विद्धद्गोष्ठी में काव्य सुनाने योग्य कवित्व की कवि को अभ्यास द्वारा प्राप्ति दण्डी को मान्य है। आचार्य वामन के अनुसार काव्य के तीन अंग हैं लोक, विद्या और प्रकीर्ण। अभियोग, वृद्धसेवा तथा अवेक्षण इसी प्रकीर्ण के अंग हैं[1]—निरन्तर प्रयत्न रूप अभ्यास, काव्यज्ञ गुरू की सेवा, तथा पद को रखने, हटाने की बुद्धि रूप अवेक्षण आदि का सम्बन्ध कवि के क्रमिक विकास तथा उसके द्वारा किए गए काव्यरचना के अभ्यास से है।

आचार्य क्षेमेन्द्र के अनुसार प्रारम्भ से पूर्णता प्राप्त करने तक शिक्षार्थी के पाँच क्रमिक विकास होते हैं—उन्हीं के नाम पर 'कविकण्ठाभरण' के पाँच अध्याय हैं।[2] उनमें प्रथम है अकवि को कवित्वप्राप्ति। ज्ञान और अभ्यास के दूसरे विकास क्रम को क्षेमेन्द्र ने शिक्षा कहा है—इस अवस्था में कवि को पद्य बन्धन की क्षमता प्राप्त होती है। आचार्य अभिनवगुप्त ने सहृदयों के हृदय में भी काव्यार्थ स्फुरण के लिए काव्याभ्यास तथा पूर्वजन्म के पुण्य से प्राप्त प्रतिभा आदि हेतुओं को आवश्यक माना है।[3] आचार्य विश्वेश्वर के अनुसार श्रम, नियोग, क्लेश तथा प्रतिभा काव्यसामग्रियाँ है। क्लेश से काव्यरचना के उद्योग रूप अभ्यास से ही तात्पर्य है।

---

1 लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि (1/3/1)
लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवाऽवेक्षणम्
प्रतिभानमवधानञ्च प्रकीर्णम् (1/3/11) काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति (वामन)

2 तत्राकवेः कवित्वाप्तिः शिक्षा प्राप्तगिरः कवेः
चमत्कृतिश्च शिक्षाप्तौ गुणदोषोद्गतिस्ततः ।3।
पश्चात् परिचयप्राप्तिरित्येते पञ्च संधयः
समुद्दिष्टाः क्रमेणैषां लक्ष्यलक्षणमुच्यते।4। (प्रथम संधि) कविकण्ठाभरण (क्षेमेन्द्र)

3. क्रमोल्लंघने हि सति नाटकादिविरचयताम् महान्तः प्रमादपभ्रंशाः भवन्ति। नहि सर्वो वाल्मीकिर्व्यासः कालिदासो भट्टेन्दुराजो वा, तेषामपि प्रागजन्मार्जित क्रमाभ्याससमुदित—
पाटवोत्पादितः ———————ज्ञानातिशयः। (2/293) अभिनव भारती (अभिनव गुप्त)

काव्यहेतु अभ्यास के स्वरूप के विषय में सभी आचार्यों का मतैक्य प्रतीत होता है। सभी विषयों के कौशल प्रदान करने वाला निरन्तर प्रयत्न अभ्यास है। सभी आचार्यों ने काव्यज्ञों अथवा काव्यविद् गुरुओं के सामीप्य में उनके उपदेश एवं शिक्षा की सहायता से काव्यनिर्माण के पुनः पुनः प्रयास को अभ्यास नाम दिया है। इस विषय में निरन्तरता अथवा असकृतरूपत्व का विशेष महत्व है क्योंकि किसी कार्य को करने का सकृत् नहीं बल्कि असकृत् (पुनः-पुनः) प्रयास ही अभ्यास कहलाता है।

अभ्यास के लिए गुरू की सहायता की, उसकी शिक्षा की सभी आचार्यों के अनुसार आवश्यकता है। कवि के सभी प्रकार के शिष्य रूपों के लिए राजशेखर ने गुरू की सहायता की अपेक्षा स्वीकार की है। गुरू की सहायता की आवश्यकता कवि को उसके उपदेश से काव्यनिर्माण के अभ्यास के लिए ही है। राजशेखर से पूर्व आचार्यों ने भी काव्यहेतु अभ्यास का तथा काव्यज्ञ के उपदेश अथवा शिक्षा का परस्पर सम्बद्ध रूप में ही उल्लेख किया है क्योंकि अभ्यास काव्यज्ञाताओं के निर्देश से ही सम्भव है और काव्यज्ञाताओं द्वारा प्राप्त काव्यनिर्माण सम्बन्धी निर्देश ही कवि शिक्षा के विषय हैं। इस प्रकार काव्यशास्त्र के व्यावहारिक पक्ष कवि शिक्षा का काव्य हेतु अभ्यास से महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है क्योंकि सभी आचार्यों को काव्यहेतु अभ्यास को क्रियान्वित करने के लिए काव्यज्ञ की शिक्षा की अपेक्षा मान्य है। काव्यज्ञ गुरू की सहायता एवं उसकी शिक्षा को काव्यनिर्माण के लिए आवश्यक मानने वाले आचार्यो में दण्डी, वामन, रूद्रट, राजशेखर, हेमचन्द्र, वाग्भट्, महिमभट्, मम्मट, विद्याधर, पण्डितराज जगन्नाथ आदि का नामोल्लेख किया जा सकता है। काव्यनिर्माण के लिए काव्यज्ञाता की उपासना को आचार्य भामह ने आवश्यक माना है।[1]इसका तात्पर्य काव्यज्ञ की शिक्षा एवं उसके द्वारा प्राप्त निर्देशों से अभ्यास करने से ही है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थ में वर्णित कवि के ज्ञान और अभ्यास रूप द्वितीय विकासक्रम को शिक्षा नाम दिया है। अभ्यासी कवि के लिए काव्यज्ञ गुरू की सहायता एवं उसका उपदेश उन्होंने भी आवश्यक माना है—शुष्क वैयाकरण या नीरस नैयायिक को गुरू बनाना

---

1 शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम् विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः (1/10)काव्यालङ्कार (भामह)

उन्होंने उचित नहीं माना है इसका तात्पर्य है, कि उन्हें कवि के लिए काव्यविद् गुरू की आवश्यकता मान्य है।[1]

इस प्रकार काव्यनिर्माण में अभ्यास की अनिवार्यता स्वीकार करने के साथ ही कवि के लिए शिक्षा की आवश्यकता का भी निराकरण नहीं किया जा सकता। विभिन्न आचार्यों की दृष्टि में इसका महत्त्व कम या अधिक भले ही हो सकता है। प्रतिभा के साथ-साथ ही कवि को व्याकरण, शब्दकोष छन्दज्ञान, अलङ्कार, काव्यशास्त्र, साहित्य, कला, विज्ञान आदि का तथा संसार में मनुष्यों एवं पशुओं के व्यवहार, वृक्षों और प्राकृतिक तत्वों का ज्ञान होना चाहिए। देश, काल, कविप्रसिद्धि तथा रस, भावों, से सम्बद्ध निर्देश भी कवि को प्राप्त होना चाहिए। इन सब विषयों के ज्ञान को कविशिक्षा के अन्तर्गत ही स्वीकार किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कविशिक्षा के लिए ही निर्मित ग्रन्थों में कवि के लिए बताए गए अभ्यास के उपाय तथा काव्यनिर्माण सम्बन्धी अन्य निर्देश कवि शिक्षा के ही विषय हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक काल से ही काव्यशास्त्रीय तथा नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों से कवियों को काव्यनिर्माण से सम्बद्ध विभिन्न निर्देश मिलते रहे। इसलिए सभी आचार्य किसी न किसी रूप में कविशिक्षा सम्बन्धी विवेचन से सम्बद्ध रहे। भरतमुनि का नाट्यप्रयोगों का पूर्ण ज्ञान देने वाला नाट्यशास्त्र नाट्यों की रचना की तथा उसके अभिनय की शिक्षा देता है। 'नाट्यशास्त्र' में नाट्यरचना सम्बन्धी विभिन्न निर्देश निश्चित रूप से कवि को दिए गए हैं। 'नाट्यशास्त्र' की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने अपनी टीका में एक स्थान पर कहा भी है एतच्च कवेः शिक्षार्थम्।[2] काव्यशास्त्र के सैद्धान्तिक विषयों (जो अप्रत्यक्ष रूप से कवि शिक्षा से सम्बद्ध हैं) के अतिरिक्त भामह आदि आचार्यों के ग्रन्थों में कवि की शिक्षा से प्रत्यक्ष रुप से सम्बन्ध रखने वाले निर्देश भी प्राप्त होते हैं जैसे

---

1. ——————————शिक्षा प्राप्तगिरः कवेः
   ———————————————— । 3 ।
   कुर्वीत साहित्यविदः सकाशे श्रुतार्जनं काव्यसमुद्भवाय न तार्किकं केवलशाब्दिकं वा कुर्याद् गुरूं सूक्तिविकास विघ्नम्।
   कविकण्ठाभरण (क्षेमेन्द्र) (प्रथम सन्धि)
2. वर्ष प्रचारार्थमाह हैमवता इति हिमवति बाहुल्येनैषां गतिरित्यर्थः एवं सर्वत्र......... एतच्च कवेः शिक्षार्थम्
   पृष्ठ - 203, (नाट्यशास्त्र त्रयोदश अध्याय की) अभिनवगुप्त की टीका

काव्यनिर्माणेच्छु के लिए व्याकरण ज्ञान की आवश्यकता पर बल। मालाकार के समान कवि को बुद्धिपूर्वक अर्थ को चुनने की शिक्षा देते हुए दिया गया अर्थ प्रयोग सम्बन्धी निर्देश कवि की शिक्षा का ही विषय है।[1] आचार्य दण्डी काव्यरचना करने हेतु कवि के लिए छन्दज्ञान की आवश्यकता पर बल देते हैं तथा इस प्रकार कविशिक्षा से सम्बद्ध माने जा सकते हैं। आचार्य वामन का काव्यविद्या अधिकारी निरूपण तथा प्रकीर्ण भेद निस्सन्देह कविशिक्षा के ही विषय हैं।[2] कवि की शिष्यावस्था एवं उनके शासनीयत्व, अशासनीयत्व का उल्लेख करके कविशिक्षा के महत्व को आचार्य वामन ने भी स्वीकार किया है। अर्थभेदों जाति, द्रव्य, क्रिया, गुण आदि के अनुरूप ही वर्णन का, कवि प्रसिद्धि के अनुकूल ही वर्णन का निर्देश करने के कारण रूद्रट का ग्रन्थ भी कविशिक्षा से ही सम्बद्ध माना जा सकता है।[3] आचार्य आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक से भी ध्वनि तथा रस प्रयोग सम्बन्धी निर्देश कवियों को प्राप्त हुए, सुकवियों के मुख्य व्यापारविषय रसादि हैं तथा इन कवियों को रसादि के निबन्धन में ही प्रमादरहित रहने का निर्देश कवियों को ध्वन्यालोक से ही प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त प्राथमिक अभ्यासी कवि की स्थिति आचार्य आनन्दवर्धन को भी मान्य है।[4] इसलिए कवि की शिष्यावस्था तथा इसके जीवन में शिक्षा का महत्व अप्रत्यक्ष रूप से आनन्दवर्धन द्वारा भी स्वीकृत माना जा सकता है। ध्वन्यालोक को

---

1. मालाकारो रचयति यथा साधु विज्ञाय मालाम् योज्यं काव्येष्वहितधिया तद्वदेवाभिधानम् (1/59)।

काव्यालङ्कार (भामह)

2. अरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्च कवयः (1/2/1) पूर्वे शिष्याः विवेकित्वात् (1/2/2) नेतरे तद्विपर्ययात् (1/2/3)

काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति (वामन)

3 अर्थ पुनरभिधावान् प्रवर्तते यस्य वाचकः शब्दः। तस्य भवन्ति द्रव्यं गुणः क्रिया जातिरिति भेदाः ।1।
सर्वः स्वं स्वं रूपं धत्तेऽर्थो दोशकालनियमं च तं च न खलु बध्नीयान्निष्कारणमन्यथातिरसात् ।7।
सुकविपरम्परया चिरमविगीततयान्यथा निबद्धं यत् वस्तु तदन्यादृशमपि बध्नीयात्तत्प्रसिद्धयैव ।8।

काव्यालङ्कार (रुद्रट) (सप्तम अध्याय)

4 मुख्याः व्यापारविषयाः सुकवीनां रसादयः तेषां निबन्धने भाव्यं तैः सदैवाप्रमादिभिः नीरसस्तु प्रबन्धो यः सोऽपशब्दो महान् कवेः

पृष्ठ - 295 (तृतीय उद्योत) (ध्वन्यालोक)

तदेवमिदानीन्तनकविकाव्यनयोपदेशे क्रियमाणे प्राथमिकानामभ्यासार्थिनां यदि परं चित्रेण व्यवहारः प्राप्तपरिणतीनान्तु ध्वनिरेव काव्यमिति स्थितमेतत्। पृष्ठ - 423 (ध्वन्यालोक - तृतीय उद्योत)

छोड़कर भामहादि के ग्रन्थों में प्रमुख रूप से गुण, अलंकार, दोष आदि के विवेचन की परम्परा रही है। गुण तथा अलंकार काव्य के उपकारक हैं तो दोष अपकारक। दोषों का विवेचन करके इनसे सावधान रहने का निर्देश सभी आचार्यों ने दिया है-इस दृष्टि से सभी आचार्य कविशिक्षा विषय से सम्बद्ध हो गए हैं। भामह, दण्डी, वामन, रूद्रट, कुन्तक, महिमभट्ट, मम्मट आदि सभी आचार्यों ने दोषविवेचन किया है। दण्डी काव्य में अल्पदोष की भी उपेक्षा न करने का निर्देश देते हैं। महिमभट्ट का दोषविवेचन निश्चित रूप से आज के तथा भावी कविमार्ग पर जाने के इच्छुकों के अनुशासन के लिए है।[1] इस बात को उन्होंने दोष वर्णन प्रसंग के अन्त में स्वीकार किया है। इसी प्रकार सभी आचार्यों का दोषविवेचन निस्सन्देह कवियों के निर्देश तथा शिक्षा के लिए है। कवि को किसी न किसी रूप में काव्यनिर्माण के सम्बन्ध में निर्देश देने के कारण काव्यशास्त्र के सभी आचार्यों के ग्रन्थों में कविशिक्षा का विषय अवश्य भलकता है।

किन्तु कविशिक्षा के इस अल्परूप में परिदृष्ट विषय को नवीन रूप बाद में राजशेखर के समय से प्राप्त हुआ। राजशेखर के प्रमुख ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' में ही कविशिक्षा को अतिरिक्त पूर्ण विषय का विस्तार प्राप्त हुआ। कवि के जीवन में शिक्षा के महत्व को स्वीकार करने के कारण ही आचार्य राजशेखर ने काव्यविद्या गुरूओं एवं काव्यविद्यास्नातक शिष्यों की काल्पनिक पूर्व परम्परा का उल्लेख काव्यमीमांसा के प्रारम्भ में ही किया है। राजशेखर ने काव्यशास्त्र के पारम्परिक विषयों से अतिरिक्त विपय को अपने विवेचन का विषय बनाया-कवि कैसे बना जा सकता है, कवि बनने के प्रारम्भिक चरण में तथा काव्यरचना करने से पूर्व कवि को किन किन विषयों के ज्ञान की आवश्यकता है-कवि बनने के साधन, शिक्षार्थियों के भेद, कवियों के भेद, कवि की आवश्यकताएं, कवि की दिनचर्या एवम् व्यवहार, काव्य हेतुओं का विस्तारपूर्वक विवेचन, काव्यरचना से पूर्व ध्यान रखने योग्य बातें, एक शिष्य का पूर्ण कवि बनने का विकासक्रम, अभ्यास के उपाय, देश काल एवं कविसमय का विवेचन, काव्यनिर्माण सम्बन्धी अन्य विभिन्न निर्देश आदि विषय काव्यशास्त्रीय जगत के लिए अधिकांशत:

---

1 इदमद्यतनानां च भाविनां चानुशासनम् लेशत: कृतमस्माभि: कविवर्त्मारुरुक्षताम् । 126।
(द्वितीय विमर्श) व्यक्तिविवेक (महिमभट्ट)

नवीन थे, बाद में यही विषय कविशिक्षा के अन्तर्गत विभिन्न आचार्यों द्वारा स्वीकृत हुए। आचार्य राजशेखर ने कवि की प्रारम्भिक अवस्था को उसका शिष्यरूप माना है। शिष्यरूप से उसके कवि रूप में परिवर्तित होने वाले क्रमिक विकास को स्वीकार करने के कारण ही उनका ग्रन्थ कवि बनने से सम्बद्ध विभिन्न निर्देशों तथा शिक्षाओं का विवेचक है।

कवि की शिष्यावस्था:- प्रारम्भिक कवि के लिए गुरू का सामीप्य तथा गुरूकुल की आवश्यकता आचार्य राजशेखर को विशेष रूप से मान्य है। काव्यविद् गुरू की आवश्यकता केवल राजशेखर ने ही नहीं किन्तु अन्य आचार्यों ने भी प्रारम्भिक अवस्था के कवि के लिए समान रूप में स्वीकार की है, क्योंकि किसी भी नवीन विषय का ज्ञान प्रतिभा होने पर भी प्रयत्न तथा सहायता के बिना कठिन है।

आचार्य राजशेखर कवि बनने के इच्छुकों के दो प्रकार स्वीकार करते हैं-

1. बुद्धिमान् शिष्य :- बुद्धिमान् शिष्य में पूर्वजन्म के संस्कार से प्राप्त सहजा प्रतिभा होती है। ऐहिक संस्कारों के बिना स्वयं ही उद्‌बुद्ध सहजा प्रतिभा सम्पन्न इन शिष्यों का वैशिष्ट्य है- शास्त्रज्ञान में स्वाभाविक रूचि तथा श्रवण, ग्रहण, धारण, मनन, शंकासमाधान एवम् तत्वज्ञान की निरपेक्ष सामर्थ्य।[1] किन्तु गुरू की आवश्यकता इन शिष्यों के लिए भी सर्वमान्य है। इन शिष्यों की जिज्ञासु वृत्ति गुरु के सहवास से यथार्थ वस्तु के ग्रहण की प्रेरणा प्राप्त करती है। इसके अतिरिक्त शंकासमाधान तथा निश्चित तत्व का ज्ञान भी गुरू के सहवास तथा प्रेरणा से ही सम्भव है। बुद्धिमान् शिष्य की प्रतिभा अपने विकास हेतु, काव्य के सूक्ष्म से सूक्ष्म ज्ञेय विषयों को जानने के लिए काव्यनिर्माण में पूर्णतः प्रवृत्त होने के लिए तथा काव्यपरिपक्वता की प्राप्ति के लिए काव्यविद्यावृद्ध गुरूजन के सहवास की अपेक्षा रखती है। सहजा प्रतिभा सम्पन्न होने पर भी शिष्य का काव्यनिर्माण सम्बन्धी अनुभव तथा ज्ञान काव्यविद्या वृद्ध गुरू के अनुभव तथा ज्ञान की अपेक्षा कम ही होगा यह सर्वमान्य है- गुरू के काव्य सम्बन्धी ज्ञान

---

1 यस्य निसर्गतः शास्त्रमनुधावति बुद्धिः स बुद्धिमान्

बुद्धिमान् शुश्रूषते शृणोति गृह्णीते धारयति विजानात्यूहतेऽपोहति तत्त्वम् चाभिनिविशते।

(काव्यमीमांसा - चतुर्थ अध्याय)

से लाभ उठाकर वह काव्यनिर्माण में परिवक्वता प्राप्त कर सकता है। इसीलिए राजशेखर ने उसे गुरूकुल में रहने का परामर्श दिया है। काव्य क्या है तथा काव्यनिर्माण कैसे सम्भव है आदि विषयों की शिक्षा एवं अभ्यास के अभाव में सहज प्रतिभा सम्पन्न शिष्य का भी काव्यनिर्माण में समर्थ होना दुष्कर हो सकता है। अपनी सहजा प्रतिभा तथा शास्त्रज्ञान में स्वाभाविक रूप से प्रवृत्त बुद्धि के कारण बुद्धिमान् शिष्य स्वाध्याय से भी काव्य निर्माण से सम्बद्ध बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकता है फिर भी उसके लिए कविशिक्षक गुरू के सामीप्य तथा उसके सामीप्य में काव्याभ्यास की आवश्यकता का पूर्णत: निराकरण नहीं किया जा सकता। यद्यपि बुद्धिमान् शिष्य में यह वैशिष्ट्य अवश्य होता है कि गुरू का केवल संकेत ही उसे काव्यविद्या के ज्ञान में तथा परिपक्व काव्य की रचना में समर्थ बना देता है। गुरू के सामीप्य में अल्प अभ्यास उसे सुकवि बनाने के लिए पर्याप्त है।

2. आहार्यबुद्धि शिष्य : द्वितीय प्रकार के शिष्य के (आहार्यबुद्धि) नामकरण का आधार है उसकी आहार्या प्रतिभा। इस प्रतिभा की उत्पत्ति ऐहिक संस्कारों से होती है। ऐहिक संस्कार के अन्तर्गत शास्त्रों के अभ्यास तथा ज्ञान को स्वीकार किया जा सकता है, जिनके द्वारा जन्म के पश्चात् आहार्यबुद्धि शिष्य की प्रतिभा उत्पन्न एवं विकसित होती है। ऐसे शिष्य के लिए आचार्य राजशेखर ने गुरूकुल में प्रवेश तथा गुरु के निरन्तर सामीप्य तथा सहायता की आवश्यकता बुद्धिमान् शिष्य की अपेक्षा अधिक मात्रा में स्वीकार की है।[1] शास्त्राभ्यास से प्रतिभा के उत्पन्न हो जाने के पश्चात् उसमें भी श्रवणेच्छा, श्रवण, ग्रहण, धारण, मनन, शंका समाधान आदि गुण उत्पन्न होते हैं किन्तु उनके क्रियान्वित होने में विलम्ब अधिक लगता है। गुरू का सकृत् सङ्केत उसके लिए तत्वज्ञान तथा सन्देहों के निराकरण हेतु पर्याप्त नहीं है। इसका कारण है उसमें सहज स्वाभाविक प्रतिभा का अभाव। उसको शास्त्रों के अभ्यास से उत्पन्न अपनी आहार्या प्रतिभाके आधार पर काव्यनिर्माण सम्बन्धी शिक्षाएँ प्राप्त करने के लिए गुरू के निरन्तर सामीप्य तथा उसके असकृत् सङ्केत एवं पथप्रदर्शन की अपेक्षा होती है।

---

1 यस्य च शास्त्राभ्यास: संस्कुरुते बुद्धिमसावाहार्यबुद्धि:। आहार्यबुद्धेरप्येत एव गुणा: किन्तु प्रशास्तारमपेक्षन्ते।
(काव्यमीमांसा - चतुर्थ अध्याय)

इस प्रकार बुद्धिमान् तथा आहार्यबुद्धि दोनों प्रकार के शिष्यों को काव्यसम्बन्धी विभिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त करके कवि बनने के लिए गुरू के सामीप्य की तथा काव्य निर्माण के अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है।[1] किन्तु जहाँ सहजा प्रतिभा के कारण बुद्धिमान् शिष्य को सुकवि बनने के लिए गुरु के सकृत् सङ्केत तथा अल्प अभ्यास की आवश्यकता होती है वहाँ आहार्य बुद्धि शिष्य की आहार्या प्रतिभा उसे गुरू के निरन्तर सामीप्य, निरन्तर पथप्रदर्शन तथा गुरु के समीप ही निरन्तर काव्यनिर्माण के अभ्यास के पश्चात् कवि बना सकने में समर्थ होती है। दोनों शिष्यों की प्रतिभा भिन्नता ही इस भेद का कारण है।

दुर्बुद्धि :- बुद्धिमान् तथा आहार्यबुद्धि के अतिरिक्त कुछ शिष्य पूर्णत: मूढ़ होते हैं जिन्हें आचार्य राजशेखर दुर्बुद्धि कहते हैं-। इस प्रकार के शिष्य में न तो सहजा प्रतिभा होती है और न ही वह शास्त्रों के अभ्यास से आहार्या प्रतिभा की प्राप्ति में समर्थ होता है। पूर्वजन्म के संस्कार से प्राप्त सहजा प्रतिभा तथा ऐहिक संस्कारों से स्वप्रयत्न द्वारा प्राप्त आहार्या प्रतिभा दोनों ही के अभाव में गुरू द्वारा दी गई काव्यनिर्माण सम्बन्धी शिक्षाएँ भी उसके लिए व्यर्थ होती हैं- इस कारण उसका कवि बन सकना प्राय: असम्भव सा ही है। उसका कवित्व केवल एक ही स्थिति में सम्भव है-जब मन्त्रों के अनुष्ठान से दैवी शक्ति द्वारा कवित्वक्षमता रूप प्रतिभा प्राप्त हो जाए।[2]

प्रतिभा की स्थिति होने पर भी प्रौढ़ एवं श्रेष्ठ काव्य की रचना हेतु विभिन्न शिक्षाओं एवं क्रमिक अभ्यास की भी अनिवार्यता है। कवि की शिष्यावस्था से पूर्ण कवि बनने तक के विकासक्रम

---

1. अहरहः सुगुरूपासना तयोः प्रकृष्टो गुणः । सा हि बुद्धिविकाशकामधेनुः। तदाहुः ''प्रथयति पुरः प्रज्ञाज्योतिर्यथार्थ परिग्रहे तदनु जनयत्युहापोह क्रियाविशदं मनः। अभिनिविशते तस्मात्तत्वं तदेकमुखोदयम् । सह परिचयो विद्यावृद्धैः क्रमादमृतायते॥' तत्र बुद्धिमतः प्रतिपत्तिः। स खलु सकृदभिधानप्रतिपन्नार्थः कविमार्गं मृगयितुं गुरूकुलमुपासीत। आहार्यबुद्धेस्तु द्वयमप्रतिपत्तिः सन्देहश्च। स खल्वप्रतिपन्नमर्थम् प्रतिपत्तुं सन्देहं च निराकर्तुमाचार्यानुपतिष्ठेत।
(काव्यमीमांसा - चतुर्थ अध्याय)

2. दुर्बुद्धेस्तु सर्वत्र मतिविपर्यास एव। स हि नीलीमेचकितसिचयकल्पोऽनाधेयगुणान्तरत्वात्तं यदि सारस्वतोऽनुभावः प्रसादयति (काव्यमीमांसा—चतुर्थ अध्याय)

को तथा इस विकासक्रम के मध्य शिक्षा एवं अभ्यास के महत्व को अधिकतर आचार्यों ने इसी कारण स्वीकार किया है।

भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में शिष्य के निम्न गुण स्वीकार किए गए हैं:-

उहापोह, स्मृति, मति, मेधा, श्लाघा, राग, संघर्ष और उत्साह।[1]

काव्यविद्या के शिष्य में भी इन गुणों का होना निश्चय ही आवश्यक है। इन गुणों में से संघर्ष तथा उत्साह को अभ्यास से ही सम्बद्ध माना जा सकता है।

आचार्य राजशेखर के बहुत पूर्व आचार्य वामन ने दो प्रकार के कविभेदों को स्वीकार किया है।[2] शासनीयत्व, अशासनीयत्व के उल्लेख के कारण तथा काव्यविद्या के अधिकारी निरूपण के अन्तर्गत विवेचन के कारण इन कविभेदों को शिष्यभेदों के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है। अरोचकी तथा सतृणाभ्यवहारी काव्यविद्या के काव्यनिर्माणेच्छु शिष्य हैं- किन्तु अपने विवेक के कारण केवल अरोचकी शिष्यों का ही कवि बनना सम्भव है। सतृणाभ्यवहारी शिष्यों का अविवेक उन्हें काव्यविद्या का अधिकारी नहीं बनने देता। उनके अविवेचनशील स्वभाव के लिए शिक्षाएँ एवं निर्देश अर्थवत् नहीं होते। कवि के इन्हीं भेदों को आचार्य विनयचन्द्र ने अपने 'काव्यशिक्षा' नामक ग्रन्थ में शिष्य भेदों के रूप में स्वीकार किया है।[3] शिष्यरूप इन कवियों के विवेक का कवित्वबीज प्रतिभा की स्थिति से तथा अविवेक का कवित्वबीज प्रतिभा के अभाव से सम्बन्ध मानकर यह स्वीकार किया जा सकता है कि शिक्षा एवं निर्देश उन्हीं के लिए लाभकारी है जो स्वयं कवित्वप्रतिभा सम्पन्न हों अन्यथा शिक्षाएँ एवं निर्देश प्रतिभा के अभाव में व्यर्थ हैं- प्रायः सभी आचार्यों को यही मान्य भी है क्योंकि सभी ने शिक्षा एवं अभ्यास के महत्व को प्रतिभा का अस्तित्व होने पर ही स्वीकार किया है। केवल

---

1 शिष्यस्य गुणाः
उहापोहो मतिश्चैव स्मृतिर्मेधा तथैव च । 36। मेधास्मृतिर्गुणश्लाघारागः संघर्ष एव च। उत्साहश्च षडेवैतान् शिष्यस्यापि गुणान् विदुः । नाट्यशास्त्र — (षडविंशोऽध्यायः) (पेज - 300)

2 अरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्च कवयः (1/2/1) काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति (वामन)

3 केऽप्यरोचकिनः केऽपि सतृणाभ्यवहारिणः, तेषु पूर्वे विवेकित्वादेनामर्हन्ति नापरे। 30।
शिक्षा परिच्छेद - पृष्ठ - 3 (काव्यशिक्षा - विनयचन्द्रसूरि)

आचार्य दण्डी प्रतिभा के अभाव में भी व्युत्पत्ति तथा अभ्यास के महत्व को कुछ सीमा तक स्वीकार करते हैं, क्योंकि व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से प्रतिभा के अभाव मे भी किञ्चित् काव्य-सामर्थ्य की प्राप्ति उन्हें मान्य है।[1] इसके अतिरिक्त राजशेखर द्वारा स्वीकृत दुर्बुद्धि शिष्य तथा क्षेमेन्द्र के ग्रन्थ में विवेचित अशिष्य तो प्रतिभा के अभाव में दैवी प्रेरणा से ही कवि बन जाते हैं।

आचार्य राजशेखर से पूर्व शिष्य भेदों का विवेचन आचार्य वामन के अतिरिक्त अन्य किसी आचार्य ने नहीं किया है। किन्तु शिक्षा शिष्य को ही दी जाती है- अत: 'काव्यज्ञ की शिक्षा द्वारा अभ्यास' को काव्यहेतु मानकर सभी आचार्यों ने अप्रत्यक्ष रूप से कवि की शिष्यावस्था को स्वीकार किया है। काव्यज्ञ की उपासना एवं शिक्षा को भामह, दण्डी, वामन, रूद्रट, हेमचन्द्र, वाग्भट्, महिमभट्ट मम्मट आदि सभी आचार्यों ने कवि के लिए अनिवार्य माना है-इस विषय का पूर्वोल्लेख हो चुका है। काव्यमार्ग में प्रारम्भिक अभ्यासी कवियों की स्थिति को 'ध्वन्यालोक' के रचयिता आचार्य आनन्दवर्धन ने भी स्वीकार किया है यद्यपि उन्होंने कवि तथा सहृदय की परिपक्वता को काव्य के श्रेष्ठ रूप ध्वनि काव्य से ही सम्बद्ध माना है। आनन्दवर्धन की धारणा है कि रसाभावादि विषय की विवक्षा न होने पर जो अलङ्कार निबन्धन होता है वह चित्रकाव्य का विषय है-रसादि विवक्षा से जहाँ भी तात्पर्य हो वहाँ सर्वत्र ध्वनि काव्य होता है। प्रारम्भिक अभ्यासी कवि ही रसादि तात्पर्य की अपेक्षा किए बिना चित्रकाव्य की रचना करते हैं किन्तु परिपक्व कवियों का केवल ध्वनि काव्य ही होता है।[2]

आचार्य राजशेखर के ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' से प्रारम्भ शिक्षाग्रन्थों का रचना क्रम आचार्य राजशेखर के पश्चात् बढ़ता ही गया। राजशेखर के परवर्ती आचार्य क्षेमेन्द्र ने कविशिक्षा से ही सम्बद्ध अपने 'कविकण्ठाभरण' नामक ग्रन्थ में शिष्य की अवस्था से कवि बनने तक का विकासक्रम स्वीकार किया है। इस विकासक्रम के अन्तर्गत विभिन्न स्थितियों को दृष्टि में रखते हुए आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थ को उसी क्रम से पाँच भागों में विभाजित किया है। यह पाँच विभाग प्रारम्भिक कवि के

---

1. न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम् श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् (1/104) काव्यादर्श (दण्डी)

2 तदेवमिदानीन्तनकविकाव्यनयोपदेशे क्रियमाणे प्राथमिकानामभ्यासार्थिनाम् यदि परं चित्रेण व्यवहार: प्राप्तपरिणतीनान्तु ध्वनिरेव काव्यमिति स्थितमेतत् ध्वन्यालोक (तृतीय उद्योत) (पेज - 423)

काव्यनिर्माण सम्बन्धी क्रमिक शिक्षा से सम्बद्ध हैं। आचार्य राजशेखर के समान आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी तीन प्रकार के शिष्य भेद स्वीकार किए हैं- केवल उनके नामों में भिन्नता है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने कवित्वप्राप्ति के दिव्य तथा मानुष दो प्रकार के उपाय बतलाए हैं।[1] मानुष प्रयत्न शिक्षार्थी की योग्यता के अनुसार भिन्न होते हैं- आचार्य राजशेखर ने कवित्वप्राप्ति के प्रयत्नों का प्रतिभा की भिन्नता से भिन्न-भिन्न रुप स्वीकार किया है। अपनी योग्यता के आधार पर कवित्वप्राप्ति के भिन्न प्रयत्नों से सम्बद्ध शिक्षार्थी क्षेमेन्द्र के अनुसार तीन हैं:-

क. अल्पप्रयत्नसाध्य, ख. कष्टसाध्य तथा ग. दु:साध्य।[2]

इन्हें ही क्रमशः सुशिष्य, दु:शिष्य तथा अशिष्य भी कहा जा सकता है। आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा विवेचित इन शिष्यों का आचार्य राजशेखर के क्रमशः बुद्धिमान्, आहार्यबुद्धि एवं दुर्बुद्धि शिष्यों से साम्य दृष्टिगत होता है- क्योंकि क्षेमेन्द्र के अल्पप्रयत्न साध्य सुशिष्य के लिए भी राजशेखर के बुद्धिमान् शिष्य के समान साहित्य के ज्ञाताओं की सत्संगति में अल्प अभ्यास ही सुकवि बनने के लिए पर्याप्त है। दु:शिष्य को आहार्यबुद्धि शिष्य के समान काव्यसम्बन्धी विविध ज्ञान तथा काव्यनिर्माण की प्रेरणा के लिए महाकवि के साहाय्य की तथा उसके सामीप्य में अधिक अभ्यास की आवश्यकता है। काव्यनिर्माण सम्बन्धी शिक्षाएँ केवल इन सुशिष्यों तथा दु:शिष्यों के लिए ही लाभकर हैं। क्षेमेन्द्र द्वारा विवेचित तृतीय प्रकार का 'अशिष्य' राजशेखर के दुर्बुद्धि शिष्य के समान पूर्णतः मूढ़ है-शिक्षा एवम् अभ्यास उसके लिए व्यर्थ हैं। क्षेमेन्द्र का कवित्वप्राप्ति का दिव्य उपाय ऐसे ही शिष्यों के लिए सार्थक माना जा सकता है। आचार्य क्षेमेन्द्र की धारणा है कि शिक्षा एवं अभ्यास शिष्य में कवित्ववृत्ति का उदय भी करा सकते हैं किन्तु जिनमें स्वयं ही कवित्ववृत्ति विद्यमान हो (जैसे दु:शिष्य में), शिक्षा एवं अभ्यास द्वारा उनके काव्यनिर्माण से सम्बद्ध विभिन्न दोषों का समाप्त होना सम्भव है।

---

1. अथेदानीमकवेः कवित्वशक्तिरुपदिश्यते प्रथमं तावद् दिव्यः प्रयत्नः ततः पौरूषः (प्रथम संधि)

कविकण्ठाभरण (क्षेमेन्द्र)

2. तत्र त्रयः शिष्याः काव्यक्रियायामुपदेश्याः अल्पप्रयत्नसाध्यः, कृच्छ्रसाध्यः असाध्यश्चेति। (प्रथम सन्धि)

कविकण्ठाभरण (क्षेमेन्द्र)

काव्यमीमांसा में वर्णित विभिन्न शिष्यों का कवि स्वरूप :-

आचार्य राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में काव्य तथा काव्याङ्ग विद्याओं के विभिन्न शिष्यों के कविस्वरूप का भिन्न-भिन्न नामकरण किया है।

सारस्वत कविः- सहज स्वाभाविक प्रतिभा सम्पन्न बुद्धिमान् शिष्य गुरू के अल्प संकेत मात्र से काव्य, काव्याङ्ग विद्याओं में निष्णात होकर काव्यनिर्माण की पूर्ण सामर्थ्य प्राप्त करता है- यह कवि किसी भी विषय पर स्वतन्त्र रूप से काव्यरचना करने में पूर्णतः समर्थ होता है।[1] किन्तु सहज प्रतिभा सम्पन्न होने पर भी पूर्ण रचना स्वातन्त्र्य हेतु उसे विभिन्न काव्यसम्बन्धी, लोकसम्बन्धी तथा शास्त्र सम्बन्धी विषयों में व्युत्पन्न होने की आवश्यकता पड़ती है।

आभ्यासिक कविः- जन्म के पश्चात् शास्त्रों आदि के अध्ययन रूप संस्कार से प्राप्त आहार्या प्रतिभा से सम्पन्न आहार्यबुद्धि शिष्य का कविस्वरूप 'आभ्यासिक' नाम से अभिहित है।[2] आहार्यबुद्धि शिष्य के अभ्यासी स्वरूप के कारण ही उसका कविरूप 'आभ्यासिक' कहलाया क्योंकि उसके जीवन में प्रतिभोत्पत्ति से लेकर कवि बनने तक निरन्तर अभ्यास का ही स्थान है। निरन्तर गुरू के पथप्रदर्शन में काव्यरचना का अभ्यास ही उसे कवि बना पाता है। अभ्यास द्वारा जितनी काव्यक्षमता प्राप्त हो, उसी के अनुरूप उसका काव्यनिर्माण श्रेयस्कर है। अतः अभ्यास द्वारा प्राप्त अपनी सामर्थ्यसीमा को दृष्टि में रखते हुए वह सीमित रूप में सीमित विषयों पर ही काव्यरचना कर सकता है।

औपदेशिक कविः तृतीय प्रकार के दुर्बुद्धि शिष्य का कवि रूप मन्त्रादि के अनुष्ठान एवं उपदेश आदि के कारण सरस्वती की कृपा से कवित्व प्राप्ति के कारण 'औपदेशिक' कहलाया।[3] वह स्वतन्त्र रूप से अथवा सीमित रूप से काव्यरचना नहीं कर सकता-किन्तु जिस विषय पर काव्यरचना की उसे दैवी प्रेरणा मिले उसके लिए उसी विषय पर काव्यरचना करना सम्भव है। दैवी प्रेरणा के अभाव में वह किसी भी विषय पर काव्यरचना करने में असमर्थ है।

---

1 जन्मान्तरसंस्कारप्रवृत्तसरस्वतीको बुद्धिमान्सारस्वतः। सारस्वतः स्वतन्त्रः स्याद् (काव्यमीमांसा-चतुर्थ अध्याय)

2 इह जन्माभ्यासोद्भासितभारतीक आहार्यबुद्धिराभ्यासिकः। ...... भवेदाभ्यासिको मितः।
(काव्यमीमांसा-चतुर्थ अध्याय)

3 उपदेशितदर्शितवाग्विभवो दुर्बुद्धिरौपदेशिकः। औपदेशिककविस्त्वत्र वल्गु फल्गु च जल्पति।
(काव्यमीमांसा-चतुर्थ अध्याय)

कविराजत्व :- आचार्य श्यामदेव दुर्बुद्धि की अपेक्षा आभ्यासिक को तथा आभ्यासिक की अपेक्षा बुद्धिमान् को श्रेष्ठ मानते हैं किन्तु आचार्य राजशेखर के अनुसार श्रेष्ठकवित्व की कसौटी है उत्कर्ष।[1] जिस कवि में जितना अधिक उत्कर्ष हो वह उतना ही श्रेष्ठ है। श्रेष्ठकवित्व (आचार्य राजशेखर के शब्दों में कविराजत्व) उसी को प्राप्त होता है- जिसमें सारस्वत कवि का वैशिष्ट्य सहज प्रतिभा सम्पन्न बुद्धिमता, आभ्यासिक कवि का वैशिष्ट्य काव्य तथा काव्याङ्ग विद्याओं में निरन्तर अभ्यास से प्राप्त क्षमता तथा औपदेशिक कवि का वैशिष्ट्य मन्त्रानुष्ठान एवं दैवी कृपा से प्राप्त कवित्व क्षमता सभी गुण समान रूप से विद्यमान् हों। किन्तु इन तीनों गुणों का एकत्र होना सामान्यत: कठिन होने के कारण कवियों का कविराज की श्रेणी तक पहुँचना भी कठिन ही है।[2] सारस्वत कवि आभ्यासिक कवि के निरन्तर अभ्यास से प्राप्त कवित्व क्षमता रूप वैशिष्ट्य को ग्रहण कर सकता है परन्तु मन्त्रानुष्ठान से दैवी कृपा की प्राप्ति तो किसी विरल को ही होती है और बुद्धिमान् को इसकी प्राप्ति हो ही जाना अनिवार्य नहीं है। आभ्यासिक कवि सारस्वत कवि के वैशिष्ट्य सहज प्रतिभा सम्पन्नता को प्राप्त नहीं कर सकता तथा मन्त्रानुष्ठान से प्राप्त दैवीकृपा उसके लिए भी सहज सुलभ नहीं है। इसी प्रकार दैवी प्रेरणा प्राप्त औपदेशिक कवि में सहज स्वाभाविक बुद्धिमता तथा अभ्यास से प्राप्त क्षमता दोनों का प्राप्त होना कठिन है। अत: कविश्रेष्ठता की कसौटी कविराजत्व प्राय: दुर्लभ है परन्तु जिसे सौभाग्य से तीनों प्रकार की क्षमताएं प्राप्त हों वह कविश्रेष्ठ है, जिसकी आचार्य राजशेखर के अनुसार कविराज संज्ञा है।

शिष्य का कवि बनने तक का विकासक्रम :- कवि की अवस्थाएँ :- आचार्य राजशेखर ने कवि की दस अवस्थाओं का विवेचन किया है। इन अवस्थाओं को शिष्य से कवि बनने तक के विकासक्रम के अन्तर्गत विभिन्न स्थितियों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। प्रथम सात अवस्थाएँ बुद्धिमान् तथा आहार्यबुद्धि से तथा तीन औपदेशिक कवि से सम्बद्ध मानी गयी है। यह अवस्थाएँ कवि के गुरूकुल में प्रवेश करने, काव्यरचना का अभ्यास करने तथा क्रमश: पूर्ण कवि बन जाने से सम्बद्ध हैं। प्रथम सात अवस्थाओं में से प्रारम्भिक पाँच अवस्थाएँ शिष्य की हैं तथा अन्तिम दो कवि की।

---

1. 'उत्कर्ष: श्रेयान्' इति यायावरीय:। स चानेकगुणसन्निपाते भवति। (काव्यमीमांसा-चतुर्थ अध्याय)

2. बुद्धिमत्त्वं च काव्याङ्गविद्यास्वभ्यासकर्म च। कवेश्चोपनिषच्छक्तिस्त्रयमेकत्र दुर्लभम्॥
काव्यकाव्याङ्गविद्यासु कृताभ्यासस्य धीमत:। मन्त्रानुष्ठाननिष्ठस्य नेदिष्ठा कविराजता॥ (काव्यमीमांसा-चतुर्थ अध्याय)

काव्यविद्यास्नातकः— काव्यनिर्माण सम्बन्धी शिक्षा के लिए गुरू के सामीप्य तथा गुरुकुल मे प्रवेश को महत्व देने के कारण ही आचार्य राजशेखर की दृष्टि में कवि की प्रथम प्रारम्भिक अवस्था है काव्यविद्यास्नातक।[1] काव्य की विद्याओं, उपविद्याओं का ग्रहण करने के लिए तथा गुरू से काव्य निर्माण सम्बन्धी शिक्षाएँ ग्रहण करते हुए काव्यरचना का अभ्यास करने के लिए जब शिष्य का गुरूकुल में प्रवेश होता है उस अवस्था में उसे काव्यविद्यास्नातक कहते हैं। आचार्य राजशेखर के विवेचन से उस समय काव्यनिर्माण की शिक्षा के लिए गुरुकुलों के अस्तित्व की सम्भावना की जा सकती है।

हृदयकवि— द्वितीय अवस्था में शिष्य रूप कवि जो काव्यरचना करता है उसका प्रकटीकरण न करके उसे हृदय में ही निगूहित रखता है।[2] यह हृदयनिगूहन कवि की अपरिपक्वावस्था का ही सूचक माना जा सकता है क्योंकि पूर्ण परिपक्व कवि के लिए हृदय में कविता करने की तथा हृदय में ही छिपाकर रखने की क्या आवश्यकता है-वह तो अपने काव्य को निश्चिन्त होकर प्रकट करता है। अपरिपक्व कवि दोषभय से ही अपने काव्य को हृदय में छिपाने के लिए बाध्य होता होगा। हृदयकवि की अवस्था निश्चय ही उस समय नहीं रह जाती होगी जब कवि को अपने काव्य के दोषरहित होने का विश्वास हो जाए।

अन्यापदेशी :— कवि की यह तृतीय अवस्था हृदयकवि की अवस्था के समान ही है-इसमें कवि रचना को प्रकट अवश्य करता है। किन्तु अपनी रचना बताकर नहीं बल्कि किसी दूसरे की रचना बताकर।[3] सम्भवतः यहाँ भी अपनी रचना सामर्थ्य पर अविश्वास तथा दोषभय ही कारण है—क्योंकि दूसरे की रचनारूप में प्रकट किए गए काव्य में दोष निकलने पर कवि के स्वयं के अपमान का भय नहीं रहता।

---

1 यः कवित्वकामः काव्यविद्योपविद्याग्रहणाय गुरूकुलान्युपासते स विद्यास्नातकः।

(काव्यमीमांसा-पञ्चम अध्याय)

2 यो हृदय एव कवते च स हृदयकविः (काव्यमीमांसा-पञ्चम अध्याय)

3 यः स्वमपि काव्यं दोषभयादन्यस्येत्यपदिश्य पठति सोऽन्यापदेशी। (काव्यमीमांसा-पञ्चम अध्याय)

हृदयकवि और अन्यापदेशी यह दोनों अवस्थाएँ कवि द्वारा काव्यरचना के लिए किए गये केवल प्रारम्भिक प्रयास ही हैं- इन दोनों अवस्थाओं में कवि में काव्यरचना की क्षमता न होने के ही बराबर है। यद्यपि हृदय कवि में आत्मविश्वास नाममात्र भी नहीं है। किन्तु अन्यापदेशी में विश्वास अङ्कुरित होने लगता है।

सेविता:- काव्यविद्याओं के ज्ञान तथा अभ्यास आदि के द्वारा काव्यरचना में किञ्चित् समर्थ होना कवि की 'सेविता' अवस्था में सम्भव है।[1] इस अवस्था में काव्यरचना की क्षमता अल्पांश में प्राप्त प्राप्त कर लेने पर भी कवि आत्मनिर्भर होकर काव्यरचना नहीं कर सकता बल्कि किसी पुरातन कवि की छाया पर ही काव्यनिर्माण करता है। दूसरे शब्दों में इस अवस्था में कवि काव्य की शब्दरचना सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है परन्तु भावस्वातन्त्र्य उसे नहीं प्राप्त होता। यह अवस्था पूर्ण कवि की नहीं है क्योंकि कवि को स्वत: काव्यरचना करने की समर्थता अभी उपलब्ध नहीं है। दूसरों पर आश्रित होना 'सेविता' नामकरण का आधार है। प्रारम्भिक अवस्था के हरणकर्ता कवि इसी कोटि के हैं।

घटमान :- यह अवस्था कवि की प्रारम्भिक चार अवस्थाओं की अपेक्षा कवि के कुछ अधिक विकास की अवस्था है- क्योंकि इस अवस्था में कवि स्वत: ही काव्यरचना करने में समर्थ होता है- किन्तु यहाँ भी कवि का पूर्ण विकास नहीं है क्योंकि कवि किसी प्रबन्ध का निर्माण करने में समर्थ न होकर केवल प्रकीर्ण विषयों पर ही स्वतन्त्र रूप से काव्यरचना कर सकता है।[2] घटयति चेष्टते—यह व्युत्पत्ति घटमान नाम को स्पष्ट करती है।

---

1. य: प्रवृत्तवचन: पौरस्त्यानामन्यतमच्छायामभ्यस्यति स सेविता। (काव्यमीमांसा-पञ्चम अध्याय)
2. योऽनवद्यं कवते न तु प्रबध्नाति स घटमान:। (काव्यमीमांसा-पञ्चम अध्याय)

महाकवि :- पूर्ण विकसित कवि की अवस्था को महाकवि कहा गया है।[1] वह स्वतन्त्र रूप से पूर्ण प्रबन्ध के निर्माण में समर्थ होता है।-इस अवस्था में कवि को शब्द, अर्थ, भाव तथा रस सभी के स्वतन्त्र रूप में निबन्धन की क्षमता से युक्त माना जा सकता है।

कविराज :- सामान्यत: महाकवि के बाद कवि के विकास की अवस्थाएं समाप्त हो जाती हैं- क्योंकि महाकवित्व श्रेष्ठ कवित्व की कसौटी है। किन्तु आचार्य राजशेखर कवि के विकास की सीमा को महाकवित्व से भी आगे तक ले जाते हैं। उनकी दृष्टि में कवि के विकासक्रम का अन्तिम सोपान कविराजत्व है।[2] महाकवि एक भाषा के प्रबन्ध निर्माण में पटु होता है किन्तु कविराज का रचना स्वातन्त्र्य विभिन्न भाषाओं, विभिन्न प्रकार के प्रबन्धों तथा विभिन्न रसों से सम्बद्ध होता है। (आचार्य राजशेखर ने केवल कविराज के लिए ही विभिन्न रसों से रचना स्वातन्त्र्य का उल्लेख किया है किन्तु यह विषय ध्यान देने का है कि महाकवि का भले ही एक भाषा में रचना स्वातन्त्र्य हो किन्तु विभिन्न रसों से युक्त रचना में वह भी स्वतन्त्र होता है क्योंकि एक प्रबन्ध में एक नहीं अनेक रस मिलते हैं) किन्तु राजशेखर काव्यनिर्माण की दृष्टि से कविराज को महाकवि से भी उच्च स्थान प्रदान करते हैं। कविराज कवि की शिष्य से पूर्ण कवि बनने तक के विकासक्रम की अन्तिम अवस्था है तथा कविराज पूर्णत: विकसित परिपूर्ण कवि। आचार्य राजशेखर द्वारा मान्य 'कविराज' अवस्था उनके किञ्चित् अहंकार को व्यक्त करती है—क्योंकि उन्होंने स्वयं को कई स्थानों पर कविराज कहा है।

आचार्य राजशेखर द्वारा विवेचित यह सात अवस्थाएँ कवि के क्रमिक विकास पर आधारित हैं और इसी कारण अभ्यास से सम्बद्ध भी। शिष्य की अवस्था से एकाएक ही महाकवि अथवा कविराज की अवस्था तक पहुँचना सम्भव नहीं है। कवि को प्रारम्भिक तथा अन्तिम अवस्था के मध्य विकास की

---

1. योऽन्यतरप्रबन्धे प्रवीण: स महाकवि:। (काव्यमीमांसा-पञ्चम अध्याय)
2. यस्तु तत्र तत्र भाषाविशेषे तेषु प्रबन्धेषु तस्मिंस्तस्मिंश्च रसे स्वतन्त्र: स कविराज:। ते यदि जगत्यपि कतिपये। (काव्यमीमांसा-पञ्चम अध्याय)

अन्य अवस्थाओं को भी पार करना पड़ता है—यह क्रमबद्ध विकास ही उसे श्रेष्ठ कवि की अवस्था तक पहुँचा पाता है।

इन सात अवस्थाओं के अतिरिक्त तीन अवस्थाएँ औपदेशिक कवि की भी हैं, किन्तु इनका विकासक्रम से सम्बन्ध नहीं है क्योंकि औपदेशिक कवि का विकासक्रम सम्भव नहीं है। मन्त्र आदि के उपदेश से जिस भी समय कवित्व प्राप्त हो सके उसी समय वह काव्यनिर्माण में समर्थ हो जाता है।

आवेशिक :- मन्त्रादि के उपदेश से जिस समय कवित्व प्राप्त हो उसी समय काव्यनिर्माण आवेशिक की अवस्था है।[1]

अविच्छेदी :- अविच्छेदी कवि की कवित्व प्रेरणा उसके मनोनुकूल कार्य करती है और वह जब चाहे तभी धाराप्रवाह किसी भी विषय पर काव्य निर्माण कर सकता है।[2]

सङ्क्रामयिता :- सङ्क्रामयिता स्वयं काव्यरचयिता नहीं है बल्कि मन्त्रसिद्धि द्वारा कन्याओं अथवा कुमारों पर वह सरस्वती सङ्क्रमित कर देता है और कन्या अथवा कुमार काव्यरचना करने लगते हैं।[3]

आचार्य राजशेखर द्वारा विवेचित कवि के विकासक्रम की यह अवस्थाएँ काव्यशास्त्रीय जगत् के लिए सर्वथा नवीन विषय हैं- राजशेखर के परवर्ती आचार्यों ने कवि के क्रमिक विकास को स्वीकार करते हुए भी इस प्रकार की अवस्थाओं के विवेचन को विषय नहीं बनाया।

---

1. यो मन्त्राद्युपदेशवशाल्लब्धसिद्धिरावेशसमकालं कवते स आवेशिकः। (काव्यमीमांसा - पञ्चम अध्याय)
2. यो यदैवेच्छति तदैवाविच्छिन्नवचनः सोऽविच्छेदी। (काव्यमीमांसा - पञ्चम अध्याय)
3. यः कन्याकुमारादिषु सिद्धमन्त्रः सरस्वतीम् सङ्क्रामयति स सङ्क्रामयिता। (काव्यमीमांसा-पञ्चम अध्याय)

'काव्यमीमांसा' में कविभेद तथा कवियों केगुण :- आचार्य राजशेखर द्वारा विवेचित काव्य कवि के भेद वस्तुत: उसकी काव्यरचना से सम्बन्द्ध गुण हैं।[1] कवि में अधिक से अधिक काव्यरचना सम्बन्धी गुणों की स्थिति निरन्तर अभ्यास से ही सम्भव है। इसलिए आचार्य राजशेखर द्वारा निर्दिष्ट काव्य कवि के इन भेदों को कवि के अभ्यास से सम्बद्ध विषय माना जा सकता है।

काव्यकवि के आठ विभिन्न भेदों का आधार भिन्न-भिन्न हैं- केवल शब्द सौन्दर्य से युक्त काव्य का निर्माता रचना कवि है। काव्य में शब्दों के विभिन्न प्रयोग की दृष्टि से काव्य कवि का द्वितीय प्रकार शब्दकवि तीन भेदों में विभाजित किया जा सकता है—(क) नामकवि, (ख) आख्यातकवि, (ग) नामाख्यात कवि। नामकवि के भेद का आधार है काव्य में सुबन्त शब्दों का अधिक प्रयोग, आख्यात कवि केवल तिङ्न्त शब्दों का अधिक प्रयोग करता है तथा नामाख्यात् कवि तिङ्न्त तथा सुबन्त शब्दों का समान प्रयोक्ता है। अर्थकवि के काव्य में शब्दों की अपेक्षा अर्थ चमत्कारकारी है-अलंकार कवि रूप भेद का आधार काव्य में अलङ्कारों का ही अधिक प्रयोग हो सकता है। अलंकारों का द्वित्व इन अलङ्कारप्रिय कवियों को दो प्रकार का बना देता है—शब्दालङ्कारप्रिय तथा अर्थालङ्कारप्रिय। अपने काव्य में सुन्दर उक्तियों के प्रयोक्ता उक्ति कवि हैं। मार्गकवि से तात्पर्य उन कवियों से है जो किसी विशिष्ट रीति को ही अपनी काव्यरचना का आधार बनाते हैं-। शास्त्रार्थ कवि अपने काव्य में शास्त्र के अर्थो का भी उपयोग करते हैं।

यह कविभेद वस्तुत: कवियों को परस्पर पृथक करने वाले भेदक के रूप मे नहीं स्वीकार किया जा सकते क्योंकि पृथक्-पृथक रूप में यह सभी कवि काव्यरचना की दृष्टि से परिपूर्ण नहीं है। केवल रचना सौन्दर्य से युक्त काव्य के निर्माता कवि को अपने काव्य को श्रेष्ठ बनाने के लिए अर्थसौन्दर्य

---

1. **काव्यमीमांसा में कवि भेद शास्त्रकवि** :- तत्र त्रिधा शास्त्रकवि: य: शास्त्रम् विधते, यश्च शास्त्रे काव्यं संविधत्ते, योऽपि काव्ये शास्त्रार्थं निधत्ते।

   काव्यकवि:- काव्यकवि: पुनरष्टधा। तद्यथा रचनाकवि:, शब्दकवि:, अर्थकवि:, अलङ्कारकवि:, उक्तिकवि:, रसकवि:, मार्गकवि: , शास्त्रार्थकविरिति। (काव्यमीमांसा-पञ्चम अध्याय)

की भी आवश्यकता अवश्य है। रस, भाव, आदि का भी यदि काव्य में समावेश न हो तो केवल अलंकारपूर्णता उसे कृत्रिम तथा आडम्बरयुक्त बना देती है। रमणीय उक्ति के प्रयोक्ता कवि के काव्य में शब्द, अर्थ, अलंकार, रस सभी से सम्बद्ध सौन्दर्य होना चाहिए। इसके अतिरिक्त रस परिपूर्ण रचना करना केवल एक ही प्रकार के कवि के लिए सम्भव नहीं है, क्योंकि काव्य के परिपूर्णत्व तथा श्रेष्ठता की कसौटी उसका सरस होना ही है। सभी श्रेष्ठ काव्य सरस होते हैं तथा सभी श्रेष्ठ कवि सरस काव्य के रचयिता भी। अत: रस प्रयोग के आधार पर कविभेद सम्भव नहीं है। काव्य में शास्त्रीय अर्थ के उपयोग रूप वैशिष्ट्य के आधार पर कवियों को परस्पर भिन्न किया जा सकता है। परन्तु साथ ही यह तथ्य भी उपस्थित होता है कि प्रतिभा सम्पन्न कवि को अभ्यास तथा व्युत्पत्ति के द्वारा ही काव्यनिर्माण से सम्बद्ध परिपक्वता प्राप्त होती है। कवि की कसौटी ही है उसका शास्त्रों आदि में व्युत्पन्न होना। अत: आवश्यकता होने पर सभी व्युत्पन्न कवि काव्य में शास्त्रीय अर्थों का प्रयोग कर सकते हैं और ऐसी स्थितियाँ श्रेष्ठ कवि के काव्य में स्वाभाविक रूप में ही आती हैं, प्रयत्नपूर्वक नहीं। यद्यपि शास्त्रीय अर्थों के अधिक तथा न्यून प्रयोग के आधार पर कवियों को परस्पर भिन्न किया जा सकता है, केवल सुबन्त शब्दों के अधिकांश रूप में प्रयोक्ता, केवल तिङन्त शब्दप्रिय कवि अथवा दोनों ही प्रकार के शब्दों में समान रूप से काव्य रचना करने वाले कवियों का भेद सम्भव है फिर भी किसी कवि को केवल शब्द प्रयोक्ता नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसके काव्य में अर्थ, उक्ति, रस आदि का भी वैशिष्ट्य अवश्य मिलता है। यद्यपि किसी विशिष्ट रीति में रचना करने वाले कवियों का परस्पर पृथकत्व सम्भव है क्योंकि वैदर्भी, गौडी, पञ्चाली आदि विभिन्न रीतियों में रचना के आधार पर उन्हें पृथक किया जा सकता है किन्तु श्रेष्ठ कवि में भिन्न-भिन्न रीतियों को अपनाने की सामर्थ्य होती है। विषय, रस भेद के आधार पर इसके अतिरिक्त श्रेष्ठ काव्य की कसौटी रूप में सामान्यत: वैदर्भी रीति में रचित काव्य को ही स्वीकार किया जाता रहा है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इन भेदकों के आधार पर कवि परस्पर पृथक् नहीं किए जा सकते क्योंकि किसी श्रेष्ठ कवि के काव्य में इन सभी विषयों का समावेश न्यूनाधिक रूप से अनिवार्य है। स्वयं

आचार्य राजशेखर के ही शब्दों में यह कवियों के काव्य प्रयोग से सम्बद्ध गुण हैं। रचना तथा शब्द का सौन्दर्य, रमणीय अर्थ, सुन्दर उक्तियों तथा अलंकारों का प्रयोग, रीति, रस, भाव तथा शास्त्रों का संस्कार ही किसी काव्य को परिपूर्ण तथा श्रेष्ठ बनाने में समर्थ है। इस कविभेद को प्रारम्भिक अवस्था के अभ्यासी कवियों की विभिन्न स्थितियों में बाँटा जा सकता है-प्रथम अवस्था में प्रयत्नपूर्वक अभ्यास के साहाय्य से अभ्यासी कवि के काव्य में रचना अथवा शब्द सौन्दर्य के उपस्थित होने की सम्भावना है। कवि का क्रमिक विकास उसके काव्य में अर्थ, अलंकार तथा उक्ति आदि की रमणीयता ला सकता है। कवि के अभ्यास का यही विकासक्रम उसे रसकवि अथवा विशिष्ट रीति में रचना सामर्थ्य सम्पन्न कवि बना सकता है। कवि की क्रमशः व्युत्पन्नता तथा विकास उसे शास्त्राथों का भी काव्य उपयोग करने की सामर्थ्य प्रदान करते हैं किन्तु यह सभी अवस्थाएँ कवि के क्रमिक विकास के मध्य की अवस्थाएँ हैं- तथा इनसे सम्बद्ध विषयों को पृथक्-पृथक् रूप में कवियों को परस्पर भिन्न करने का आधार केवल अभ्यासी कवि की स्थिति में माना जा सकता है क्योंकि केवल अपूर्ण कवि के काव्य में इस सभी भेदकों का एक साथ ही उपस्थित न होना सम्भव है, पूर्ण परिपक्व श्रेष्ठ कवि के काव्य में रचना तथा शब्द का सौन्दर्य, अर्थसौन्दर्य, उक्तिसौन्दर्य अलंकार, रीति, रस तथा शास्त्रों का संस्कार समान रूप से ही प्राप्त हो सकता है। सभी गुणों से युक्त कवि श्रेष्ठ है- आचार्य राजशेखर की इस मान्यता के आधार पर रचना प्रयोग, अर्थ प्रयोग, उक्ति प्रयोग, रस-अलंकार तथा रीति का प्रयोग कवियों का गुण माना जा सकता है। इस विषयों में कवि की पृथक्-पृथक् रूप से परिपक्वता के आधार पर उनके काव्य की कसौटी हो सकती है। आचार्य राजशेखर के अनुसार दो तीन गुणों का होना कवि की कनिष्ठता अथवा प्रारम्भिक अवस्था है-पाँच गुणों का होना कवि की मध्यम अवस्था अथवा पूर्ण परिपक्व कवि से कुछ कम विकसित अवस्था है,[1] तथा किसी कवि के काव्य में सभी गुणों की स्थिति उसे काव्यनिर्माण की दृष्टि से परिपूर्ण महाकवि सिद्ध करती है। कनिष्ठ, मध्यम तथा महाकवि रूप इस कवि विभाग ने रचना,

---

1 एषां द्वित्रैर्गुणैः कनीयान्, पञ्चकैर्मध्यमः, सर्वगुणयोगी महाकविः। (काव्यमीमांसा-पञ्चम अध्याय)

अर्थ, उक्ति, रस आदि कवि भेदकों को कवियों का काव्यनिर्माण सम्बन्धी गुण बना दिया है तथा क्रमश: अभ्यास से पूर्ण परिपक्व कवि बनने की स्थिति को भी प्रस्तुत किया है।

अभ्यासी कवि के क्रमिक अभ्यास से सम्बद्ध होने के कारण ही यह विषय 'कविशिक्षा' से सम्बद्ध ग्रन्थ में प्रस्तुत है-। अभ्यासी कवि का अभ्यास इन सभी विषयों से सम्बद्ध होना चाहिए तभी कवि में इन सभी गुणों का समावेश सम्भव है जो उसे पूर्ण महाकवि की स्थिति में पहुँचाता है। कवि के अभ्यास की प्रथम अवस्थाओं में अल्पगुणों के समावेश के कारण ही कवि को कनिष्ठ तथा मध्यम कवि कहा गया है। 'काव्यमीमांसा' में सर्वत्र आचार्य राजशेखर की भेद-विभेद की प्रवृत्ति व्याप्त है। किन्तु गुणों की संख्या पर आधारित कवि की कसौटी विषय की सूक्ष्म विवेचना नहीं है। चित्रकाव्य तथा रस काव्य पर आधारित कवि की कनिष्ठता तथा उत्कृष्टता प्रस्तुत करने वाला आचार्य आनन्दवर्धन का विचार ही स्वीकार्य है।

अभ्यास के उपाय :- काव्य हेतु प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति कवि के काव्य के केवल मानसिक उद्भव से ही सम्बद्ध हैं किन्तु काव्य की क्रियान्विति के लिए काव्य हेतु अभ्यास की ही अनिवार्यता हैं। इसी कारण कवि की दिनचर्या में अभ्यास को आचार्य राजशेखर ने महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उनके विवेचन के अन्तर्गत कवि की दिनचर्या का द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ प्रहर काव्यनिर्माण के अभ्यास से सम्बद्ध है। प्रश्नोत्तरों द्वारा समस्याओं का विवेचन, विविध प्रकार के काव्यरचना सम्बन्धी अभ्यास, चित्रकाव्य का निर्माण, निर्मित काव्य का पुन:पुन: परीक्षण, अधिक का त्याग, न्यून का पूरण, अन्यथास्थित पदों का परिवर्तन तथा प्रस्मृत प्रद का अनुसन्धान आदि कार्य काव्य के अभ्यास तथा क्रमिक संस्कार के अन्तर्गत ही स्वीकृत हैं।[1]

---

1. द्वितीयं काव्यक्रियाम् ....भोजनान्ते काव्यगोष्ठीं प्रवर्तयेत्। कदाचिच्च प्रश्नोत्तराणि भिन्दीत। काव्यसमस्याधारणा, मातृकाभ्यासः, चित्रा योगा इत्यायामत्रयम्। चतुर्थ एकाकिनः परिमितपरिषदो वा पूर्वाह्नभागविहितस्य काव्यस्य परीक्षा। रसावेशतः काव्यं विरचयतो न च विवेक्त्री दृष्टिस्तस्मादनुपरीक्षेत। अधिकस्य त्यागो न्यूनस्य पूरणं, अन्यथास्थितस्य परिवर्तनं, प्रस्मृतस्यानुसन्धानम् चेत्यहीनम्।

   सायं सन्ध्यामुपासीत सरस्वतीं च। ततो दिवा विहितपरीक्षितस्यभिलेखनमा प्रदोषात्

   (काव्यमीमांसा-दशम अध्याय)

आचार्य राजशेखर अभ्यास की निरन्तरता के लिए नियमित दिनचर्या की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं।[1] उनके विचार में श्रेष्ठ सहृदयहृदयाह्लादकारी काव्य नियमित दिनचर्या के अनुसार काव्य रचना का निरन्तर अभ्यास करने वाले कवियों द्वारा ही निर्मित किया जा सकता है।

काव्य में शब्द अर्थ निबन्धन से सम्बद्ध अभ्यास का आचार्य राजशेखर द्वारा प्रदर्शित श्रेष्ठ उपाय है—साङ्ग वेदों एवं इतिहास पुराणादि के अर्थों एवं कथाओं को लेकर काव्यनिर्माण का प्रयास। अभ्यास से सम्बद्ध उपायों के रूप में आचार्य राजशेखर ने हरण का विस्तृत विवेचन किया है किन्तु उनका विस्तार तथा महत्व उनके पूर्णतः पृथक् विवेचन के लिए बाध्य करता है।

कवि के लिए अभ्यास के उपाय आचार्य वाग्भट के 'वाग्भटालङ्कार' तथा आचार्य क्षेमेन्द्र के 'कविकण्ठाभरण' में भी विवेचित है-आचार्य वाग्भट की धारणा है कि कवि को काव्य के लिए अर्थ प्राप्ति हेतु मन की निर्मलता एवं प्रतिभा के साथ प्रातः कालीन अभ्यास की भी परम आवश्यकता है- काव्य के लिए अर्थ, पद के प्रपच्च को, शब्दसंघटना एवं अर्थसंघटना को अभ्यास द्वारा ही सीखा जा सकता है। निरन्तर काव्य रचना के अभ्यास के परिणामस्वरूप ही कवि को काव्य के लिए उचित शब्दों, अर्थो के चुनाव की क्षमता प्राप्त होती है-कवि की प्रारम्भिक अवस्था के लिए आचार्य वाग्भट द्वारा बताए गए उपाय हैं- अर्थशून्य पदावली द्वारा छन्दरचना का अभ्यास एवं प्राचीन कथाओं को लेकर अर्थबन्ध का अभ्यास [2] काव्य के लिए विभिन्न छन्दबन्ध सीखने के लिए अर्थशून्य पदों को लेकर पद्य बनाना भी

---

1 अनियतकालाः प्रवृत्तयो विप्लवन्ते तस्माद्दिवसं निशाम् च यामक्रमेण चतुर्द्धा विभजेत्।

(काव्यमीमांसा-पञ्चम अध्याय)

2 अनारतं गुरूपान्ते यः काव्ये रचनादरः
तमभ्यासं विदुस्तस्य क्रमः कोऽप्युपदिश्यते। 6।
बिभ्रत्या बन्धचारूत्वं पदावल्यार्थशून्यया
वशीकुर्वीत काव्या(य) छन्दांसि निखिलान्यपि। 7।
अनुल्लसन्त्यां नव्यार्थयुक्ताभिनवत्वतः
अर्थसङ्कलन(तं)त्विमभ्यस्ये सङ्कथास्वपि। 10। वाग्भटालङ्कार (वाग्भट) (प्रथम परिच्छेद)

लाभकारी है तथा कवित्व की अपरिपक्वावस्था में नवीन अर्थ का उद्‌भव करने की क्षमता न होने पर विभिन्न प्राचीन कथाओं को लेकर ही अर्थनिबन्धन का प्रयास भी क्रमश:काव्य निर्माण की विकसित अवस्था को प्राप्त करने के लिए उपादेय है। आचार्य वाग्भट प्राचीन वेदों आदि की कथाओं को लेकर अर्थबन्ध को अभ्यास का उपाय स्वीकार करके भी प्राचीन कवियों के काव्यों के अर्थग्रहण को लेकर अभ्यास करने को श्रेयस्कर नहीं मानते। यद्यपि समस्यापूर्ति रुप काव्य के अभ्यास में दूसरों के अर्थग्रहण का दोषत्व नहीं है,[1] क्योंकि समस्यापूर्ति में कवि दूसरे के अर्थ का अल्पांश ही ग्रहण करता है, संपूर्ण काव्य नहीं।

आचार्य क्षेमेन्द्र के ग्रन्थ (कविकण्ठाभरण) में प्रारम्भिक अवस्था के कवि के लिए विवेचित सौ शिक्षाएँ कवि के बौद्धिक विकास एवं उसके काव्यनिर्माण के अभ्यास सम्बद्ध हैं। अभ्यास के अनेक उपाय भी इस ग्रन्थ में प्रदर्शित हैं-[2] यह अभ्यास कवि के काव्य में भाषा, भाव तथा कला सम्बन्धी सौष्ठव के उत्पादन हेतु उपादेय हैं। दूसरे के अभिप्राय को प्रकारान्तर से अपनी भाषा में व्यक्त करना, प्रसाद गुण युक्त शब्दों का प्रयोग, छन्दविधान का अभ्यास, भाषा में चमत्कार तथा प्रवाह लाने का प्रयास

---

1. परार्थवन्धाद्यश्च स्यादभ्यासो वाच्यसङ्गतौ स न श्रेयान्यतोऽनेन कविर्भवति तस्कर: । 12 ।
   परकाव्यग्रहोऽपि स्यात्समस्यायां गुण: कवे: अर्थं तदर्थानुगतं नवं हि रचत्यसौ । 13 ।
   वाग्भटालङ्कार (वाग्भट) (प्रथम परिच्छेद)

2. अल्पप्रयत्नसाध्य शिष्य का अभ्यास
   कुर्वीत साहित्यविद: सकाशे श्रुतार्जनं काव्यसमुद्‌भवाय न तार्किकं केवलशाब्दिकं वा कुर्याद् गुरूं सूक्तिविकासविघ्नम्। विज्ञातशब्दागमनामधातुश्छन्दो विधाने विहितश्रमश्च काव्येषु माधुर्यमनोरमेषु कुर्यादखिन्न: श्रवणाभियोगम्॥ गीतेषु गाथास्वथ देशभाषाकाव्येषु दद्यात् सरसेषु कर्णम् वाचां चमत्कारविधायिनीनाम् नवार्थचर्चासु रुचिं विदध्यात्॥

   कृच्छ्रसाध्य शिष्य का अभ्यास

   पठेत् समस्तान् किल कालिदासकृत प्रबन्धेतिहासदर्शी कस्याधिवासप्रथमोदगमस्य रक्षेत् पुरस्तार्किकगन्धमुग्रम्॥ महाकवे: काव्यनवक्रियायै तदेकचित्त: परिचारक: स्यात् पदे च पादे च पदावशेषसंपूरणेच्छां मुहुराददीत॥ अभ्यासहेतो: पदसंनिवेशैर्वाक्यार्थशून्यैर्विदधीत वृत्तम् श्लोकं परावृत्तिपदै: पुराणं यथास्थितार्थं परिपूरयेत् च॥

   कविकण्ठाभरण (क्षेमेन्द्र) प्रथम सन्धि

आदि काव्य में भाषासौन्दर्य के निबन्धन से सम्बद्ध अभ्यास है। सुशिष्य के लिए आचार्य ने साहित्य के ज्ञाताओं की सत्सङ्गति में भाषा तथा छन्द विधान के अभ्यास की उपादेयता बतलाई है। दु:शिष्य के लिए महाकवि के सान्निध्य में दूसरों के पद्यों के पद, पाद आदि को परिवर्तित करते हुए काव्यनिर्माण का अभ्यास करने की आवश्यकता होती है। रचनाकार्य में प्रवेश हेतु (दूसरे के पद्य के पद, पाद अथवा समस्त पद्य के अनुकरण में अपना पद्य बनाना रूप) छायोपजीवन द्वारा अभ्यास क्षेमेन्द्र की दृष्टि में कवि बनने के प्रारम्भिक चरण में उपयोगी होता है। आचार्य क्षेमेन्द्र की अभ्यास से सम्बद्ध अन्य शिक्षाएँ हैं- प्रौढ़ि, छन्दपूर्ति, समस्यापूर्ति, प्रभात में जागरण, देश, भाषा के काव्यों से भावग्रहण, पद रखने तथा हटाने की बुद्धि, संशोधन, ज्ञान के लिए सबका शिष्य बनने की उदारता, मध्य में विश्राम ग्रहण, दूसरों की अधूरी कृतियों को तथा अपने प्रारम्भ किए काव्य को पूरा करना आदि।

आचार्य कुन्तक की अभ्यास से सम्बद्ध धारणा अपना वैशिष्ट्य रखती है। उनके अनुसार विभिन्न कवियों का अभ्यास उनके स्वभाव के अनुसार भिन्न प्रकार का होता है। सुकमार स्वभाव कवि के लिए सुकुमारता सम्पन्न अभ्यास, विचित्र स्वभाव कवि का वैचित्र्ययुक्त अभ्यास तथा उभय स्वभाव कवि का सौकुमार्य तथा वैचित्र्य दोनों से संयुक्त अभ्यास उपादेय है।[1] इस विषय में आचार्य क्षेमेन्द्र तथा आचार्य राजशेखर को आचार्य कुन्तक के विचार के समान भी माना जा सकता है, क्योंकि यह दोनों आचार्य भी विभिन्न प्रकार के कवियों के लिए विभिन्न प्रकार के अभ्यास की उपादेयता स्वीकार करते हैं।

---

1. कविस्वभावभेद निबन्धनत्वेन काव्यप्रस्थानभेद: समञ्जसतां गाहते। सुकुमारस्वभावस्य कवेस्तथाविधैव सहजा शक्ति: ....ताभ्याञ्च सुकुमारवर्त्मनाभ्यासतत्पर: क्रियते।

   तथैव चैतस्माद् विचित्र:स्वभावो यस्य............ताभ्याञ्च वैचित्र्यवासनाधिवासितमानसो विचित्रवर्त्मनाभ्यासभाग् भवति।

   एवमेतदुभयकविनिबन्धनसंवलितस्वभावस्य कवेस्तदुचितैव........।

   ततस्तच्छायाद्वितयपरिपोषपेशलाभ्यास परवश: सम्पद्यते। तदेवमेते कवय: सकलकाव्यकरणकलापकाष्ठाधिरूढि रमणीयं किमपि काव्यमारभन्ते, सुकुमारं विचित्रमुभयात्मकश्च। वक्रोक्तिजीवित (कुन्तक) प्रथम उन्मेष।

काव्यपाक:- विकास के परिणामस्वरूप प्रारम्भिक कवि का भी काव्य क्रमश: परिवक्वता तथा रमणीयता से समन्वित होता जाता है। कवि के काव्य की पूर्ण परिपक्वता की स्थिति को विभिन्न काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में 'काव्यपाक' शब्द से अभिहित किया गया है। इस परिपक्वता को आचार्य कवि द्वारा किए गए निरन्तर अभ्यास का परिणाम मानते हैं।

किसी काव्य को किस स्थिति में परिपक्व कहना सम्भव है इस विषय में आचार्यो के विभिन्न मत हैं। आचार्य मङ्गल पाक की स्थिति सुन्दर शब्दों के प्रयोग अथवा सुबन्त, तिङ् न्त शब्दों की क्षोत्रमधुर व्युत्पत्ति को मानते हैं।[1] कुछ आचार्यों के अनुसार काव्य के पद विन्यास के सम्बन्ध में चित्त की स्थिरता काव्यपाक की स्थिति है। आचार्य वामन पद के परिवर्तन की अपेक्षा न होने को ही काव्य परिपक्वता की कसौटी मानते हैं- उनकी धारणा है कि प्राय: आग्रह के कारण भी कवि के मानस में काव्य के पदों को रखने, हटाने में चित्त चंचल बना रहता है। अत: काव्य का वह रूप जिसमें काव्य के पद पुन: परिवर्तन की अपेक्षा नहीं रखते काव्य परिवक्वता की स्थिति है। अनिर्वचनीय शब्दपाक वैदर्भी रीति में उदित होता है।[2] आचार्य राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी काव्यपाक का सम्बन्ध काव्य के शब्दों से नहीं, वरन् रस से मानती हैं। आचार्य वामन के मत की उन्होंने आलोचना की है। उनकी धारणा है कि महाकवि के काव्यों में एक ही विषय में सम्बद्ध अनेक पाठ प्राप्त होते हैं, उनसभी को उपयुक्त तथा परिपक्व रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है। इसी कारण अवन्तिसुन्दरी काव्य में

---

1. सततमभ्यासवशत: सुकवे: वाक्यं पाकमायाति। क: पुनरयं पाक:? इत्याचार्या: 'परिणाम:' इति मङ्गल:। ....सुपां तिङ्गं च श्रव: (प्रि?) या व्युत्पत्ति: इति मङ्गल:। सौशब्ध्यमेतत्। 'पदनिवेशनिष्कम्पता पाक:,' इत्याचार्या: (काव्यमीमांसा-पंचम अध्याय)

2. वचसि यमधिगम्य स्पन्दते वाचकश्री-

   र्वितथमवितथत्वं यत्र वस्तु प्रयाति।

   उदयति हि सा ताद्वक् क्वापि वैदर्भरीतौ सहृदयहृदयानां रञ्जक: कोऽपि पाक: (1/2/21)

   काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति (वामन)

   'आग्रहपरिग्रहादपि पदस्थैर्यपर्यवसायस्तस्मात्पदानाम् परिवृत्तिवैमुख्यं पाक:' इति वामनीया:। तदाहु: ''यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुतां। तं शब्दन्यायनिष्णाता: शब्दपाकं प्रचक्षते।''

   (पञ्चम अध्याय) (काव्यमीमांसा)

शब्द के परिवर्तन की अपेक्षा न होने को अशक्ति का परिचायक मानती हैं, काव्यपरिपक्वता का नहीं। अवन्तिसुन्दरी के विचारानुसार पाक का सम्बन्ध रस से ही है। उसी काव्य को परिपक्व माना जा सकता है जिसमें शब्द, अर्थ तथा सूक्ति का निबन्धन रस के अनुकूल हो, काव्य के वाक्य में सहृदयों की हृदयहारिता की क्षमता भी वाक्यपाक की कसौटी है- जिस काव्य के वाक्य में शब्द, अर्थ, रीति, उक्ति, गुण, अलंकार आदि का निबन्धन, सहृदयों को मनोहारी प्रतीत हो वही वाक्य परिपक्व है। इसके अतिरिक्त काव्य की परिपक्वता के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह अनिर्वचनीय वस्तु है इसका सम्बन्ध न शब्द से है और न ही अर्थ अथवा रस से। वक्ता, शब्द, अर्थ,रस सभी के होने पर भी जिसके अभाव में वाणी में मनोहारिता नहीं आती, उसी अनिर्वचनीय वस्तु को कविजगत् में पाक रूप में स्वीकार किया गया है।[1]

काव्य में रस प्रतीति का अधिक महत्व स्वीकार करने वाले तथा उचित शब्द प्रयोग को अधिक महत्वपूर्ण मानने वाले दो मत आचार्य महिमभट्ट के 'व्यक्तिविवेक' में उल्लिखित हैं। काव्य में रस प्रतीति की ही प्रधानता मानने वाला मत अवन्तिसुन्दरी के मत से समानता रखता है। यह मत रस प्रतीति का निर्वाह न होने पर काव्य का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करता। इस मत को स्वीकार करने वालों की मान्यता यहाँ तक है कि रस प्रतीति को नष्ट न करते हुए असाधु शब्दों का प्रयोग भी दोष नही है। रस प्रतीति ही महत्वपूर्ण है, शब्द नहीं। किन्तु दूसरा मत महाकवियों के लिए अपशब्द के प्रयोग को महान् दोष मानता है।[2]

---

1. 'इयमशक्तिर्न पुनः पाकः' इत्यवन्तिसुन्दरी। यदेकस्मिन्वस्तुनि महाकवीनामनेकोऽपि पाठः परिपाकवान्भवति तस्माद्रसोचितशब्दार्थसूक्तिनिबन्धनः पाकः/ यदाह —
   ''गुणालङ्काररीत्युक्तिशब्दार्थग्रथनक्रमः
   स्वदते सुधियां येन वाक्यपाकः स मां प्रति॥''
   तदुक्तम् ''सति वक्तरि सत्यर्थे शब्दे सति रसे सति अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु ॥''
   (काव्यमीमांसा-पञ्चम अध्याय)

2. अत्र केचिदाहुः — वाच्ये तावद्रसप्रतीतिर्निर्व्यूढा। तामनुपमर्दयन् काव्ये यद्यसाधुशब्दोऽपि स्यान्न तदा स्थूलः कश्चित् दोषः। काव्ये हि रस प्रतीतिः प्रधानम्........।
   अन्ये त्वाहुः। भवतु रसापेक्षयापशब्दस्य स्वल्पदोशत्वम् तथापि महाकवीनामपशब्दप्रयोगो महान् दोषः।
   व्यक्तिविवेक (महिमभट्ट) द्वितीय विमर्श पृष्ठ 266

काव्यपाक को एक निश्चित स्वरूप प्रदान करने के लिए दोनों मतों का समान रूप से मान्य होना ही उचित है। अवन्तिसुन्दरी ने आचार्य वामन के मत का विरोध किया है किन्तु काव्यपाक के दो पक्ष स्वीकार करके आचार्य वामन तथा अवन्तिसुन्दरी के मतों के पारस्परिक विरोध को खंडित किया जा सकता है तथा दोनों ही मतों की अलग-अलग दृष्टि से समीचीनता स्वीकार की जा सकती है। श्रेष्ठ काव्य के लिए सौशब्द्य तथा रस प्रतीति का निर्वाह दोनों ही गुणों की समान आवश्यकता है। आचार्य राजशेखर ने विभिन्न मतों का उल्लेख करके अन्त में अपना मत देते हुए पदों के परिवर्तन की अपेक्षा न होने को काव्य का शब्दपाक माना है। इसके अतिरिक्त काव्य की परिपक्वता के निर्णय के सम्बन्ध में उन्होंने सहृदयों को ही प्रमाण माना है। सहृदयों को रुचिकर प्रतीत होने वाले काव्य का सरस होना अवश्यम्भावी है।[1] आचार्य राजशेखर के विचारानुसार काव्य परिपक्वता का निर्धारक तत्व रस है यह उनके द्वारा स्वीकृत पाक प्रकारों से ही स्पष्ट होता है। इस प्रकार रस का निर्वाह काव्य परिपक्वता का एक पक्ष है तथा सौशब्द्य दूसरा पक्ष।

आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार भी काव्य का सरस होना उसकी प्रौढ़ता का परिचायक है। ध्वनिकाव्य को उन्होंने परिपक्व काव्य की कसौटी के रूप में स्वीकार किया है।[2] कवि का रसाभिव्यक्ति में तात्पर्य न होना तथा उसके द्वारा केवल अलंकारयुक्त काव्यनिर्माण चित्रकाव्य (जिसकी

---

1. 'कार्यानुमेयतया यत्तच्छब्दनिवेद्यः परम् पाकोऽभिधाविषयस्तत्सहृदयप्रसिद्धिसिद्ध एव व्यवहाराङ्गमसौ, इति यायावरीयः। (काव्यमीमांसा — पञ्चम अध्याय)

2. रसभावादिविषयविवक्षा विरहे सति।
   अलङ्कारनिबन्धो यः सः चित्रविषयो मतः॥
   रसादिषु विवक्षा तु स्यात्तात्पर्यवती यदा।
   तदा नास्त्येव तत्काव्यं ध्वनेर्यत्र न गोचरः॥

   इदानीन्तु तु न्याय्ये काव्यनयव्यवस्थापने क्रियमाणे नास्त्येव ध्वनिव्यतिरिक्तः काव्यप्रकारः यतः परिपाकवतां कवीनां रसादितात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते। (तृतीय उद्योत) ध्वन्यालोक (आनन्दवर्धन)

रचना केवल प्रारम्भिक अभ्यासी कवि ही करते हैं) का विषय है परिपक्व काव्य का नहीं। कवि का जहाँ भी रसाभिव्यक्ति से तात्पर्य हो वहाँ सर्वत्र ध्वनिकाव्य ही होता है-ध्वनि काव्य की रचना पूर्ण परिपक्व कवि ही करते हैं-तथा यह रसादि तात्पर्य से युक्त ध्वनि काव्य ही पूर्ण परिपक्व काव्य अथवा काव्यपाक की स्थिति है।

निरन्तर अभ्यासी कवियों के वाक्य के पाक का उल्लेख आचार्य विद्याधर ने भी किया है तथा रस के अनुकूल शब्दार्थ निबन्धन का ही पाक से तात्पर्य माना है।

अग्निपुराण में तथा आचार्य भोजराज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में काव्यपाक को काव्य का गुण माना गया है। काव्य में महती शोभा का आधायक तत्व अग्निपुराण के अनुसार गुण है।[1] शब्द तथा अर्थ दोनों के ही उपकारक उभयगुण के छः भेद स्वीकार किए गए है- प्रसाद, सौभाग्य यथासंख्य, प्रशस्यता, पाक तथा राग। पाक से तात्पर्य किसी वस्तु की उच्च रूप में परिणति से है-इस दृष्टि से काव्य की उच्च परिणति अथवा पूर्ण परिपक्वता की स्थिति काव्यपाक है।

भोजराज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में विवेचित काव्य के 24 गुणों में से सुशब्दता, उक्ति तथा प्रौढ़ि को कवि के काव्य की परिपक्वता से सम्बद्ध माना जा सकता है।[2] सुबन्त, तिङ्न्त शब्दों की

---

1. यः काव्ये महतीं छायामनुगृह्णात्यसौ गुणः .... ।3।
   शब्दार्थावुपकुर्वाणो नाम्नोभयगुणः स्मृतः ....।18।
   उच्चैः परिणतिः काऽपि पाक इत्यभिधीयते ....।22।
   अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग (दशम अध्याय)

2 सुशब्दता (**शब्दगुण तथा अर्थगुण**)
   व्युत्पतिः सुप्तिङां या तु प्रोच्यते सा सुशब्दता अदारुणार्थपर्य्यायो दारूणेषु सुशब्दता।
   उक्ति (शब्दगुण तथा अर्थगुण)
   विशिष्टा भणितिः या स्यादुक्तिं तां कवयो विदुः। उक्तिर्नाम यदि स्वार्थों भङ्ग्या भव्योऽभिधीयते। प्रौढि (**शब्दगुण तथा अर्थगुण**) उक्तेः प्रौढः परीपाकः प्रोच्यते प्रौढिसंज्ञया। विवक्षितार्थनिर्वाहः काव्ये प्रौढिरिति स्मृता।
   सरस्वती कण्ठाभरण (भोजराज) (प्रथम परिच्छेद)

व्युत्पत्ति तथा दारूण विषय में अदारूण अर्थ के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग सुशब्दता है। आचार्य केशवमिश्र के अनुसार भी दारूण अर्थ में अदारूण पदों का प्रयोग सौशब्द्य है तथा काव्यपाक का स्वरूप।[1] आचार्य भोजराज के अनुसार काव्य-रचना में विशिष्ट भणिति उक्ति गुण है। भोजराज का प्रौढ़िगुण काव्य में उक्ति के प्रौढ़ परिपाक तथा विवक्षित अर्थ के निर्वाह से सम्बद्ध है। सुशब्दता, उक्ति तथा प्रौढ़ि-इन गुणों का अभ्यासी कवि के क्रमिक विकास से ही सम्बन्ध है क्योंकि क्रमशः अभ्यास के परिणामस्वरूप ही कवि के काव्य में सौशब्द्य, विशिष्ट भणिति रूप उक्ति तथा रचना के प्रौढ़ परीपाक रूप प्रौढ़ि गुण आते हैं। आचार्य भोजराज द्वारा विवेचित गुम्फना का भी सम्बन्ध कवि के क्रमिक विकास से है।-गुम्फना से तात्पर्य है शब्द अर्थ की सम्यक् रचना से।[2]

आचार्य राजशेखर द्वारा काव्यपाक सम्बन्धी निर्देश अभ्यासी कवियों को दिया गया है।[3] काव्य का पर्यवसायी रूप पूर्णतः सरस होना चाहिए। काव्यनिर्माण करने पर उसकी विभिन्न स्थितियाँ उपस्थित हो सकती हैं, किन्तु इनमें उपादेयता केवल कुछ ही स्थितियों की है। कुछ स्थितियाँ ऐसी भी हो सकती हैं जिनका पर्यवसायी रूप नीरस हो, किन्तु अभ्यासी कवि का सम्बन्ध ऐसे ही काव्य के निर्माण से होना चाहिए जिसका पर्यवसायी रूप सरस हो। काव्य की उन स्थितियों को जो आदि में सरस होने पर भी अन्त में नीरस हों, प्रयत्नपूर्वक त्याग देना अभ्यासी कवि का कर्त्तव्य है। रस की दृष्टि से विविधतापूर्ण रचना प्रकारों को (जिनका उल्लेख राजशेखर ने पाक पकारों के रूप में किया है) ध्यान में रखते हुए कवि को अपने काव्यनिर्माण को क्रमशः विकास की ओर ले जाना चाहिए और उसी प्रकार की रचना के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए जिसका पर्यवसायी रूप सरस हो। इस प्रकार सम्भवतः आचार्य राजशेखर सरसता को भी प्रारम्भिक अवस्था में प्रयत्नपूर्वक ही काव्य में लाने का निर्देश देते हैं।

---

1. 'दारूणेऽर्थेऽदारूणपदता सुशब्दता' (अष्टम् मरीचि पेज - 21) अलंकार शेखर (केशवमिश्र)
2. वाक्ये शब्दार्थयोः सम्यग्रचना गुम्फना स्मृता शब्दार्थक्रमपर्यायपदवाक्यकृता च सा । 53।
   सरस्वतीकण्ठाभरण (भोजराज) द्वितीय परिच्छेद
3. स च कविग्रामस्य काव्यभ्यस्यतो नवधा भवति। (काव्यमीमांसा- पञ्चम अध्याय)

परिपक्वावस्था में कवियों के काव्य में सरसता स्वयं ही आती होगी-प्रयत्नपूर्वक उसका निर्वाह कवि को नहीं करना पड़ता होगा।

आचार्य राजशेखर द्वारा प्रस्तुत काव्यनिर्माण के नौ रूपों में से पूर्णतः उपादेयता केवल तीन रूपों की है-जिन्हें आचार्य राजशेखर ने मृद्वीका पाक, सहकार पाक तथा नारिकेल पाक के नाम से अभिहित किया है। जो रचना आदि में नीरस होकर भी अन्त में सरस हो उसे मृद्वीका पाक कहा गया है। आदि में कुछ मध्यम तथा अन्त में स्वादु रचना सहकार पाक तथा आदि से अन्त तक मधुर रचना नारिकेल पाक है।[1] इस प्रकार की रचनाएँ कवि निश्चिन्त होकर कर सकते हैं क्योंकि इनमें अन्त में सरसता का निर्वाह इन्हें पूर्णतः ग्राह्य बना देता है।

आदि में किसी भी प्रकार के स्वरूप वाली वे रचनाएं जिनका स्वरूप अन्त में मध्यम मधुर हो ग्रहण की जा सकती हैं। परन्तु उनका किञ्चित् संस्कार ही उन्हें ग्राह्य बना सकता है। अन्त में किञ्चित् सरस रचना का संस्कार उसे अन्त में पूर्णतः सरस बनाने से ही सम्बद्ध हो सकता है क्योंकि आचार्य राजशेखर अन्त में सरस रचना को ही पूर्णतः ग्राह्य मानते हैं। काव्यनिर्माण के अन्त में मध्यम मधुर जिन तीन रूपों को आचार्य राजशेखर ने स्वीकार किया है वे हैं-बदरपाक, तिन्तिडीक पाक तथा त्रपुसपाक। इनमें से बदरपाक वह रचना है जो आदि में नीरस तथा अन्त में कुछ सरस हो, तिन्तिडीक पाक आदि और अन्त दोनों में मध्यम स्वाद वाली रचना है तथा त्रपुसपाक आदि में स्वादु तथा अन्त में मध्यम स्वादु रचना को कहा गया है-। इन रचनाओं की अन्त में स्थित किञ्चित् सरसता को कवि को अभ्यासपूर्वक पूर्णतः सरस बनाने का प्रयास करना चाहिए।[2]

---

1. आदावस्वादु परिणामे स्वादु मृद्वीकापाकम् । आदौ मध्यममन्ते स्वादु सहकारपाकम् आद्यन्तयोः स्वादु नालिकेरपाकमिति। स्वभावशुद्धं हि न संस्कारमपेक्षते। न मुक्तामणेः शास्तारतायै प्रभवति।

(काव्यमीमांसा — पञ्चम अध्याय)

2. आदावस्वादु परिणामे मध्यमं बदरपाकम् आद्यन्तयोर्मध्यमं तिन्तिडीकपाकम्
आदावुत्तममन्ते मध्यमं त्रपुसपाकम्।
.... मध्यमा संस्कार्याः।
संस्कारो हि सर्वस्य गुणमुत्कर्षति। द्वादशवर्णमपि सुवर्णं पावकपाकेन हेमीभवति।

(काव्यमीमांसा — पञ्चम अध्याय)

इन रचनाओं के अतिरिक्त कुछ रचनाएँ ऐसी भी होती हैं जिन्हें संस्कार करके भी ग्रहण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार की रचनाएं कवि के लिए पूर्णतः त्याज्य है क्योंकि आदि में किसी भी प्रकार के स्वरूपवाली इन रचनाओं का अन्त सर्वथा नीरस होता है।[1] अन्त में पूर्णतः नीरस रचना का संस्कार किस सीमा तक किया भी जा सकता है? जबकि सहृदय की रस प्रतीति का सम्बन्ध रचना के पर्यवसायी रूप के रस-निर्वाह से अधिक है। प्रारम्भिक अभ्यासी कवि को अन्त में सर्वथा नीरस रचना करने से अपने को बचाना चाहिए। अभ्यास द्वारा वह क्रमशः ऐसी स्थिति में पहुँच सकता है जहाँ उसकी रचना अन्त में कुछ मधुर स्वाद वाली हो जाए, मधुर-स्वाद पर्यवसायी रचना की क्षमता प्राप्त हो जाने के पश्चात् भी कवि को निरन्तर अभ्यास की उस समय तक आवश्यकता है जब तक कि उसकी रचनाएँ अन्त में सर्वथा सरसता, की सीमा तक न पहुँच जाएँ। आचार्य राजशेखर की दृष्टि में रचना के पर्यवसायी रूप की सरसता, नीरसता का जितना महत्व है रचना के आदि स्वरूप की सरसता, नीरसता को उन्होंने उतना महत्व नहीं दिया है।

काव्यनिर्माण के नौ पाक रूपों के आचार्य राजशेखर ने तीन वर्ग बनाए हैं। इन तीन वर्गों को रचना के आदि स्वरूप के आधार पर पृथक किया गया है। आदि में नीरस तीन प्रकार की रचनाओं का एक वर्ग है- जिनमें पिचुमन्द पाक अन्त में भी सर्वथा नीरसता के कारण त्याज्य है, बदरपाक अन्त में कुछ सरस होने से संस्कार्य है, तथा मृद्वीका पाक अन्त में पूर्णतः सरस होने से ग्राह्य है।

---

1. तत्राद्यन्तयोरस्वादु पिचुमन्दपाकम्।
   आदौ मध्यममन्ते चास्वादु वार्त्ताकपाकम्।
   आदावुत्तममन्ते चास्वादु क्रमुकपाकम्।
   तेषां त्रिष्वपि त्रिकेषु पाकाः प्रथमे त्याज्याः। वरमकविर्न पुनः कुकविः स्यात्।
   कुकविता हि सोच्छ्वासं मरणम्

(काव्यमीमांसा — पञ्चम अध्याय)

द्वितीय वर्ग आदि में कुछ मधुर स्वाद वाली रचनाओं का है- इनमें अन्त में सर्वथा नीरस वार्ताक पाक त्याज्य, अन्त में कुछ मध्यम स्वाद वाली रचना तिन्तिडीक पाक संस्कार्य तथा अन्त में पूर्णत: सरस सहकार पाक ग्राह्य है।

तृतीय वर्ग आदि में स्वादु रचनाओं का है-जिनमें अन्त में नीरस रचना क्रमुकपाक त्याज्य है अन्त में कुछ सरस त्रपुसपाक संस्कार्य है तथा अन्त में पूर्णत: सरस नालिकेर पाक ग्राह्य है।

इन नौ प्रकार की रचनाओं के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी रचनाएँ होती हैं जिनका रूप अव्यवस्थित होता है-वे कहीं सरस, कही नीरस, कहीं मध्यम स्वादवाली होती हैं इस प्रकार की रचनाओं को आचार्य राजशेखर कपित्थपाक कहते हैं। इस पाक में कदाचित् किसी प्रकार की सूक्तियाँ भी मिल सकती हैं।[1] आचार्य भामह के 'काव्यालंकार' में भी कपित्थपाक वाली रचना का उल्लेख मिलता है।[2] आचार्य भामह की दृष्टि में इस पाक का स्वरूप अहृद्य है। इस प्रकार की रचना के अवगाहन में विद्वान् भी सरलतापूर्वक समर्थ नहीं होते। यह पाक रसयुक्त होने पर भी रमणीयता तथा शोभा से रहित होता हैं। विभिन्न वस्तुओं के स्वाद के समान ही स्वाद अथवा सरसता नीरसता से सम्बन्ध होने के कारण इन विभिन्न प्रकार की रचनाओं को उन वस्तुओं का ही नाम दिया गया है। कपित्थपाक के सम्बन्ध में भामह के विचारों से राजशेखर का विरोध प्रतीत होता है, क्योंकि भामह का कपित्थपाक सरस होने पर भी मनोहारी नहीं है, किन्तु राजशेखर की दृष्टि में काव्य में सरसता ही ग्राह्य है।

विभिन्न प्रकार की रचनाओं अथवा पाकों का उल्लेख अन्य आचार्यों के ग्रन्थों में भी मिलता है। 'अग्निपुराण' में उभयगुण के भेद रूप में स्वीकृत पाक के मृद्वीका, नालिकेर तथा अम्बुपाक आदि

---

1. अनवस्थितपाकं पुन: कपित्थपाकमानन्ति। तत्र पलालधूननेन अन्नकणलाभवत्सुभाषितलाभ:।

(काव्यमीमांसा — पञ्चम अध्याय)

2. अहृद्यमसुनिर्भेदं रसवत्त्वेऽप्यपेशलम् काव्यं कपित्थमामं यत् केषाञ्चित् तादृशं यथा। 62।

काव्यालङ्कार-भामह (पञ्चम परिच्छेद)

भेद हैं।[1] इस ग्रन्थ में काव्य की सर्वश्रेष्ठता की स्थिति मृद्वीका पाक को माना गया है। आदि तथा अन्त दोनों में सरसता इस पाक का वैशिष्ट्य है। अभ्यासी कवि का नालिकेर, मृद्वीका, सहकार आदि वाक्यपाक भोजराज का प्रौढ़ि गुण है।[2] इन पाकों को उन्होंने पाकभक्ति नाम से भी अभिहित किया है। इनमें आदि में अस्वादु तथा अन्त में स्वादु मृद्वीका पाक है-आदि तथा अन्त दोनों में स्वादु नालिकेर पाक है तथा आदि में स्वादु, मध्य में स्वादुतर तथा अन्त में स्वादुतम आम्रपाक है।[3]

आचार्य राजशेखर की दृष्टि में नालिकेर पाक श्रेष्ठ है क्योंकि वह आदि से अन्त तक स्वादु है।[4] भोजराज की दृष्टि में आदि, मध्य, अन्त में क्रमशः स्वादु, स्वादुतर तथा स्वादुतम सहकार पाक श्रेष्ठ है।

---

1 शब्दार्थावुपकुर्वाणो नाम्नोभयगुणः स्मृतः। तस्यः प्रसादः सौभाग्यं यथासंख्यं प्रशस्यता ।18।

पाको राग इति प्राज्ञै षट प्रपञ्चविपश्चिताः।

उच्चैः परिणतिः काऽपि पाक इत्यभिधीयते ।22 ।

मृद्वीकानारिकेलाम्बुपाकभेदा चतुर्विधः

आदावन्ते च सौरस्यं मृद्वीकापाक एव सः ।24। (दशम अध्याय)

(अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग)

2 **प्रौढ़ि शब्दगुण**

उक्तेः प्रौढः परीपाकः प्रोच्यते प्रौढिसंज्ञया

अत्र प्रकृतिस्थकोमलकठोरेभ्यो नागरोपनागरग्राम्येभ्यो वा पदेभ्योऽभ्युद्धृतादीनां ग्राम्यादीनामुभयेषां वा पदानामावापोद्वापाभ्यां सन्निवेशचारूत्वेन योऽयमाभ्यासिको नालिकेरीपाको मृद्वीकापाक इत्यादिर्वाक्यपरीपाकः सा प्रौढिरित्युच्यते।

सरस्वतीकण्ठाभरण (भोजराज) (प्रथम परिच्छेद)

3 मृद्वीकानारिकेराम्रपाकाद्याः पाकभक्यः ।125। (पेज - 273)

पाकभक्तिषु आदावस्वादु अन्ते स्वादु मृद्वीकापाकम् आद्यन्तयो स्वादु नारिकेलीपाकम् आदिमध्यान्तेषु स्वादु स्वादुतर स्वादुतममित्याम्रपाकम् (सरस्वतीकण्ठाभरण (भोजराज) (पञ्चम परिच्छेद) पेज - 353।)

4. आद्यन्तयोः स्वादु नालिकेरपाकर्मिति। (काव्यमीमांसा - पञ्चम अध्याय)

अग्निपुराण में मृद्वीकापाक को श्रेष्ठ माना गया है।[1] पण्डितराज जगन्नाथ की दृष्टि में भी मृद्वीकापाक ही श्रेष्ठ है जिसकी रचना उनके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं कर सकता।[2]

आचार्य महिमभट्ट के व्यक्तिविवेक में दो अन्य पाकों का उल्लेख मिलता है वे हैं इक्षुपाक तथा जम्बूपाक। इन्होंने इक्षु तथा जम्बूफल के स्वाद वाली काव्यरचना करने वाले भर्तृमेण्ठ आदि कवियों को श्रेष्ठ माना है।[3]

इस प्रकार काव्यशास्त्रीय जगत् में आचार्य राजशेखर की काव्यमीमांसा में विभिन्न पाकों के विवेचन के अतिरिक्त अन्यत्र तीन ही पाक विवेचित हैं मृद्वीका, नालिकेर, तथा सहकार जिन्हें आचार्य राजशेखर ने कवि के लिए सर्वथा ग्राह्य माना है। आचार्य राजशेखर के ग्रन्थ का अभ्यासी कवि से ही सम्बन्ध है इसी कारण उसमें सर्वथा ग्राह्य पाकों के अतिरिक्त संस्कार्य तथा त्याज्य पाकों का भी विवेचन है-जिससे अभ्यासी कवि हेय तथा उपादेय पाकों को पृथक कर हेय पाकों से अपने को बचा सके तथा अपनी रचना को उपादेय पाकों से सम्बद्ध कर सके।[4] जम्बूपाक तथा इक्षुपाक केवल महिमभट्ट द्वारा उल्लिखित है।

अन्य कवि शिक्षाएँ

कवियों का काव्य रचना काल: - काव्यशास्त्रीय जगत् में कवि से सम्बद्ध विभिन्न नवीन विषयों का समावेश सर्वप्रथम आचार्य राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' से मिलता है—क्योंकि यह ग्रन्थ कवियों के स्वरूप के परिपूर्ण विवेचन से सम्बद्ध है। निश्चय ही समसामयिक कवियों के आचरणों के

---

1. आदावन्ते च सौरस्यं मृद्वीकापाक एव सः। 24। दशम अध्याय (अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग)
2. --------मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणरसझरीमाधुरीभाग्यभाजाम्, वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्य॥ रसगङ्गाधर (पण्डितराज जगन्नाथ) पृष्ठ - 294
3. पुण्ड्रेक्षोः परिपाकपाण्डुनिविडे यो मध्यमे पर्वणि ख्यातः किञ्च रसः कषायमधुरो यो राजजम्बूफले। तस्यास्वाददशाविलुण्ठनपटुर्येषां वचो विभ्रमः, सर्वत्रैव जयन्ति चित्रमतयस्ते भर्तृमेण्ठादयः॥ व्यक्तिविवेक (महिमभट्ट) द्वितीय विमर्श — पृष्ठ 214
4. सम्यगभ्यस्यतः काव्यं नवधा परिपच्यते। हानोपादानसूत्रेण विभजेतद्धि बुद्धिमान्॥ अयमत्रैव शिष्याणां दर्शितस्त्रिविधो विधिः, किन्तु विविधमप्येतत्त्रिजगत्यस्य वर्तते॥ (काव्यमीमांसा - पञ्चम अध्याय)

गम्भीर अध्ययन के परिणामस्वरूप तथा स्वयं कवि होने के कारण अपने ही परिवेश के आधार पर आचार्य राजशेखर ने विभिन्न नवीन विषयों को अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया होगा । कवियों के काव्यरचना काल के आधार पर उनका विभाग भी काव्यशास्त्र के इतिहास में नवीन विषय है ।

बुद्धिमान् तथा आहार्य बुद्धि शिष्यों के कवि रूप का काव्यरचना काल की दृष्टि से आचार्य राजशेखर ने भिन्न भिन्न रूप प्रस्तुत किया है । यह प्रस्तुतीकरण कवियों द्वारा काव्यरचना के लिए प्रयुक्त अवसरों से सम्बद्ध है। कवियों का केवल काव्यरचना के ही कार्य में संलग्न हो जाना तथा केवल इसी कार्य तक अपने को सीमित रखना आवश्यक नही है। अन्य विभिन्न कार्यों में भी संलग्नता के आधार पर उनके द्वारा काव्य रचना के लिए प्रयुक्त अवसरों में विविधता हो सकती है । काव्यरचना के लिए प्रतिभा आदि हेतुओं के होने पर भी मानसिक एकाग्रता की महती आवश्यकता है - इस मानसिक एकाग्रता का सभी समय सभी कवियों को उपलब्ध होना आवश्यक नहीं है।काव्यरचना के लिए प्राप्त अवसरों की विविधता के आधार पर केवल काव्यरचना में ही संलग्न एकान्त प्रिय असूर्यम्पश्य कवि, केवल अपनी इच्छा के आधार पर काव्य रचना करने वाले निषण्ण कवि, काव्यरचना में विशेष रूचि के कारण अपने अन्य कार्यों से अवशिष्ट समय में काव्यकर्ता दत्तावसर कवि तथा विशिष्ट अवसरों की उपस्थिति पर ही काव्यचना करने वाले प्रायोजनिक कवि इस प्रकार का विभाग आचार्य राजशेखर ने अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है ।

कवियों का असूर्यम्पश्य रूप विशिष्ट अभिधान उनकी एकान्त प्रियता का सूचक है । यह एकान्तप्रिय , केवल काव्यरचना रूप उद्देश्य से ही सम्बद्ध कवि पूर्णतम एकान्त की इच्छा से गुफाओं अथवा भूमिगृहादि में प्रवेश करते हैं। एकान्तस्थान में सदा निवास उन्हें सदैव मानसिक एकाग्रता भी प्रदान करता है जो काव्यरचना के लिए आवश्यक तत्व है । सदा चित्त की स्थिरता एवम् एकाग्रता रूप

वैशिष्ट्य तथा केवल काव्य रचना रूप कार्य से ही सम्बन्ध इन कवियों को सभी कालों में काव्यरचना की सामर्थ्य प्रदान करता है।[1]

निषण्ण कवियों का काव्यनिर्माण के लिए गुफा आदि में प्रवेश नहीं होता । वे काव्यनिर्माण के लिए पूर्णत: अपनी इच्छा का आश्रय लेते हैं ।[2] अपनी इच्छा की प्रेरणा से किसी भी समय काव्यनिर्माण में प्रवृत्त होने के कारण इस प्रकार के कवियों का भी काव्यरचना का निश्चित काल निर्धारण सम्भव नही है । इच्छा नियंत्रित प्रवृत्ति नहीं है - जिस समय इच्छा जागरूक हो उसी समय काव्यनिर्माण से सम्बन्ध होने के कारण इन कवियों का सदा ही काव्यनिर्माण काल होता है । इस प्रकार इन कवियों के काव्य रचनाकाल का वैशिष्ट्य है कवियों की इच्छा का आश्रय।

'दत्तावसर' कवि का नाम ही उसके स्वरूप का स्पष्टीकरण करता है । केवल काव्यनिर्माण से ही सम्बद्ध कवियों के अतिरिक्त अन्य कार्यकर्ताओं का भी कवित्व सम्भव है ।[3] काव्य का निर्माण कवि को अपने अन्य कार्यों को पूर्णत: त्याग देने के लिए ही बाध्य नहीं करता - यद्यपि काव्य अपनी रचना के समय कवि की पूर्ण मानसिक एकाग्रता की अपेक्षा रखता है । केवल काव्य निर्माण के लिए एकान्त स्थान को निवास बनाकर अन्य सभी कार्यों से निवृत्त हो जाना सभी के लिए सम्भव नहीं है । फिर भी कवित्व प्रेरणा के काव्य निर्माण के लिए प्रेरित करने पर अन्य कार्यों में संलग्न व्यक्ति भी अवसर प्राप्त होने पर काव्य निर्माण में प्रवृत्त होते हैं - काव्य निर्माण के लिए विषयों से निवृत्त एकाग्रचित्त की महती आवश्यकता है । काव्यनिर्माण के अतिरिक्त अन्य कार्यों में भी संलग्न रहने वाले कवि की न तो सदा

---

1 यो गुहागर्भभूमिगृहादिप्रवेशान्नैष्ठिकवृत्तिः कवते, असावसूर्यम्पश्यस्तस्य सर्वे काला:

(काव्यमीमांसा - दशम अध्याय)

2. य: काव्यक्रियायामभिनिविष्ट: कवते न च नैष्ठिकवृत्ति: स निषण्णस्तस्यापि त एव काला: ।

3. य: सेवादिकमविरून्धान: कवते, स दत्तावसरस्तस्य कतिपये काला: । निशायास्तुरीयो यामार्द्ध: स हि सारस्वतो मुहूर्त: । भोजनान्त: सौहित्यं हि स्वास्थ्यमुपस्थापयति , व्यवायोपरम: यदार्त्तिविनिवृत्तिरेकमेकाग्रतायतनं याम्ययानयात्रा विषयान्तरविनिवृत्तम् हि चित्तं यत्र यत्र प्रणिधीयते तत्र तत्र गुडूचीलागम् लगति । यदा यदा चात्मन: क्षणिकतां मन्यते स स काव्यकरणकाल: (काव्यमीमांसा - दशम अध्याय)

मानसिक एकाग्रता सम्भव है न ही विषयों से चित्त की निवृत्ति । इसी कारण उसके काव्य निर्माण के कुछ निश्चित समय ही हो सकते हैं । आचार्य राजशेखर ने इस प्रकार के कवि के लिए कुछ निश्चित समय निर्धारित किए हैं - जैसे रात्रि के चतुर्थ प्रहर का अर्धभाग अर्थात् पूर्णविश्रामदायिनी निद्रा के अनन्तर श्रमनिवृत्ति के कारण कवि को पूर्ण मानसिक एकाग्रता प्रदान करने वाला सारस्वत मुहूर्त। इच्छाओं की तृप्ति के अनन्तर मन की एकाग्रता सम्भव होने से भोजन तथा रमण के बाद का समय । आचार्य राजशेखर ने लम्बी वाहन यात्रा को भी कवि की काव्य रचना के उपयुक्त समय के रूप में स्वीकार किया है। अन्य कार्यो में भी संलग्न कवि की वाहन यात्रा के समय अपने कार्यों से विश्राम प्राप्त होने के कारण काव्य निर्माण में प्रवृत्ति सम्भव है। किन्तु लम्बी वाहन यात्रा का काव्यनिर्माण के लिए उपयुक्त समय होना उसी समय की मान्यता हो सकती है, जब आजकल के से जनसंकुल वाहन न रहे हों। आचार्य राजशेखर ने निश्चय ही अपने समसामयिक वातावरण के आधार पर यह उल्लेख किया होगा - तत्कालीन वाहनों का एकान्त कवियों की यात्रा के समय भी उन्हें मन की एकाग्रता के लिए उपयुक्त स्थान प्रदान करता रहा होगा । 'दत्तावसर' कवि के लिए काव्यनिर्माण के इन निर्धारित समयों में मन एकाग्र हो सकता है किन्तु साथ ही मन की एकाग्रता के अत्यधिक प्रयत्न का ही परिणाम होने के कारण उन कालों में भी काव्य रचना की तीव्र इच्छा तथा रूचि ही कवि को मानसिक एकाग्रता प्रदान कर सकती है ।

'प्रायोजनिक' कवि में काव्यनिर्माण की सामर्थ्य यद्यपि प्रत्येक काल में विद्यमान होती है किन्तु काव्य रचना में सम्भवतः विशिष्ट रूचि के अभाव के कारण वे सर्वदा काव्यनिर्माण में प्रवृत्त नहीं होते।[1] उन्हें कुछ विशिष्ट अवसर जैसे कोई माङ्गलिक अथवा शोक का अवसर अथवा इसी प्रकार का अन्य कोई प्रेरक अवसर ही काव्य निर्माण की प्रेरणा प्रदान करते हैं ।

---

1. यस्तु प्रस्तुतं किंचन संविधानकमुद्दिश्य कयते, स प्रायोजनिकस्तस्य प्रयोजनवशात् कालव्यवस्था ।

(काव्यमीमांसा - दशम अध्याय)

आचार्य राजशेखर का यह विवेचन निश्चय ही समसामयिक कवियों के स्वरूप तथा काव्य रचना की कालव्यवस्था पर ही अधिक आधारित है । यह विविध प्रकार के काव्य निर्माता कवि उनके सम्मुख अवश्य ही विद्यमान रहे होंगे, किन्तु फिर भी इस कवि विभाग की उपादेयता सभी युगों में तथा आधुनिक युग में भी हैं । एकान्त प्रिय केवल काव्य निर्माण में ही संलग्न कवि, एकान्तप्रिय तथा स्थिरचित्त न होने पर भी काव्य निर्माण के लिए अपनी इच्छा पर निर्भर रहने वाले कवि, अन्य कार्यों में संलग्न होने के साथ ही काव्यनिर्माण भी करने वाले कवि तथा विशिष्ट अवसरों पर ही काव्य निर्माता कवि की सदा सर्वत्र उपलब्धि सम्भव है ।

यह उल्लेख केवल उन्हीं कवियों के काव्यरचनाकाल से सम्बद्ध है जो बुद्धिमान् तथा आहार्यबुद्धि शिष्य की अवस्था से कवि बनते हैं। औपदेशिक कवि के लिए इस प्रकार का कोई काल नियम नहीं है, उसका कवित्व दैवाधीन है ।[1] जिस समय काव्यनिर्माण की दैवी प्रेरणा प्राप्त हो केवल उसी समय वह काव्य निर्माण में समर्थ है । आचार्य राजशेखर का कथन है कि औपदेशिक कवि की इच्छा ही उसका काव्यरचना काल है, किन्तु यहां इच्छा का तात्पर्य दैवी शक्ति की प्रेरणा से है, सामान्य इच्छा से नहीं ।

कवि की दिनचर्या :

कवि की दिनचर्या रूप नवीन विषय सर्वप्रथम आचार्य राजशेखर के कवि शिक्षा ग्रन्थ काव्यमीमांसा में ही विवेचित है। केवल काव्य निर्माण ही नहीं किसी भी कार्य का पूर्ण व्यवस्थित रूप उसके नियमित रूप से किए जाने पर ही सम्भव है ।[2] आचार्य राजशेखर के ग्रन्थ का प्रारम्भिक कवियों की शिक्षा से ही अधिक सम्बन्ध होने के कारण उसमें विवेचित दिनचर्या को यद्यपि प्रारम्भिक कवि के कार्यों से ही सम्बद्ध माना जा सकता है क्योंकि प्रारम्भिक कवि के लिए काव्य निर्माण में पूर्ण अभ्यस्त

---

1. बुद्धिमदाहार्यबुद्ध्योरियं नियममुद्रा । औपदेशिकस्य पुनरिच्छैव सर्वे कालाः, सर्वाश्च नियममुद्राः ।

(काव्यमीमांसा- दशम अध्याय)

2. अनियतकालाः प्रवृत्तयो विप्लवन्ते तस्माद्दिवसं निशाम् च यामक्रमेण चतुर्द्धा विभजेत् ।

(काव्यमीमांसा - दशम अध्याय)

होने के लिए काव्य सम्बन्धी कार्यों की नियमितता अधिक आवश्यक है किन्तु काव्य सम्बन्धी कार्यों के नियमन की आवश्यकता श्रेष्ठ काव्यनिर्माण हेतु सभी कवियों के लिए समान रूप से स्वीकार की जा सकती है ।

आचार्य राजशेखर ने दिन, रात्रि का प्रहरों के आधार पर चार चार विभाग करके कवि के विभिन्न कार्य निर्धारित किए हैं । उनके द्वारा निर्धारित काव्य सम्बन्धी कार्यों के पांच विभाग हैं।

क. एकान्त विद्यागृह आदि में काव्य की विद्याओं उपविद्याओं का अनुशीलन, **ख.** काव्यगोष्ठी में काव्यज्ञाताओं के सम्पर्क में काव्यसम्बन्धी समस्याओं का विवेचन, **ग.** काव्यनिर्माण का अभ्यास जिसमें सुन्दर अक्षरों का अभ्यास तथा चित्र काव्य का निर्माण भी सम्मिलित है। **घ.** निर्मित काव्य की पुनः परीक्षा तथा त्रुटियों को दूर करते हुए काव्य का संशोधन-जैसे अधिक पदों का त्याग, न्यून पदों का पूरण, अन्यथा स्थित पद का परिवर्तन तथा विस्मृत पद का अनुसन्धान। दूसरे शब्दों में काव्य में पद संघटना सम्बन्धी दोषों का सुधार। **ङ** काव्य का लेखन कार्य।

कवि के कार्य रात्रि के चुतुर्थ प्रहर अर्थात ब्राह्म मुहूर्त में जागरण से प्रारम्भ होते हैं।[1] ब्राह्मी अर्थात् सरस्वती का प्रतिबोधक होने के कारण रात्रि का चतुर्थ प्रहर ब्राह्ममुहूर्त कहलाता है। मन की निर्मलता, एकाग्रता तथा बुद्धि का प्रसाद इस मुहूर्त में जागरण के ही परिणाम हैं। ब्राह्म मुहूर्त में जागरण से ही कवि के मानस में विभिन्न अर्थों का प्रत्यक्षीकरण तथा नवीन अर्थों का उद्‌भव होता है। रात्रि के इस चतुर्थ प्रहर में यद्यपि मन की निर्मलता स्वाभाविक है फिर भी मन की पूर्ण सात्विकता के लिए सन्ध्यावन्दन तथा सरस्वती स्त्रोत के पाठ को आचार्य राजशेखर ने कवि के इस प्रहर के कार्य रूप में प्रदर्शित किया है। काव्य की देवी सरस्वती के मानस में उद्‌बोध हेतु काव्य-निर्माण से सम्बद्ध कार्यो को आरम्भ करने से पूर्व उसकी आराधना को आवश्यक माना गया है।

कवि के दिन के प्रथम प्रहर का कार्य है काव्य सम्बन्धी विभिन्न विषयों व्याकरण, नामकोश, छन्दः शास्त्र, अलंकार शास्त्र आदि के ज्ञान के लिए काव्य की विभिन्न विद्याओं, उपविद्याओं का एकान्त

---

1. स प्रातरुत्थाय कृतसन्ध्यावरिवस्यः सारस्वतम् सूक्तमधीयीत। (काव्यमीमांसा - दशम अध्याय)

स्थान विद्यागृह आदि में अनुशीलन।[1] विभिन्न विद्याओं के अनुशीलन की कवि को प्रतिभा का अस्तित्व होने पर भी उसके अभिवर्धन के लिए, विभिन्न विषयों में व्युत्पन्न होने के लिए तथा काव्य संघटना के औचित्यपूर्ण निर्माण की क्षमता प्राप्त करने के लिए महती आवश्यकता है।

निरन्तर काव्यसम्बन्धी विवेचन से सम्बद्ध रहने के कारण कवि के मानस में काव्य सम्बन्धी विभिन्न जिज्ञासाओं एवं समस्याओं का उत्पन्न होना सम्भव है। अतः पूर्णतः सन्देह रहित मन से काव्यनिर्माण में संलग्न होने के लिए काव्यज्ञाताओं की संगति में काव्यगोष्ठी में प्रवृत्त होकर अपनी सभी समस्याओं का प्रश्नोत्तरों द्वारा समाधान कवि का दिन के द्वितीय प्रहर का कार्य है।[2] काव्यसम्बन्धी समस्याओं के समाधान के पश्चात् ही काव्यनिर्माण के अभ्यास में प्रवृत्त होने का औचित्य है।

दिन के तृतीय प्रहर के कार्य काव्य-निर्माण के अभ्यास से सम्बद्ध हैं। इन कार्यों के अन्तर्गत ही आचार्य राजशेखर ने चित्र-काव्य के निर्माण तथा सुन्दर अक्षरों के अभ्यास को भी सम्मिलित किया है जो कवि की प्रारम्भिक अवस्था से सम्बद्ध कार्य हैं।[3] इस प्रहर में रसावेश में रचित काव्य शब्दसंघटना आदि के प्रति चित्त की अनवधानता के कारण त्रुटियुक्त हो सकता है। रचित काव्य का पुनः परीक्षण तथा त्रुटियों का संशोधन कवि के दिन के चतुर्थ प्रहर के कार्यों के अन्तर्गत स्वीकृत है।[4] रसावेश में रचित काव्य अधिक पदों की स्थिति, पदों का न्यून होना, पदों की अन्यथास्थिति (उचित स्थान से अतिरिक्त स्थिति) अथवा पदों का विस्मरण आदि त्रुटियों से युक्त हो सकता है। इस प्रहर में कवि को त्रुटियों को दूर करके काव्य को छन्द तथा शब्द संघटना की दृष्टि से पूर्णतः शुद्ध बनाने की आवश्यकता है।

---

1. ततो विद्यावसथे यथासुखमासीनः काव्यस्य विद्या उपविद्याश्चानुशीलयेदाप्रहरात्। न ह्येवं-विधमन्यत्प्रतिभाहेतुर्यथा प्रत्यग्रसंस्कारः। (काव्यमीमांसा - दशम अध्याय)
2. द्वितीये काव्यक्रियाम्। उपमध्याह्नं स्नायादविरूद्धम् भुञ्जीत च। भोजनान्ते काव्यगोष्ठीं प्रवर्तयेत्। कदाचिच्च प्रश्नोत्तराणि भिन्दीत। (काव्यमीमांसा - दशम अध्याय)
3. काव्यसमस्या धारणा, मातृकाभ्यासः, चित्रा योगा इत्यायामत्रयम्। (काव्यमीमांसा - दशम अध्याय)
4. चतुर्थ एकाकिनः परिमितपरिषदो वा पूर्वाह्णभागविहितस्य काव्यस्य परीक्षा। रसावेशतः काव्यं विरचयतो न च विवेक्त्री दृष्टिस्तस्मादनुपरीक्षेत। अधिकस्य त्यागो, न्यूनस्य पूरणम्, अन्यथास्थितस्य परिवर्तनम्, प्रस्मृतस्यानुसन्धानम् चेत्यहीनम्। (काव्यमीमांसा - दशम अध्याय)

पूर्णतः परीक्षित काव्य के सायंकाल रात्रि होने तक लेखन कार्य से कवि के काव्यरचना सम्बन्धी कार्यों का समापन स्वीकृत है।[1] काव्य का लेखन उसे सुरक्षित रखने के लिए परम आवश्यक है। सायंकाल की आचार्य राजशेखर ने केवल निर्मित काव्य के लेखन हेतु ही उपादेयता स्वीकार की है क्योंकि दिनभर के परिश्रम के पश्चात् काव्य निर्माण आदि मानसिक कार्यों को करना कठिन हो सकता है।

मध्याह्न में स्नान तथा प्रकृति के अनुकूल भोजन कवि के स्वच्छता एवं स्वास्थ्य से सम्बद्ध कार्य हैं। स्वच्छता एवं स्वास्थ्य का कवि के मानस पर विशेष प्रभाव पड़ता है। स्नान से शरीर की स्वच्छता के साथ-साथ मन का भी चैतन्य सर्वमान्य है। प्रकृति के अनुकूल भोजन की आवश्यकता कवि के स्वास्थ्य के लिए स्वीकृत है। मन को स्वस्थ, प्रसन्न, निर्मल तथा एकाग्र रखने के लिए शरीर का स्वास्थ्य परम आवश्यक है।

कवि की दिनचर्या में श्रम से निवृत्ति का भी आचार्य राजशेखर ने महत्व स्वीकार किया है। दिनभर के परिश्रम के पश्चात् श्रम से निवृत्ति न होने का कवि के स्वास्थ्य पर भी अनुचित प्रभाव पड़ सकता है इसी कारण रात्रि के प्रथम प्रहर के कार्य के अन्तर्गत रमण आदि कार्यों को स्थान दिया गया है। शरीर के श्रम की निवृत्ति तथा पूर्ण स्वास्थ्य के लिए प्रगाढ़ निद्रा की भी आवश्यकता है। आचार्य राजशेखर ने इसी कारण रात्रि के द्वितीय, तृतीय प्रहर में पूर्ण विश्राम दायिनी निद्रा को कवि के लिए आवश्यक बतलाया है।

कवि के दैनिक कार्यों से सम्बद्ध विभिन्न शिक्षाएँ यद्यपि आचार्य क्षेमेन्द्र के 'कविकण्ठाभरण' में भी मिलती हैं, उनके अनुसार कवि की चर्या बौद्धिक विकास का बाह्य सहायक साधन है। उन्होंने कवित्व प्राप्ति के अनेक दिव्य उपाय प्रदर्शित किए हैं तथा कवि के लिए प्रभात में जागरण, व्रत, त्याग, गणेश पूजन, श्रेष्ठ कवियों का सत्संग, सज्जन मैत्री, मीठा स्निग्ध भोजन, दिन में न सोना, गर्मी ठण्डक से बचाव, सभा, यज्ञ, विद्यागृहों में ठहरना, अपनी रचित कृतियों का संशोधन तथा बीच-बीच में

---

1. सायं सन्ध्यामुपासीत सरस्वतीं च। ततो दिवा विहितपरीक्षितस्याभिलेखमाप्रदोषात्।

(काव्यमीमांसा - दशम अध्याय)

विश्राम आदि आवश्यक कार्य स्वीकार किए हैं। किन्तु कवि की दिनचर्या का प्रहरों पर आधारित नियमित विभाग आचार्य राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिलता। श्रेष्ठ काव्यरचयिता के लिए दिनचर्या का यह विभाग परमावश्यक है।[1]

कवि का स्वभाव: -

प्रत्येक कवि के काव्य का उसके स्वभाव के वैशिष्ट्य से प्रभावित होना अनिवार्य है। आचार्य कुन्तक की तो धारणा है कि विविध कवियों के व्युत्पत्ति तथा अभ्यास उनके स्वभाव के वैशिष्ट्य से प्रभावित होने के कारण विविध प्रकार के होते हैं। यद्यपि सभी कवियों के स्वभाव में एक ही प्रकार की विशेषताओं का होना सम्भव नहीं है। किन्तु स्वभाव की कुछ विशेषताओं को अपनाने का प्रयत्न प्रत्येक प्रारम्भिक कवि के लिए आवश्यक है। स्वभाव को सात्विक बनाने के लिए कुछ विशेषताएँ आचार्य राजशेखर द्वारा प्रदर्शित की गयी है जिनके अस्तित्व की अनिवार्यता सभी प्रारम्भिक कवियों के लिए है। स्वभाव से सम्बद्ध यह उपादेय वैशिष्ट्य हैं—स्मितपूर्वक भाषण, सब प्रकार से उक्तिगर्भ वार्तालाप, सभी रहस्यों को जानने की इच्छा, दूसरों के दोषों का बिना चर्चा उठे कथन न करना तथा चर्चा उठने पर यथार्थ समालोचना।[2] स्मित पूर्वक भाषण कवि की मानसिक प्रसन्नता को, उक्तिगर्भ वार्तालाप उसके गाम्भीर्य को, रहस्यों के अन्वेषण का स्वभाव उसकी जिज्ञासा को तथा दूसरों के दोषों के विषय में मौन तथा अवसर उपस्थित होने पर यथार्थ समालोचना उसके पक्षपात-राहित्य तथा यथार्थ समालोचना की क्षमता को व्यक्त करते हैं।

स्वभाव की सात्विकता को आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी बौद्धिक विकास के आन्तरिक सहायक साधन के रूप में स्वीकार किया है। उनकी सौ शिक्षाओं में कवि के स्वभाव के संस्कार से सम्बद्ध विभिन्न शिक्षाएँ हैं. कवि के लिए अपना स्वभाव शिष्ट, उत्साह-पूर्ण तथा अदीन बनाने का प्रयत्न करने की

---

1. अहर्निशाविभागेन य इत्थं कवते कृती एकावलीव तत्काव्यं सतां कण्ठेषु लम्बते।

2. स यत्वस्वभावः कविस्तदनुरूपं काव्यम्। यादृशाकारश्चित्रकरस्तादृशाकारमस्य चित्रमिति प्रायो वादः। स्मितपूर्वमभिभाषणम् सर्वत्रोक्तिगर्भमभिधानं सर्वतो रहस्यान्वेषणम्, परकाव्यदूषणवैमुख्यमनभिहितस्य, अभिहितस्य तु यथार्थमभिधानम्। (काव्यमीमांसा - दशम अध्याय)

आवश्यकता है। आत्मविश्वास, विनय, सज्जनमैत्री, चित्त की प्रसन्नता, रसिकता, शोक न करना, आदर, स्वतन्त्र रहना, अपने उत्कर्ष की तृष्णा न करना, दूसरों के उत्कर्ष को सहना, अपनी प्रशंसा सुनकर लज्जानुभव करना, दूसरों की प्रशंसा बार बार करना, किसी से बैर या ईर्ष्या न करना, दूसरों के उत्कर्ष को सद्‌भाव से जीतने की इच्छा, व्युत्पत्ति के लिए सबकी शिष्यता स्वीकार करना, आशा, जंजाल का परित्याग, संतोष, सात्विकता, याचना न करना, काव्यरचना का आग्रह, दूसरे लोग यदि कभी आक्षेप करें तो उसे सह लेना गंभीरता, निर्विकारता, आत्मश्लाघी न होना, दीन न होना आदि प्रारम्भिक कवि के लिए आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा अनिवार्य बतलाए गए यह विभिन्न गुण कवि के स्वभाव के संस्कार से तथा उसे सात्विक बनाने से सम्बद्ध हैं।

कवि का स्वास्थ्य :-

आचार्य राजशेखर की काव्य-मीमांसा में काव्य के आठ जीवन स्त्रोत प्रदर्शित हैं। प्रतिभा, बहुश्रुतता, अभ्यास, भक्ति, विद्वत्कथा, स्वास्थ्य, स्मृतिदृढ़ता एवं उत्साह।[1] काव्यनिर्माण रूप मानसिक कार्य शारीरिक स्वास्थ्य के बिना असम्भव है क्योंकि मन की एकाग्रता, शान्ति, स्मृतिदृढ़ता एवं काव्यरचना में उत्साह सभी के लिए स्वास्थ्य की प्राथमिक आवश्यकता है। आचार्य राजशेखर द्वारा प्रदर्शित कवि की दिनचर्या में प्रातः जागरण, प्रकृति के अनुकूल भोजन, श्रम निवृत्ति एवं प्रगाढ़ निद्रा- कवि के स्वास्थ्य से ही सम्बद्ध निर्देश हैं।[2] स्वस्थ शरीर के लिए इन सभी की उपादेयता स्वीकार की गयी है। इसके अतिरिक्त आचार्य क्षेमेन्द्र के 'कविकण्ठाभरण' से भी कवि को शारीरिक स्वास्थ्य से सम्बद्ध विभिन्न निर्देश प्राप्त होते हैं जैसे मीठा और स्निग्ध भोजन, वात, पित्त एवं कफ की समता रूप धातुसाम्य, प्रातः जागरण, दिन में न सोना तथा उष्णता एवं शीत से शरीर की रक्षा।

---

1. स्वास्थ्यं प्रतिभाभ्यासो भक्तिर्विद्वत्कथा बहुश्रुतता स्मृतिर्दाढर्यमनिर्वेदश्च मातरोऽष्टौ कवित्वस्य॥

(काव्यमीमांसा - दशम अध्याय)

2. **कविचर्या--------**स प्रातरुत्थाय कृतसन्ध्यावरिवस्यः...................... उपमध्याह्नं स्नायादविरुद्धं भुञ्जीत च **द्वितीय-तृतीयौ साधु शयीत। सम्यक्स्वापो वपुषः वरमारोग्याय। चतुर्थे सप्रयत्नं प्रतिबुध्येत। ब्राह्मे मुहूर्ते मनः प्रसीदत्तांस्तानर्थानध्यक्षयतीत्याहोरात्रिकम्।** (काव्यमीमांसा - दशम अध्याय)

कवि की स्वच्छता :-

काव्य की आधारभूत सरस्वती के सम्मान के लिए एवं मानसिक सात्विकता की प्राप्ति के लिए काव्यरचना में प्रवृत्त होने से पूर्व सर्वथा स्वच्छता एवं पवित्रता की कवि के लिए अनिवार्यता हैं। इसी कारण आचार्य राजशेखर ने काव्यनिर्माण से पूर्व वाणी, मन एवं शरीर तीनों को स्वच्छ एवं पवित्र रखने का कवि को निर्देश दिया है।[1] शास्त्रों के नित्य अध्ययन एवं अभ्यास से ज्ञान संवर्धन के द्वारा कवि की वाणी तथा मन की पवित्रता स्वयं ही सम्भव है। इसके अतिरिक्त शरीर की स्वच्छता का मन के विचारों एवं भावों पर विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। इसी कारण शरीर को पूर्णत: स्वच्छ रखने की तथा स्वच्छ वस्त्र धारण करने की आवश्यकता सभी युगों के कवियों के लिए है। किन्तु शारीरिक स्वच्छता के संदर्भ में व्यक्त आचार्य राजशेखर का विचार उनकी समसामयिक परिस्थिति को सम्मुख उपस्थित करता है। वह समय राज्याश्रित कवियों का ही अधिक था। ताम्बूल-युक्त मुख, सुगन्धित लेपों से लिप्त शरीर, मूल्यवान् तथा स्वच्छ वस्त्र एवं शिर पर सुगन्धित पुष्प से समन्वित कवि का स्वरूप कवियों की तत्कालीन समृद्धि का ही परिचायक है। फिर भी काव्यनिर्माण के लिए कवि की शारीरिक स्वच्छता की आवश्यकता का निराकरण नहीं किया जा सकता, यद्यपि कवि के शारीरिक श्रृंगार का जैसा वर्णन आचार्य राजशेखर ने प्रस्तुत किया है उससे सम्बद्ध मान्यताएँ प्रत्येक युग में भिन्न हो सकती है। किसी युग में कवियों का अत्यधिक समृद्ध न होना भी सम्भव है फिर भी उसके लिए शरीर तथा वस्त्रों की स्वच्छता की महती आवश्यकता है। आचार्य क्षेमेन्द्र के ग्रन्थ में विवेचित सुवेष स्वच्छता से सम्बद्ध निर्देश ही है।

कवि के परिचारक, परिचारिकाएँ, सम्बन्धी एवम् मित्र :-

आचार्य राजशेखर ने कवि के परिचारक, परिचारिकाओं, मित्रों एवं सम्बन्धियों के विशिष्ट भाषाओं में निष्णात होने का विवेचन किया है तथा कवि के परिचारकों के लिए अपभ्रंश भाषा, परिचारिकाओं के लिए मागध भाषा, अन्त:पुर की स्त्रियों के लिए प्राकृत तथा संस्कृत भाषा एवं मित्रों के

---

1. अपि न नित्यं शुचिः स्यात्। त्रिधा च शौचं वाक्शौचं मनःशौचं, कायशौचं च। प्रथमे शास्त्रजन्मनी। तार्तीयीकं तु मनखच्छेदौपादौ, सताम्बूलं मुखं सविलेपनमात्रं वपुः, महार्हमनुल्वणं च वासः सकुसुमं शिर इति। शुचि शुचिशीलनं हि सरस्वत्याः संवननमामनन्ति। (काव्यमीमांसा - दशम अध्याय)

लिए सभी भाषाओं का ज्ञान आवश्यक बतलाया है।[1] कवि के सम्बन्धियों की भाषा से सम्बद्ध इस विवेचन के आधार पर तत्कालीन समाज में प्रचलित भाषाओं की स्थिति का ज्ञान होता है एवम् महत्व की दृष्टि से भाषाओं को संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा मागधी के क्रम में रखा जा सकता है। परिचारिकों, भृत्यों आदि की उपस्थिति तत्कालीन कवि को राजसी जीवन से सम्बद्ध रूप में प्रस्तुत करती है क्योंकि केवल राज्याश्रित, पूर्णतः समृद्ध कवि के ही परिचारक, परिचारिका, भृत्य आदि हो सकते हैं, सामान्य कवि के नहीं।कवि के परिचारकों आदि का विभिन्न भाषाओं से सम्बद्ध ज्ञान राजसी जीवन से पृथक् कवि के लिए इसी तात्पर्य को व्यक्त करता है कि कवि को अपने समय में समाज में प्रचलित सभी भाषाओं का ज्ञान होना चाहिए।

कवि का सहायक लेखक :-

सम्भवतः आचार्य राजशेखर के समय में कवियों के काव्य की परीक्षा हेतु छोटी बड़ी काव्यसभाओं का आयोजन होता था जिसमें काव्यपाठ के द्वारा कवि के काव्य का संस्कार एवं शुद्धता सम्भव थी। काव्यपाठ करते समय स्वयं ही अपने काव्य का सभा के द्वारा किए गए संस्कार के आधार पर लेखन कार्य कवि के लिए कठिन रहा होगा। इसी कारण सभा में पठित काव्य के संस्कार एवं विशुद्धि के अनन्तर उसके लेखन कार्य हेतु कवि के लिए एक सहायक लेखक की आवश्यकता स्वीकार की गई है। कवि के इस सहायक में आचार्य राजशेखर ने सभी भाषाओं में निपुणता, शीघ्र बोलना, सुन्दर अक्षर लिखना, इङ्गित को समझना, विभिन्न लिपियों का ज्ञान एवं लाक्षणिकता आदि गुण आवश्यक बतलाए है। काव्यसभा में पूर्णतः संस्कृत एवं विशुद्ध काव्य के लेखन हेतु सहायक की आवश्यकता स्वीकार करने के पश्चात् भी आचार्य राजशेखर के 'रात्रि आदि में सहायक के समीप उपस्थित न रहने पर उसके विभिन्न भाषाओं में कुशल सम्बन्धी उसके काव्य का लेखन कर सकते हैं।[2]' इस कथन के आधार पर कवि के सहायक लेखक की आवश्यकता को केवल सभा की परीक्षा के

---

1. अपभ्रंशभाषणप्रवणः परिचारकवर्गः समागधभाषाभिनिवेशिन्यः परिचारिकाः प्राकृतसंस्कृतभाषाविद् आन्तःपुरिका, मित्राणि चास्य सर्वभाषाविन्दि भवेयुः (काव्यमीमांसा - दशम अध्याय)

2. सदः संस्कारविशुद्धयर्थ सर्वभाषाकुशलः शीघ्रवाक्, चार्वक्षरः, इङ्गिताकारवेदी नानालिपिज्ञः कविः लाक्षणिकश्च लेखकः स्यात्। तदसन्निधावतिरात्रादिषु पूर्वोक्तानामन्यतमः। (काव्यमीमांसा - दशम अध्याय)

आधार पर संस्कार सहित काव्यलेखन के ही अन्तर्गत सीमित नहीं किया जा सकता, बल्कि कवि के कार्य को सरल बनाने के लिए एक सहायक लेखक की आवश्यकता कवि के सभाओं में काव्यपाठ करने के अतिरिक्त समयों में भी स्वीकार की जा सकती है। आचार्य राजशेखर का समय राज्याश्रित कवियों से ही अधिक सम्बद्ध है, वे स्वयं भी राज्याश्रित कवि थे। तत्कालीन समाज में इन राज्याश्रित कवियों को सहायक आदि की सुविधा भी अवश्य रही होगी जो कुछ निश्चित समय के लिए कवि के समीप रहते हों एवं सभाओं आदि में कवि के साथ जाते रहे हों। आचार्य राजशेखर ने कवि की दिनचर्या में काव्यलेखन का एक निश्चित समय निर्धारित कर दिया है। अत: रात्रि आदि में उसके काव्यलेखन का कार्य जो उसके सहायक के अभाव में उसके सम्बन्धी करते हैं इसी तात्पर्य को व्यक्त करता है कि प्रारम्भिक कवियों को अपने काव्यसम्बन्धी कार्यों को पूर्ण व्यवस्थित तथा नियमित बनाने के लिए नियमित दिनचर्या की आवश्यकता है जिसमें काव्य विद्याओं के ज्ञान एवं काव्यनिर्माण के अभ्यास का भी स्थान है किन्तु काव्यविद्याओं के पूर्ण ज्ञाता, पूर्ण अभ्यस्त कवि का किसी भी समय काव्यनिर्माण एवं काव्यलेखन सम्भव है इसी कारण उन्हें काव्य के लेखनकर्ता सहायक की आवश्यकता किसी भी समय हो सकती है। प्रारम्भिक अवस्था के कवि प्रयत्न पूर्वक काव्य निर्माण करते हैं, अत: उनके काव्यनिर्माण एवं काव्यलेखन का निश्चित समय निर्धारित करना सम्भव है, किन्तु काव्य के भावोदय एवं शब्द, अर्थ आदि काव्यसामग्रियों की मानस में उद्भावना हेतु जिन्हें प्रयत्न नहीं करना पड़ता उन पूर्ण कवियों के मानस में जिस समय काव्य का भावोदय हो उसी समय उन्हें काव्यनिर्माण तथा काव्यलेखन की भी आवश्यकता है।

काव्य की लेखन सामग्री :-

काव्य लेखन हेतु आवश्यक लेखन सामग्रियों का कवि के समीप सदा उपस्थित रहना अनिवार्य है क्योंकि मानसिक काव्यनिर्माण के पश्चात् लेखन सामग्री के अभाव में उसे लिखित रूप न दे सकने के कारण उसके विस्मृत हो जाने की भी सम्भावना है। आचार्य राजशेखर ने अपने समय की परिस्थिति के अनुकूल तत्कालीन समाज में प्रचलित लेखन सामग्रियों की कवि के लिए आवश्यकता स्वीकार की है। इन सामग्रियों में बन्द होने वाले पिटक, खड़िया, स्लेट, डिब्बे, कलम-दावात,

ताड़पत्र, भूर्जपत्र, कीलों से गुंथे तालपत्र एवं साफ चिकनी दीवारें सम्मिलित हैं।[1] यद्यपि इन लेखन सामग्रियों का रूप प्रत्येक युग में प्रचलित भिन्न सामग्रियों के आधार पर पृथक् हो सकता है किन्तु काव्यलेखन हेतु लेखन सामग्री प्रत्येक युग के कवि के लिए आवश्यक है। कुछ आचार्यों ने इन लेखन सामग्रियों को काव्य विद्या की सामग्री के रुप में स्वीकार किया है किन्तु आचार्य राजशेखर काव्यनिर्माण के आवश्यक उपकरण के रूप में केवल प्रतिभा की ही अनिवार्यता स्वीकार करते हैं।[2] लेखन सामग्री के समीप उपस्थित रहने पर भी मन में काव्य के शब्द अर्थ की उद्‌भाविका प्रतिभा के अभाव में काव्यनिर्माण असम्भव होने के कारण लेखन सामग्री व्यर्थ हो जाती है। अत: काव्य के भावादि का उदय एवं काव्यनिर्माण केवल प्रतिभा द्वारा ही हो सकता है, लेखन सामग्री के समीप उपस्थित रहने से ही नहीं, किन्तु फिर भी प्रतिभाशील एवं काव्यनिर्माण में पूर्ण सक्षम कवि के लिए काव्य की लेखन सामग्री की आवश्यकता का भी निराकरण नहीं किया जा सकता। प्रतिभा को काव्यनिर्माण की प्रमुख सामग्री के रूप में स्वीकार करके भी काव्य की लेखन सामग्री को काव्यनिर्माण की गौण सहायक सामग्री कहा जा सकता है, क्योंकि काव्य को सुरक्षित रखने के लिए काव्यलेखन की एवं काव्यलेखन हेतु लेखन सामग्री की भी आवश्यकता है। केवल प्रतिभा द्वारा मन में काव्यनिर्माण एवं काव्यपाठ उसे स्थायी नहीं बनाता, बल्कि काव्य का लेखन ही उसे सुरक्षा एवं स्थायित्व प्रदान करता है।

कवि का आवास :-

आचार्य राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' में कवि के आवास का विशिष्ट रूप उपस्थित है जिसमें छहों ऋतुओं के अनुकूल स्थान, सुन्दर वृक्षवाटिकाओं, क्रीडापर्वतों, पुष्करिणी, समुद्र तथा नदियों के कृत्रिम आवर्त, नहरों के प्रवाह, मयूर, हरिण, हारिल, सारस, चक्रवाक, हंस, चकोर, क्रौञ्च, कुरर आदि पक्षी एवं धूप, वर्षा से रक्षा करने वाले छाया स्थान, गुफाओं, धारायन्त्र, लतामण्डप, हिंडोले तथा

---

1. तस्य सम्पुटिका सफलकखटिका, समुद्‌गक:, सलेखनीकमषीभाजनानि, ताडिपत्राणि भूर्जत्वचो वा, सलोहकण्टकानि तालदलानि सुसम्मृष्टा भित्तय: सततसन्निहिता स्यु:। काव्यमीमांसा - (दशम अध्याय)

2. 'तद्धि काव्यविद्याया: परिकर:' इति आचार्या: 'प्रतिभैव परिकर:' इति यायावरीय:।

(काव्यमीमांसा - दशम अध्याय)

झूले आदि की स्थिति विवेचित है।[1] यह पूर्ण सुन्दर प्राकृतिक आवास तत्कालीन अधिकांश कवियों के समृद्ध राजसी जीवन का परिचायक है। सम्भवत: स्वयं आचार्य राजशेखर आदि विभिन्न राज्याश्रित कवियों को इस प्रकार के आवास उपलब्ध रहे हों, किन्तु सभी कवियों का आवास इसी प्रकार हो यह सम्भावना कम ही है। फिर भी आचार्य राजशेखर द्वारा विवेचित कवि के आवास का यह स्वरूप उनके इस सामान्य तात्पर्य को व्यक्त करता है कि प्रत्येक दृष्टि से कवि का आवास इस प्रकार का होना चाहिए जिसमें कवि के मानस के पूर्णत: शान्त रहने एवं काव्यनिर्माण की ओर प्रेरित होने की सम्भावना हो। कवि के आवास में वर्णित विभिन्न प्राकृतिक स्थितियाँ कवि की काव्य प्रेरणा एवं भावोदय हेतु प्रकृति की उपादेयता की सूचक हैं। किन्तु साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि प्रकृति का सामीप्य कवि को काव्य निर्माण की प्रेरणा दे सकता है, अकवि को कवि नहीं बना सकता। निरन्तर प्रकृति के सामीप्य में निवास ही सभी को कवि नहीं बना देता। कवि बनने के लिए प्राथमिक आवश्यकता प्रतिभा की ही है। विभिन्न जन्मान्ध कवियों के प्रकृति का दर्शन किए बिना ही श्रेष्ठ कवि बनने के दृष्टान्त काव्य जगत् में मिलते हैं। कवि के आवास में शान्त तथा विजन स्थान की स्थिति[2] उसके काव्य रचना से श्रान्त होने पर पूर्ण विश्राम एवं एकान्त मिलने की आवश्यकता से सम्बद्ध विवेचन है।

विभिन्न प्रकीर्ण कवि शिक्षाएँ :-

काव्यनिर्माण से पूर्व काव्य की विद्याओं, उपविद्याओं के अनुशीलन के अतिरिक्त कवि के लिए भाषा एवं विषय की दृष्टि से अपनी ज्ञान सीमा भी विवेच्य है। आचार्य राजशेखर कवि की ज्ञान सीमा के ही आधार पर ही की गई काव्य रचना की उपादेयता स्वीकार करते हैं। अपने काव्य के लिए स्वीकृत विषय के सम्बन्ध में कवि का अपूर्ण ज्ञान उसके काव्य को सहृदयों की दृष्टि में उपहासास्पद बना सकता

---

1. तस्य भवनं सुसंमृष्टं, ऋतुषट्कोचित्विविधस्थानम्, अनेकतरूमूलकल्पितापाश्रयवृक्षवाटिकाम् सक्रीडापर्वतकं, सदीर्घिकापुष्करिणीकं, ससरित्समुद्रावर्त्तकम् सकुल्याप्रवाहम्, सबर्हिणहरिणहारीतं, ससारसचक्रवाकहंसम्, सचकोरक्रौञ्चकुररशुकसारिकम्, घर्मक्लान्तिचौरम्, सभूमिधारागृहयन्त्रलतामण्डपकम् सदोलाप्रेङ्खं च स्यात्।

   काव्यमीमांसा - (दशम अध्याय)

2. काव्याभिनिवेशखिन्नस्य मनसस्तद्विनिर्वेदच्छेदायाज्ञामूकपरिजनं विजनं वा तस्य स्थानम्

   काव्यमीमांसा - (दशम अध्याय)

है। विषय के अतिरिक्त कवि के लिए अपनी सामर्थ्य के अनुसार ही काव्यभाषा स्वीकार करने की भी अनिवार्यता है। किसी विशिष्ट देश का निवासी होने के आधार पर कवि का उस देश की भाषा में काव्यनिर्माण स्वाभाविक है। कवियों की भाषा पर देश विशेष एवं राज्यविशेष का प्रभाव सम्भवत: आचार्य राजशेखर को परिलक्षित हुआ था क्योंकि इसी संदर्भ में उन्होंने तत्कालीन विभिन्न देशवासी कवियों का अपने देश के अनुसार ही विशिष्ट भाषा में काव्यनिर्माण का उल्लेख किया है।

तत्कालीन गौड़देशीय कवियों की संस्कृत में रुचि, लाटदेश के निवासी कवियों की प्राकृत में मारवाड़, पंजाब के कवियों की अपभ्रंश में तथा मध्यदेश, आवन्तिका, पारियात्र और दशपुर आदि प्रदेशों के कवियों की भूतभाषा में रुचि 'काव्यमीमांसा' में उल्लिखित है।[1] इसके अतिरिक्त इसी संदर्भ में तत्कालीन मध्य देशवासी कवियों का विभिन्न भाषाओं में ज्ञान एवं रुचि का परिचय भी 'काव्यमीमांसा' से प्राप्त होता है। आचार्य राजशेखर का यह भाषा सम्बन्धी उल्लेख विभिन्न देशों एवं स्थानों की तत्कालीन काव्य भाषाओं का परिचय देता है।

तत्कालीन समाज में राज्याश्रित कवियों की अधिकता के कारण आचार्य राजशेखर ने कवियों को अपने आश्रयदाता की भी रूचियों का ध्यान रखने का निर्देश दिया है। राज्याश्रित कवि में काव्यभाषा एवं काव्यविषय की दृष्टि से तत्कालीन समाज में आचार्य राजशेखर को किञ्चित् परतन्त्रता अवश्य दृष्टिगत हुई होगी, स्वयं राज्याश्रित कवि होने के कारण ही वे इस प्रकार की परतन्त्रता का किञ्चित् औचित्य भी स्वीकार करते थे। विभिन्न राजाओं के अन्त:पुर की भाषा का वैशिष्ट्य उनकी काव्यमीमांसा में उल्लिखित है। मगध के शिशुनाग राजा के अन्त:पुर की भाषा में ट, ठ, ड, ढ, श ष, ह और क्ष वर्जित थे। सूरसेन के कुविन्द राजा के अन्त:पुर में भी भाषा के कठिन अक्षरों का प्रयोग वर्जित था। कुन्तल देश के सातवाहन राजा के अन्त:पुर में प्राकृत भाषा के ही प्रयोग का प्रचार था एवं उज्जयिनी

---

1. गौडाद्या: संस्कृतस्था: परिचितरुचय: प्राकृते लाटदेश्या: सापभ्रंशप्रयोगा: सकलमरूभुवष्टक्कभादानकाश्च आवन्त्या: पारियात्रा: सह दशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते यो मध्ये मध्यदेशं निवसति स कवि: सर्वभाषानिषण्ण:

काव्यमीमांसा - (दशम अध्याय)

के साहसांक राजा का अन्तःपुर संस्कृत भाषामय था।[1] कविशिक्षा के संदर्भ में इस उल्लेख का आशय कवियों की भाषा पर राजाओं के भाषा वैशिष्ट्य का प्रभाव परिलक्षित होने से सम्बद्ध है। काव्यसम्बद्ध भाषा की विभिन्न दृष्टियों से नियमितता केवल किसी विशिष्ट देश अथवा राज्य के आश्रित कवि के लिए ही है, किन्तु विभिन्न भाषाओं के ज्ञाता, विभिन्न देशों में भ्रमणशील स्वतन्त्र कवियों के लिए भाषा आदि की दृष्टि से किसी देश विशेष अथवा राजा की रुचि को ध्यान में रखना अनिवार्य नहीं है। ऐसे कवि अपनी इच्छानुसार किसी भी भाषा में काव्यरचना करने के लिए पूर्णतः स्वतन्त्र हैं।

भाषा एवं विषय की दृष्टि से अपनी ज्ञान सीमा की विवेचनशीलता कवि की प्राथमिक आवश्यकता है।[2] किन्तु इसके अतिरिक्त काव्य निर्माण काल में लोकरुचि पर एवं स्वयम् अपने ही विचारों पर दृष्टि डालना भी अनिवार्य है क्योंकि श्रेष्ठ काव्य को लोकरूचि पर आधारित होने के साथ ही कवि के विचार स्वातन्त्र्य से भी सम्वद्ध होना चाहिए। काव्यरचना लोक को लिए ही अधिक होती है, किन्तु लोकहेतु रचित काव्य में जब लोकरुचि का ही ध्यान न रखा गया हो तो उसकी लोकप्रियता की सम्भावना कम हो जाती है। काव्य के परम प्रयोजन यश की प्राप्ति हेतु लोकरूचि से सम्बद्ध विषय अपनाना श्रेयस्कर होने के साथ ही कवि के लिए विचार स्वातन्त्र्य की एवम् आत्मरूचि के अनुरूप विषय स्वीकार करने की भी अनिवार्यता है, क्योंकि कवि के विचार स्वातन्त्र्य सम्पन्न काव्य में ही

---

1. स्वभवने हि भाषानियमं यथा प्रभुर्विदधाति तथा भवति। श्रूयते हि मगधेषु शिशुनागे नाम राजा, तेन दुरूचारानष्टौ वर्णानपास्य स्वान्तःपुर एव प्रवर्तितो नियमः टकारादयश्चत्वारो मूर्धन्यास्तृतीयवर्जमूष्माणस्त्रयः क्षकारश्चेति।
श्रूयते च सूरसेनेषु कुविन्दो नाम राजा, तेन परुषसंयोगाक्षरवर्जमन्तःपुर एवेति समानं पूर्वेण।
श्रूयते च कुन्तलेषु सातवाहनो नाम राजा तेन प्राकृतभाषात्मक मन्तःपुर एवेति समांन पूर्वेण।
श्रूयते चोज्जयिन्यां साहसाङ्को नाम राजा तेन च संस्कृतभाषात्मकमन्तःपुर एवेति समानं पूर्वेण।

काव्यमीमांसा - (दशम अध्याय)

2. ''कविः प्रथममात्मानमेव कल्पयेत्। कियान्मे संस्कारः,क्व भाषाविषये शक्तोऽस्मि, किंरुचिर्लोकः परिवृढो वा कीदृशि गोष्ठ्यां विनीतः क्वास्य वा चेतः संसजतः इति बुद्ध्वा भाषाविशेषमाश्रयेत'' इति आचार्याः 'एकदेशकवेरिय नियमतन्त्रणा स्वतन्त्रस्य पुनरेकभाषावत् सर्वा अपि भाषाः स्युः' इति यायावरीयः।

काव्यमीमांसा - (दशम अध्याय)

स्वाभाविकता सम्भव है। लोकनिन्दा आदि के भय से आत्मविचारों का तिरस्कार करके रचे गये काव्य में कृत्रिमता अधिक होती है।

अधिकांश कवियों को मृत्यु प्राप्ति के बाद ही प्रशंसा प्राप्ति की आचार्य राजशेखर की स्वीकृति समाज में सच्चे समालोचकों की भारी कमी की द्योतक है।[1] कवियों के सम्बन्धियों द्वारा उनके काव्य का पूर्णत: प्रचार भी इसी अभिप्राय को व्यक्त करता है। कवि की काव्यरचना स्वयं कवि के यश का कारण होती है, दूसरों के यश का नहीं, किन्तु दूसरों के शब्द, अर्थ अपनाकर काव्यरचना की तत्कालीन परम्परा ने ही आचार्य राजशेखर को विभिन्न विषयों में कवियों को सावधान रहने का निर्देश देने की प्रेरणा दी होगी।[2] दूसरों के काव्य को अपने काव्य रूप में प्रस्तुत करने की तत्कालीन परम्परा आचार्य राजशेखर के विस्तृत हरण विवेचन से प्रकट होती है। सच्चे समालोचकों की अनुपस्थिति में कवियों को ऐसे समालोचक उपलब्ध हो जाते थे जो सत्काव्य में भी दोष ही दोष प्रदर्शित करके एवम् स्वयं अपने शब्दों, अर्थों द्वारा कवि के काव्य को परिवर्तित करके उसका वास्तविक स्वरूप नष्ट कर देते थे. इस प्रकार के स्वयं को ही कवि समझने वाले समालोचकों से अपने काव्य की रक्षा का निर्देश कवि को 'काव्यमीमांसा' से प्राप्त है। एकाकी व्यक्ति के समक्ष अथवा कविमानी के समक्ष अपना काव्य प्रस्तुत करना दोनों ही कवि के काव्य के अस्तित्व के लिए हानिकारक समझे गए हैं। सम्भवत: इसी कारण काव्यपरीक्षा हेतु काव्यगोष्ठियों की उपादेयता स्वीकृत है।[3]

---

1. गीतसूक्तिरतिक्रान्ते स्तोता देशान्तरस्थिते। प्रत्यक्षे तु कवौ लोक: सावज्ञ: सुमहत्यपि॥--------------
पितुर्गुरुनरेन्द्रस्य सुतशिष्यपदातय:। अविविच्यैव काव्यानि स्तुवन्ति च पठन्ति च॥

काव्यमीमांसा - (दशम अध्याय)

2. 'किञ्च नार्द्धकृतं पठेदसमाप्तिस्तस्य फलम्' इति कविरहस्यम्। न नवीनमेकाकिन: पुरत:। स हि स्वीयं ब्रुवाण: कतरेण साक्षिणा जीयेत।
कविमानिनं तु छन्दोनुवर्त्तनेन रञ्जयेत् कविम्मन्यस्य हि पुरत: सूक्तमरण्यरुदितं स्याद्विप्लवेत च। तदाहु:
इदं हि वैदग्ध्यरहस्यमुत्तमं पठेन्न सूक्तिं कविमानिन: पुर:। न केवलं तां न विभावयत्यसौ स्वकाव्यबन्धेन विनाशयत्यपि॥ काव्यमीमांसा - (दशम अध्याय)

3. परैश्च परीक्षयेत् । यदुदासीन: पश्यति न तदनुष्ठातेति प्रायो वाद: काव्यमीमांसा - (दशम अध्याय)

कवि में पक्षपात एवम् अभिमान आदि दुर्गुणों की स्थिति उसके काव्य के लिए हानिकारक है।[1] रसावेश में रचित काव्य का पुनः परीक्षण उसकी पूर्ण शुद्धि हेतु काव्यमीमांसा में आवश्यक माना गया है। कवि में अपने काव्य के विवेकपूर्ण परीक्षण की सामर्थ्य होना उसके पक्षपात रहित स्वभाव पर ही निर्भर है। पक्षपाती के समक्ष अपने काव्य के दोष गुण रूप में एवम् दूसरों के काव्य के गुण भी दोष रूप में प्रस्तुत होते हैं। इस कारण वह न तो अपने काव्य के विवेकपूर्ण परीक्षण में समर्थ होता है और न ही दूसरों के काव्य की यथार्थ समालोचना में। श्रेष्ठ कवि में यथार्थ समालोचनारूप गुण का अस्तित्व होना आचार्य राजशेखर की मान्यता है। अभिमान के कारण स्वयं अपनी ही सामर्थ्य कवि के समक्ष स्पष्ट नहीं हो पाती, इसी कारण कवि के लिए निरभमानिता की आवश्यकता स्वीकार की गई है।

काव्यमीमांसा में वर्णित शिक्षा सम्बन्धी विषयों के विस्तार का कारण एवम् उनका औचित्य :-

कवि के लिए शिक्षा की आवश्यकता सर्वमान्य होने पर भी शिक्षा एवम् अभ्यास को अत्यधिक महत्व तथा विस्तार केवल राजशेखर की काव्यमीमांसा में ही प्राप्त हुआ। इसका कारण है आचार्य राजशेखर के समय में राज्याश्रित कवियों का आधिक्य।

शक्ति एवम् प्रतिभा की कवि बनने के लिए प्राथमिक आवश्यकता आचार्य राजशेखर को मान्य हैं। इसी कारण सहजा प्रतिभा सम्पन्न बुद्धिमान् शिष्य के लिए व्युत्पत्ति एवम् अभ्यास की अल्पमात्रा में ही अपेक्षा को उन्होंने स्वीकार किया है। सहज स्वाभाविक प्रतिभा के अभाव में ही अभ्यास की अत्यधिक परिमाण में आवश्यकता हो सकती है। यद्यपि सहजा प्रतिभा से सम्पन्न कवियों की संख्या सभी युगों में अगुलियों पर गणना योग्य होती है, किन्तु कवियों की राजदरबार आदि में सम्मानित स्थिति के युग में सहजा प्रतिभा से हीन लोगों में भी दरबारी कवि बनने की लालसा स्वाभाविक है। राजशेखर के समसामयिक कवियों ने अपने जीवन में अभ्यास पर इसी कारण बल दिया होगा। राजशेखर के ग्रन्थ में अभ्यास के विस्तार का यह प्रबल कारण हो सकता है। शिक्षा एवम् अभ्यास की

---

1. न च स्वकृतिं बहु मन्येत। पक्षपातो हि गुणदोषौ विपर्यासयति। न च दृप्येत्। दर्पलवोऽपि सर्वसंस्कारानुच्छिनत्ति।
काव्यमीमांसा - (दशम अध्याय)

आवश्यकता प्रतिभा सम्पन्न कवि को उस मात्रा में नहीं होती जितने विस्तृत रूप में वे काव्यमीमांसा में वर्णित हैं।

नैसर्गिक गुण रूप कवित्वशक्ति का सभी में अस्तित्व सम्भव न होना अनिवार्य मान्यता है। इसी मान्यता पर आचार्य राजशेखर की दृष्टि भी अधिक थी। ऐसी स्थिति में सामान्य लोगों की कवि बनने की इच्छा अभ्यास आदि के द्वारा काव्यप्रतिभासम्पन्न होकर ही पूर्ण हो सकती थी। राजशेखर के सामने सम्भवतः अभ्यासपूर्वक कवि बनने वाले अधिक रहे होंगे। इसी कारण आचार्य राजशेखर की काव्यमीमांसा कवि बनने के इच्छुक सामान्य लोगों के लिए अधिक है, जन्मजात कवियों के लिए कम।

अभ्यास से सम्बद्ध विभिन्न विषयों जैसे कवि की क्रमिक विकास की अवस्थाओं एवं गुरूकुल में रहकर शिक्षा प्राप्त करने की स्थिति को राजशेखर के अतिरिक्त अन्य आचार्यों ने अपने ग्रन्थ विवेचन में स्थान नहीं दिया, क्योंकि काव्य के क्रमिक मनोहारी रूप की प्राप्ति के लिए अभ्यास को अनिवार्य मानकर भी उन्होंने उसे प्रतिभा के समकक्ष ही अनिवार्यता नहीं दी, किन्तु आचार्य राजशेखर अपने शाब्दिक रूप में शक्ति एवम् प्रतिभा को प्रथम स्थान देकर भी सम्भवतः अभ्यास को अत्यधिक महत्व देते रहे। इस बात को उनके ग्रन्थ में विस्तार प्राप्त अभ्यास विवेचन ही सूचित करता है।

आचार्य राजशेखर ने कवि के जीवन में स्वास्थ्य, स्वच्छता एवम् सात्विक स्वभाव को महत्व दिया है। किन्तु इन विषयों का महत्व तो किसी भी साहित्यकार अथवा रचनाकार के लिए हो सकता है। राजशेखर का ग्रन्थ भाषा एवं विषय की दृष्टि से अपनी ज्ञानसीमा के अन्तर्गत ही कवि की स्थिति लोकरूचि एवं आत्मरुचि का ध्यान, कवि के लिए पक्षपात एवम् अभिमान से रहित होने की आवश्यकता आदि सामान्य विषयों का कवि को निर्देश कवि शिक्षा एवं अभ्यास से ही अधिक सम्बद्ध होने के कारण देता है। राजशेखर के ग्रन्थ में अभ्यास से सम्बद्ध अत्यधिक सामान्य स्थूल विषय विवेचन के लिए ग्रहण किए गए हैं। किन्तु अभ्यास से सम्बद्ध इस प्रकार के विषयों का ऐसा अत्यधिक सामान्य रूप अन्य आचार्यों के ग्रन्थों नें नहीं मिलता। जन्मजात कवि को नहीं, किन्तु सामान्य व्यक्ति को ही कवि बनाना राजशेखर के ग्रन्थ का उद्देश्य है। यह ग्रन्थ राजशेखर द्वारा विवेचित द्वितीय प्रकार के शिष्य आहार्यबुद्धि से ही अधिक सम्बद्ध है जो इस जन्म के अभ्यास के परिणामस्वरूप काव्यप्रतिभा

सम्पन्न आभ्यासिक कवि बनता है। बुद्धिमान् सारस्वत कवि के लिए राजशेखर के ग्रन्थ की अधिक उपादेयता नहीं है।

राजशेखर के ग्रन्थ में अनावश्यक विषय विस्तार की प्रवृत्ति बहुत अधिक है। विभिन्न विषयों के भेद विभेद उनकी इसी प्रवृत्ति के सूचक है। उनकी इसी प्रवृत्ति के अन्तर्गत कवियों का गुण की दृष्टि से किया गया भेद विवेचन सम्मिलित है। इस संदर्भ में केवल सामान्य स्थूल दृष्टि से कविभेद प्रस्तुत किए गए है। इनका पूर्ण कवि से जो वस्तुतः महाकवि हो कोई सम्बन्ध नहीं है। उनके गुण केवल सामान्य कवियों से सम्बद्ध हैं। कवियों में प्राप्त काव्यरचना सम्बन्धी गुणों के आधार पर उन्होंने कवियों के कनिष्ठ, मध्यम एवं उत्तम होने का मापदण्ड प्रस्तुत किया है। किन्तु वस्तुत- गुणों की संख्या पर आधारित कवियों की यह श्रेणी कवियों के महत्व का मापदण्ड नहीं हो सकती। कवियों को किसी निश्चित सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता। कभी कवि को केवल दो महत्वपूर्ण गुण ही श्रेष्ठ बना सकते हैं, किन्तु कभी इनसे अधिक पाँच छः गुणों के द्वारा भी ऐसा सम्भव नहीं होता। आनन्दवर्धन आदि काव्यशास्त्र के सैद्धान्तिक विवेचन से सम्बन्ध रखने वाले आचार्य कवि की कनिष्ठता एवम् श्रेष्ठता आदि का मापदण्ड चित्रकाव्य एवं ध्वनिकाव्य को मानते हैं, गुणों की संख्या को नहीं। गुणों की संख्या के आधार पर कवियों को निम्नता एवं उत्कृष्ठता की सीमा में आबद्ध कर देना वैषयिक सूक्ष्म विवेचन नहीं है। गुणों की संख्या नहीं, किन्तु गुणों के सौन्दर्य का परिमाण ही कवियों की श्रेष्ठता एवं निम्नता की कसौटी हो सकता है। किसी विषय की सूक्ष्म विवेचना उसके भेदों की अधिकता एवम् विस्तार पर आधारित हो यह आवश्यक नहीं है।

आचार्य राजशेखर ने कवि की दिनचर्या को एक विशिष्ट रूप में नियमित करके प्रस्तुत किया है। किन्तु दैनिक कार्यों के नियमन की सभी कवियों के लिए आवश्यकता होने पर भी उसका सभी के लिए एक सामान्य रूप निश्चित नहीं किया जा सकता। अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुसार प्रत्येक कवि की दिनचर्या के रूप भिन्न हो सकते हैं। राजशेखर के दिनचर्या विवेचन में से केवल यही तात्पर्य कवि के लिए ग्राह्य हो सकता है कि उन सभी की दिनचर्या में काव्यशास्त्र आदि के अध्ययन, काव्यरचना के अभ्यास, काव्यनिर्माण तथा काव्य लेखन को नियमित स्थान मिलना चाहिए, यद्यपि प्रत्येक कवि अपनी दिनचर्या का स्वयं नियमन करने के लिए स्वतंत्र भी होता है। राजशेखर द्वारा

विवेचित दिनचर्या कवि के दैनिक कार्यों के कालनिर्धारण का आदर्श रूप है, किन्तु व्यवहार में प्रत्येक कवि के कार्यों का काल निर्धारण भिन्न हो सकता है। अत: प्रहर के आधार पर कवि के कार्य निर्धारण का विवेचन सभी अभ्यासी कवियों को अपने कार्यों को उसके अनुरूप कालनिर्धारण के लिए बाध्य नहीं करता।

आचार्य राजशेखर के ग्रन्थ में विवेचित कवि का आवास, परिचारक, परिचारिका, सम्बन्धी एवम् मित्र कवियों की तात्कालिक स्थिति के अनुकूल हैं। सार्वकालिक नहीं। राजशेखर के ग्रन्थ में कवि के आवास का विशिष्ट रूप उपस्थित है। यह पूर्ण सुन्दर प्राकृतिक आवास तत्कालीन अधिकांश कवियों के समृद्ध राजसी जीवन का परिचायक है। सम्भवत: स्वयं राजशेखर आदि कवियों को इस प्रकार के आवास उपलब्ध थे। किन्तु सभी कवियों का आवास इस प्रकार का होना चाहिए यह नहीं कहा जा सकता। राजशेखर द्वारा विवेचित आवास का स्वरूप उनके इस सामान्य तात्पर्य को व्यक्त करता प्रतीत होता है कि प्रत्येक दृष्टि से कवि का आवास ऐसा प्रतीत होना चाहिए जहां कवि को पूर्ण मानसिक शान्ति एवं काव्यनिर्माण की प्रेरणा मिल सके। कवि के आवास में वर्णित विभिन्न प्राकृतिक स्थितियाँ कवि की प्रेरणा एवं भावोदय हेतु प्रकृति की उपादेयता की सूचक हैं। किन्तु साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि प्रकृति का सामीप्य कवि को किसी विशेष स्थिति में काव्यनिर्माण की प्रेरणा तो दे सकता है अकवि को कवि नहीं बना सकता। कवि बनने के लिए प्राथमिक आवश्यकता प्रतिभा की है, किसी विशिष्ट प्रकार के आवास की नहीं। केवल अभ्यास द्वारा कवि बनने वाले कवि के लिए इस प्रकार के आवास की अपेक्षा हो सकती है किन्तु सहज प्रतिभासम्पन्न कवि किसी सामान्य आवास में भी विभिन्न अप्रत्यक्ष विषयों को भी प्रत्यक्ष देखते हुए काव्य निर्माण में समर्थ है।

काव्य निर्माण के लिए कविशिक्षा से सम्बद्ध राजशेखर की काव्यमीमांसा का परिपूर्ण विवेचन करने के पश्चात निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि यह ग्रन्थ अभ्यासी कवियों के लिए जितना महत्वपूर्ण है उतना वास्तविक सहज स्वाभाविक प्रतिभासम्पन्न कवि के लिए—जो केवल रससिद्धि के लिए काव्यरचना करता है—महत्वपूर्ण नहीं है। इसमें काव्यनिर्माण से सम्बन्ध रखने वाले विभिन्न गौड़ विषयों को अत्यधिक विस्तार दिया गया है।

चतुर्थ अध्याय

कविसमय

(कविजगत् के परम्परागत प्रयोग)

'समय' शब्द की कोशों में सम्यगेतीति - सम् + इण् गतौ + पचाद्यच् इस प्रकार की व्युत्पत्ति तथा उसके विभिन्न अर्थ स्वीकृत हैं। हलायुध कोश में 'समय' शब्द के सिद्धान्त, कृतान्त, राद्धान्त, काल, शपथ, सवित्, क्रियाकार, निर्देश, संकेत आचार आदि विभिन्न अर्थ हैं।[1] वाचस्पत्यम् कोश में समय शब्द का एक और अर्थ है—नियम। 'कविसमय' शब्द के संदर्भ में समय शब्द का आचार, सिद्धान्त अथवा नियम अर्थ मान्य हो सकता है। कवियों में प्रचलित कुछ अर्थों के विशिष्ट रूप में निबन्धन की परम्पराएँ, सिद्धान्त, आचार अथवा नियम 'कविसमय' अथवा 'कविसम्प्रदाय' नामों से अभिहित होते हैं।

आचार्य राजशेखर की दृष्टि में कवियों द्वारा निबद्ध अशास्त्रीय, अलौकिक तथा परम्परायात अर्थो की 'कविसमय' संज्ञा है।[2]

---

1. सम्यगेतीति। (सम् + इण् गतौ + पचाद्यच्)
   सिद्धान्तः, कृतान्तः, राद्धान्तः, कालः।-------------शपथः, संवित्, क्रियाकारः निर्देशः, संङ्केतः, आचारः 'ऋषीणां समये नित्यम् ये चरन्ति युधिष्ठिर-----इति महाभारते (13/90/50)।
   'देशाचारान् समयान् जातिधर्मान् बुभूषते यः सः परावरज्ञः' इति महाभारते (5/33/116)। व्यवहारः 'न तैः समयमन्विच्छेत् पुरुषो धर्ममाचरन्' इति मनुः (10/53)। सम्पत् नियमः, 'अतो भजिष्ये समयेन साध्वीं यावत्तंजो विभृयादात्मनो मे' इति भागवते (3/22/18)। अवसरः (10) (हलायुधकोष)
2. अशास्त्रीयमलौकिकं च परम्परायातम् यमर्थमुपनिबध्नन्ति कवयः स कविसमयः।
   काव्यमीमांसा - (चतुर्दश अध्याय)

राजशेखर की काव्यमीमांसा के अतिरिक्त कविसमय की विवेच्य परिभाषा 'अग्निपुराण' में मिलती है।[1]

इस ग्रन्थ में कवियों के समुदाचार को कवि समय कहा गया है। सर्वत्र एक रूप में स्वीकृत कवि समय के अग्निपुराण में दो रूप हैं—सामान्य कविसमय तथा विशेष कविसमय। सफल सैद्धान्तिकों अथवा कवियों के विवाद के परिणामस्वरूप जो प्रसिद्ध होते हैं वे सामान्य कविसमय हैं। यह सामान्य कविसमय दो भेदों में विभक्त हैं—

प्रथम सभी सैद्धान्तिकों द्वारा स्वीकृत सामान्य कविसमय एवं द्वितीय कुछ सैद्धान्तिकों द्वारा स्वीकृत सामान्य कविसमय।

कवियों के परस्पर व्यवहार अथवा काव्याचार से जो नियम बनते हैं वे अग्निपुराण के विशिष्ट कविसमय हैं।

---

1. कवीनां समुदाचारः समयो नाम गीयते ।30।
सामान्यश्च विशिष्टश्च धर्मवद्भवति द्विधा।
सिद्धसैद्धान्तिकानां च कवीनां वा विवादतः ।31।
यः प्रसिध्यति सामान्य इत्यसौ समयो मतः।
सर्वे सैद्धान्तिकाः येन सञ्चरन्ति निरत्ययम् ।32।
कियन्त एव वा येन सामान्यस्तेन द्विधा।---------------------------
अस्मिन्सरस्वतीलोके सञ्चरन्तः परस्परम् ।36।
वध्नन्ति व्यतिपश्यन्तो यद्विशिष्टः स उच्यते।
परिग्रहादप्यसतां सतामेवापरिग्रहात् ।37।
भिद्यमानस्य तस्यायं तद्वैविध्यमुपगीयते।
प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्यद् बाधितं तदसद्विदुः ।38।
कवि भिस्तत्प्रतिग्राहं ज्ञानस्य द्योतमानता।
यदेवार्थक्रियाकारि तदैव परमार्थसत् ।39।
अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग (एकादश अध्याय)

विवाद के परिणामस्वरूप किसी विषय का प्रसिद्ध हो जाना तथा एक समान वर्णन, एक समान ही काव्य व्यवहार के आधार पर किसी विषय का प्रसिद्धि प्राप्त करना तथा नियम बन जाना दो भिन्न-भिन्न विषय हैं—एक सामान्य कविसमय है दूसरा विशेष। कविसमय का इस प्रकार का भेद सर्वप्रथम अग्निपुराण में मिलता है, किन्तु अग्निपुराण में विवेचित विशिष्ट कविसमय ही आचार्य राजशेखर एवं अन्य काव्यशास्त्रियों के कविसमय हैं, ऐसा प्रतीत होता है।

इस प्रकार काव्य वर्णनों से, काव्यजगत् के व्यवहार से जो नियम बनते हैं तथा परम्परा रूप में स्वीकृत होते हैं उन्हें ही कविसमय (अग्निपुराण का विशिष्ट कविसमय) कहा जा सकता है। इन कविसमयों का अनुसरण सभी कवियों के लिए अनिवार्य है, अन्यथा वे काव्य में दोष के प्रतिपादक बन जाएंगे। कविसमयों से सम्बद्ध अर्थों को कवि अपने विवेचन का विषय न बनाएं यह तो सम्भव है, किन्तु कविसमयों से सम्बद्ध अर्थों के काव्य में विवेचन विषय बनने पर उनका कविसमय सिद्ध रूप स्वीकार करना ही कवियों के लिए अनिवार्य है, अन्यथा रूप नहीं।

कविसमय का सम्बन्ध-शब्दों से, अर्थों से अथवा दोनों से ?

आचार्य राजशेखर की परिभाषा से स्पष्ट होता है कि कविसमय अर्थों से सम्बद्ध परम्पराएँ हैं। आचार्य राजशेखर की परिभाषा तथा कुछ आचार्यों को छोड़कर प्रायः सभी आचार्यों की कविसमय के विषय में स्वीकृत मान्यता के आधार पर यह स्वीकार किया जा सकता है कि कविसमय के रूप में स्वीकृत नियमों का शब्दों से सम्बन्ध नहीं है। जाति, द्रव्य, क्रिया और गुण अर्थ भेद ही हैं और कविसमय में जाति, द्रव्य, क्रिया और गुण से सम्बद्ध रूपों का वर्णन होने के कारण कविसमय अर्थ से ही सम्बद्ध हैं। जाति, द्रव्य, क्रिया और गुण का अपने में अन्तर्भाव करने वाले भौम कविसमय के अतिरिक्त स्वर्ग्य और पातालीय कविसमय भी अर्थ से सम्बद्ध हैं।

कविसमय अथवा कविप्रसिद्धि का केवल कवियों के जगत् से ही सम्बन्ध है, लोक से नहीं। मम्मट का 'प्रसिद्धिविरूद्धता' दोष शब्द तथा अर्थ दोनों से सम्बद्ध है[1]—इस आधार पर प्रसिद्धि के विरुद्ध शब्द तथा अर्थनिबन्धन को दोष मानकर कविसमय को शब्द से भी सम्बद्ध मानना सम्भव नहीं है क्योंकि प्रसिद्धि विरुद्धता दोष केवल कविप्रसिद्धि से सम्बद्ध नहीं है, लोक प्रसिद्धि से भी उसका सम्बन्ध है।

राजशेखर से पूर्व आचार्य वामन ने पद, पाद आदि के विधिपूर्वक निबन्धन से सम्बद्ध तथा व्याकरण से सम्बद्ध नियमों का उल्लेख किया है तथा इस विषय को काव्य समय नाम दिया है।

राजशेखर के परवर्ती आचार्य केशवमिश्र ने भी कविसमय के अन्तर्गत आर्थी परम्पराओं के साथ ही इस प्रकार के नियमों का भी उल्लेख किया है। किन्तु कविशिक्षा से सम्बद्ध 'कविसमय' शब्द

---

1. **प्रसिद्धिविरुद्धता दोष :**—कवियों के यहाँ कुछ विशेष शब्दों और अर्थों का विशेष रूप में वर्णन करने का नियम या परम्परा चली आ रही है। उसको 'कविसमय' या 'कविप्रसिद्धि' कहा जाता है। इस कविसमय या कविप्रसिद्धि का उल्लंघन होने पर 'प्रसिद्धिविरुद्धता' दोष होता है।

मञ्जीरादिषु रणितप्रायं पक्षिषु च कूजितप्रभृति स्तनितमणितादि सुरते मेघादिषु गर्जितप्रमुखम्॥ इति

शब्ददोष :—प्रसिद्धमतिक्रान्तम् यथा महाप्रलयमारुतक्षुभितपुष्करावर्तकः प्रचण्डघनगर्जितप्रतिरुतानुकारी मुहुः। रवः श्रवणभैरवः स्थगितरोदसीकन्दरः कुतोऽद्य समरोदधेरयमभूतपूर्वः पुरः॥

अत्र रवो मण्डूकादिषु प्रसिद्धो न तूक्तविशेषे सिंहनादे।

अर्थदोष :—इदं ते केनोक्तं-----------------इदं तद् दुःसाध्याक्रमणपरमास्त्रं स्मृतिभुवा तव प्रीत्या चक्रं करकमलमूले विनिहितम्॥ अत्र कामस्य चक्रं लोकेऽप्रसिद्धम्। उपपरिसरं गोदावर्याः---------इह हि विहितो रक्ताशोकः कयापि हताशया चरणनलिनन्यासोदञ्चन्नवाङ्कुरकञ्चुकः॥

अत्र पादाघातेनाशोकस्य पुष्पोद्गमः कविषु प्रसिद्धो न पुनरङ्कुरोद्गमः। सुसितवसनालङ्कारायां कदाचन कौमुदी महसि सुदृशि स्वैरम् यान्त्यां गतोऽस्तमभूद्विधुः। तदनु भवतः कीर्तिः केनाप्यगीयत येन सा प्रियगृहमगान्मुक्ताशङ्का क्व नासि शुभप्रदः॥ अत्रामूर्तापि कीर्तिः ज्योत्स्नावत्प्रकाशरूपा कथितेति लोकविरुद्धमपि कविप्रसिद्धेर्न दुष्टम्।

ख्यातेऽर्थे निर्हेतोरदुष्टता :—चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुङ्क्ते पद्माश्रिताचान्द्रमसीमभिख्याम्। उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः॥

अत्र रात्रौ पद्मस्य सङ्कोचः, दिवा चन्द्रमसश्च निष्प्रभत्वं लोकप्रसिद्धमिति 'न भुङ्क्ते' इति हेतुम् नापेक्षते।

(दोषप्रकरण) काव्यप्रकाश (मम्मट)

काव्यशास्त्रीय जगत् का एक पारिभाषिक शब्द है—सैद्धान्तिकों द्वारा स्वीकृत परिभाषा के अनुसार उसके अन्तर्गत केवल विशिष्ट अर्थ ही आते हैं—शब्दादि के प्रयोग से सम्बद्ध नियम नहीं। कविसमय का शाब्दिक अर्थ है कवियों की परम्परा, आचार अथवा सिद्धान्त। इस शाब्दिक अर्थ के अनुसार कविसमय शब्द व्याकरण तथा शब्द प्रयोग से सम्बद्ध परम्पराओं का भी वाचक हो सकता है और अर्थ से सम्बद्ध परम्पराओं का भी। किन्तु किसी भी क्षेत्र का पारिभाषिक शब्द केवल उतने ही अर्थ का वाचक होता है, जितने के लिए उसका प्रयोग हुआ हो। काव्यशास्त्र के पारिभाषिक शब्द 'कविसमय' की एक सीमा है जिसका सम्बन्ध केवल विशिष्ट अर्थों के विशिष्ट रूप में निबन्धन की परम्परा से ही है। अतः वामन का 'काव्यसमय' तथा केशवमिश्र द्वारा विवेचित कविसमय के अन्तर्गत शब्दादि के प्रयोग से सम्बद्ध नियम वस्तुतः कविशिक्षा जगत् के उस कविसमय से पृथक हैं जो आचार्य राजशेखर आदि कवि-शिक्षक आचार्यो द्वारा स्वीकृत कविसमय हैं। वामन तथा केशवमिश्र द्वारा स्वीकृत इन नियमों को अग्निपुराण के सामान्य कविसमय के अन्तर्गत भी स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि यह सैद्धान्तिकों के विवाद के परिणामस्वरूप प्रसिद्ध नियम नहीं है। अग्निपुराण के सामान्य कविसमय के अन्तर्गत वे ही विषय आते हैं जो सैद्धान्तिकों के विवाद के परिणामस्वरूप प्रसिद्ध हुए और इसके अन्तर्गत काव्यशास्त्र के रीति, अलंकार, रस, ध्वनि, वक्रोक्ति सम्प्रदायों आदि को रखा जा सकता है—क्योंकि काव्यशास्त्र के क्षेत्र में यह सिद्धान्त सफल सैद्धान्तिकों के विवाद के परिणामस्वरूप प्रसिद्ध माने जा सकते हैं।

अतः राजशेखरादि आचार्यों का कविसमय तथा वामन का काव्य-समय दो पृथक् विषय है—एक का आर्थी परम्परा से सम्बन्ध है दूसरे का सम्बन्ध केवल शब्दों से है। काव्यशास्त्र में कविसमय के अन्तर्गत केवल आर्थी परम्परा को ही स्वीकार किया गया है। वामन का 'काव्यसमय' केवल व्याकरणादि के प्रयोग से सम्बद्ध नियम ही है। काव्यशास्त्र का परिभाषिक शब्द 'कविसमय' तथा वामन का 'काव्यसमय' नाम से भी भिन्न है, उन्हें केवल 'समय' शब्द की एकता से समान नहीं माना जा सकता। कविसमय का अर्थ है कवियों के काव्य सम्बन्धी आर्थिक आचार व्यवहार तथा 'काव्यसमय' का तात्पर्य काव्य के शाब्दिक नियमों से है।

'कविसमय' शब्द अपने शाब्दिक अर्थ के कारण प्रायः भ्रान्ति का कारण बना है। कविसमय अर्थों से सम्बद्ध परम्पराएं तो अवश्य हैं किन्तु उनका काव्यशास्त्रियों द्वारा कविसमय के अन्तर्गत स्वीकृत

कुछ विशिष्ट अर्थों से ही सम्बन्ध हैं। उनसे अतिरिक्त अर्थ यदि पूर्व कवियों के काव्यों में प्राप्त भी हो तो भी उन्हें कविसमय समझ कर अपनाने का औचित्य नहीं है। भ्रम के कारण केवल पूर्व प्रयोगों को देखकर कविसमय से अतिरिक्त बहुत से अर्थ भी कविसमय के समान प्रयुक्त होने लगे तथा कविसमय के रूप में रूढ़ हो गए , किन्तु वे वस्तुत: कविसमय नहीं हैं।[1] अपने कविसमय विवेचन के अध्याय में आचार्य राजशेखर ने दूसरे आचार्यों द्वारा स्वीकृत कुछ कविसमयों का विवेचन नहीं किया है। सम्भवत: उनकी दृष्टि में वे उसी प्रकार के रूढ़ कविसमय रहे हों। आचार्य केशव मिश्र आदि देश, समुद्रादि की संख्या को भी कविसमय मानते हैं। इसको राजशेखर कविसमय के अन्तर्गत नहीं लेते। जैसे भ्रम के कारण कविसमय में अन्तर्निहित अर्थों के अतिरिक्त अर्थों को भी कविसमय के ही रूप में स्वीकार किए जाने की सम्भावना हो सकती है उसी प्रकार वामन के 'काव्यसमय' को भी कविसमय के सैद्धान्तिक तथा पारिभाषिक स्वरूप पर ध्यान न देने के कारण कविसमय के ही रूप में स्वीकृति सम्भव है। वामन का काव्यसमय पृथक है तथा केवल विशिष्ट अर्थों को ही अपने में अन्तर्निहित करने वाला काव्यजगत् का विशिष्ट पारिभाषिक शब्द कविसमय पृथक्।

कविसमय की राजशेखर द्वारा स्वीकृत परिभाषा का तात्पर्य :-

आचार्य राजशेखर ने कविसमय की परिभाषा में कविसमय के तीन वैशिष्ट्य प्रस्तुत किए हैं—अशास्त्रीय, अलौकिक तथा परम्परायात अर्थ। शास्त्र विरोधी तथा लोकविरोधी अर्थ का निबन्धन काव्य में अनौचित्य का उत्पादक है। ऐसी स्थिति में कविसमय में निबद्ध अशास्त्रीय, अलौकिक अर्थ की औचित्य से सङ्गति कैसे हो सकती है? इन अर्थों की औचित्य से सङ्गति कराने में राजशेखर की वह मान्यता समर्थ हो सकती है जिसके अनुसार वे कहते हैं ''प्राचीन विद्वानों ने सहस्त्रों शाखाओं वाले वेदों का अङ्गों सहित अध्ययन करके, शास्त्रों का तत्वज्ञान प्राप्त कर, देशान्तरों और द्वीपान्तरों का परिभ्रमण

---

1. ''कविसमयशब्दश्चायं मूलमपश्यद्भि: प्रयोगमात्रदर्शिभि: प्रयुक्तो रूढश्च।
तत्र कश्चिदाद्यत्वेन व्यवस्थित: कविसमयेनार्थ: कश्चित्परस्परोपक्रमार्थं स्वार्थाय धूर्तै: प्रवर्तित:।
काव्यमीमांसा - (चतुर्दश अध्याय)

करके, जिन वस्तुओं को समझकर, देख और सुनकर उल्लिखित किया हैं उन पदार्थों का देश और काल के कारण भेद होने पर भी, उसी प्राक्तन अविकृत रूप में वर्णन करना कविसमय है।''[1]

राजशेखर की इस मान्यता के अनुसार तो यह मानना होगा कि कवि नदी में कमल का, चकोरों के चन्द्रिकापान आदि का वर्णन करते हैं, अत: उन्होंने अथवा उनके पूर्व विद्वानों ने अवश्य इन अर्थों को लोक में देख सुनकर तथा शास्त्रों का अध्ययन करके प्राप्त किया होगा, किन्तु देश और काल के कारण इन अर्थों या वस्तुओं का रूपान्तर हो गया, वे उस रूप में प्राप्त नहीं हुए, किन्तु कवि उनका वर्णन उसी रूप में करते रहे इसलिए यह अर्थ कविसमय बन गए, किन्तु नदी में कमल, चकोरों का चन्द्रिकापान अथवा अन्य इसी प्रकार के कविसमय रूप में स्वीकृत अर्थ क्या किसी देश अथवा काल की सत्यता हो सकते हैं? क्या किसी देश, काल में नदी के प्रवाहयुक्त जल में भी कमल खिल जाते थे, उन्हें अपने जन्म हेतु कीचड़ की आवश्यकता नहीं थी? क्या किसी देश अथवा काल में चकोरों के लिए चन्द्रिकापान सम्भव था? इसी प्रकार वेदों में—जिन पर सभी शास्त्रों को आधारित माना जाता है—कविसमय के अन्तर्गत स्वीकृत अर्थ नहीं मिलते। अत: कविसमय रूप में स्वीकृत अर्थ लोक के किसी देश काल की, किसी शास्त्र की किसी कारणवश स्वीकृति हो सकते हैं, सत्य नहीं माने जा सकते। अत: कवियों ने जिन अर्थों को वास्तविक रूप में प्राप्त किया उनका ही प्रणयन किया यह मानना समीचीन नहीं है, किन्तु यही मानने का औचित्य है कि कवियों ने जिन अर्थों को शास्त्र तथा लोक में केवल स्वीकृति के रूप में पाया (वास्तविक रूप में प्राप्त किया हो अथवा नहीं) उनका ही प्रणयन किया। अत: आचार्य राजशेखर के कथन का यह तात्पर्य माना जा सकता है कि जो अर्थ किसी विशिष्ट कारण से शास्त्र तथा लोक में अपने वास्तविक रूप से भिन्न रूप में स्वीकृत हो गए थे, उन्हें ही कवियों ने अपनाया तथा शास्त्र और लोक की स्वीकृति के बदल जाने पर भी कवि उन अर्थों को पूर्व स्वीकृत रूप में ही अपनाते रहे और उन अर्थों के उसी रूप में निबन्धन की कविजगत् में परम्परा बन गई।

---

1. पूर्वे हि विद्वांस: सहस्त्रशाखं साङ्गम् च वेदमवगाह्य, शास्त्राणि चावबुध्य, देशान्तराणि द्वीपान्तराणि च परिभ्रम्य यानर्थानुपलभ्य प्रणीतवन्तस्तेषां देशकालान्तरवशेन अन्यथात्वेऽपि तथात्वेनोपनिबन्धो य: स कविसमय:।

काव्यमीमांसा - (चतुर्दश अध्याय)

विभिन्न कविसमयों के यही रूप उनके काव्य में आने से पूर्व लोक तथा शास्त्र में स्वीकृत थे। देश काल के अन्यथात्व से लोक और शास्त्र की स्वीकृति में अन्तर आ गया, फिर भी लोक शास्त्र की अस्वीकृति को कविगण प्राक्तन स्वीकृति के रूप में ही अपनाते रहे, क्योंकि कविसमय इसी रूप में काव्योपकारक थे।

इस प्रकार अशास्त्रीय, अलौकिक कविसमयों का भी मूलाधार लोक और शास्त्र ही है। लोक और शास्त्र ही काव्यवर्णनों के आधार बनते हैं। लौकिक एवम् शास्त्रीय अर्थों को ही कवि अपनी कल्पना से मौलिक रूप प्रदान करते हैं। अत: अशास्त्रीय, अलौकिक कविसमयों को अपनाना कवियों को दोषी नहीं ठहराता, क्योंकि उन्होंने जब इन अर्थों को अपनाया उस समय उनको लोक तथा शास्त्र में किसी विशिष्ट कारण से उसी रूप में (उनके वास्तविक रूप से भिन्न रूप में) स्वीकार किया जाता था। अत: विद्वानों और कवियों ने तो उन्हें लौकिक एवम् शास्त्रीय स्वीकृत रूप में ही प्रारम्भ में अपनाया था, देश कालान्तर वश उनका रूपान्तर हो गया, स्वीकृति बदल गयी तो कविगण दोषी नहीं हैं। कविसमय अशास्त्रीय और अलौकिक हों तो भी उनका मूल तो शास्त्रीय एवम् लौकिक है। शास्त्रीय एवम् लौकिक स्वीकृति अशास्त्रीय, अलौकिक हो जाने पर भी काव्यजगत् में अपने काव्योपकारकत्व के कारण परिवर्तित नहीं की गई, क्योंकि उनका अशास्त्रीय, अलौकिक रूप मूल के शास्त्रीय एवम् लौकिक होने के कारण दोष नहीं कहा जा सकता।

राजशेखर का यह कथन कि लोक शास्त्र से संगत अर्थ ही अपनाए गए समीचीन नहीं हैं, क्योंकि लोक तथा शास्त्र का सम्बन्ध कभी भी असंगत बातों से नहीं होता। शास्त्र तथ्य निर्धारक हैं, अलौकिक काव्य के सृष्टा नहीं। इसी प्रकार लोक भी काव्यसृष्टा न होकर वास्तविकता से सम्बद्ध है। कविसमय की लोकसंगतता कुछ अंशों में यह स्वीकार करके मान्य हो सकती है कि लोक की कुछ प्रतिभाओं ने कुछ अर्थों को उनके सौन्दर्यातिशय के कारण उनके सत् रूप से भिन्न रूप में स्वीकार किया होगा, काव्य रूप में भले ही निबद्ध न किया हो। यही विषय काव्य रचना के आरम्भ होने पर कवियों द्वारा अपनाए गए तथा धीरे-धीरे परम्परा बन गए। स्वीकृति बदलने का यह तात्पर्य माना जा सकता है कि कालान्तर में कवि प्रतिभाओं से भिन्न प्रतिभाओं ने लौकिक वास्तविकता से ही अधिक सम्बद्ध होने के कारण इन विषयों के सत् रूप को ही अपनाया, सौन्दर्यातिशय से सम्बद्ध रूप को नहीं। यद्यपि कल्पना

जगत् के कवि उनके सौन्दर्यातिशय से सम्बद्ध, किन्तु असत् रूप को ही अपनाते रहे क्योंकि काव्य में सुन्दरम् का भाव निहित होता है। कवि सदा सौन्दर्यप्रेमी होते हैं। साथ ही काव्य शिवम्, सुन्दरम् से अधिक सम्बद्ध होता है, सत्यं से कम।

'व्यक्ति विवेक' के रचयिता महिमभट्ट का विचार है कि शब्द अर्थ के व्यवहार में विद्वानों को लौकिक क्रम का अनुसरण करना चाहिए। लोक के आदरणीय वे ही शब्दार्थ हैं जो लोकक्रम के अनुसार हों, अन्यथा लोक की रस-प्रतीति में बाधा हो जाती है।[1] ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि अशास्त्रीय, अलौकिक कविसमयों में ऐसी क्या विशेषता है कि उनका निबन्धन लोक की रस प्रतीति में बाधक नहीं बनता। केवल लौकिक क्रम के अनुसरण करने वाले शब्दार्थों से ही रसास्वाद प्रतीति करने में समर्थ लोक इन अशास्त्रीय, अलौकिक अर्थों से रसास्वाद कैसे कर लेता है? अवश्य ही यह अर्थ अपने इसी रूप में रस के विशेष उपकारक होंगे।

अतिशयोक्ति आदि अलंकारों में भी तो साध्य अर्थ को पूर्णतः स्पष्ट करने के लिए अलौकिक अर्थों का सहारा लिया जाता है। कविसमयों के सम्बन्ध में भी कुछ अंशों तक यही बात कही जा सकती है। यहाँ भी साध्य अर्थों के स्पष्टीकरण हेतु ही कवियों ने कुछ अलौकिक अर्थों का सहारा लिया जो क्रमशः परम्परा बनकर सदा उसी रूप में वर्णित होने लगे। अतिशयोक्ति में कवि साध्य अर्थ को स्पष्ट करने के लिए उसी साध्य अर्थ का अतिशयित रूप में वर्णन करता है, किन्तु कविसमय में साध्य अर्थ से भिन्न अर्थ उसके स्पष्टीकरण हेतु अपनाया जाता है, वे कुछ विशिष्ट निश्चित अर्थ हैं जो काव्य जगत् की परम्परा बन गए हैं। अतिशयोक्ति में कोई परम्परा नहीं होती।

कविसमय के वैशिष्ट्य :- परम्परित रूप, अशास्त्रीयत्व और अलौकिकत्व :—

बिना किसी विशिष्ट कारण के कवियों ने कविसमय रूप अर्थों का अशास्त्रीय अलौकिक रूप क्यों स्वीकार किया? इस प्रश्न का यही समाधान है कि इन विशिष्ट अर्थों के अशास्त्रीय, अलौकिक रूप

---

1. किञ्च सर्वत्रैव शब्दार्थव्यवहारे विद्वद्भिरपि लौकिकक्रमोऽनुसर्तव्यः। लोकश्च मा भूद्रसास्वादप्रतीतेः परिम्लानतेति यथाप्रक्रममेवैनमाद्रियते नान्यथा। व्यक्तिविवेक (महिमभट्ट) (द्वितीय विमर्श)

में ही सौन्दर्य निहित है—इनके शास्त्रीय एवं लौकिक रूप के काव्य में निबन्धन का कोई वैशिष्ट्य नहीं है, क्योंकि उनमें कोई सौन्दर्य नहीं है।

कविसमय के अशास्त्रीय, अलौकिक रूप का ही औचित्य स्वीकार करके केवल परम्परा का ही इतना महत्व स्वीकार करना होगा कि उसके आधार पर अशास्त्रीय, अलौकिक विषय का भी काव्य में निबन्धन सम्भव है। कविसमय के विषय में परम्परा का महत्व अवश्य है। वह कविसमयों के निबन्धन का महत्वपूर्ण कारण है और परम्परा के आधार पर ही काव्य में इन विषयों को अपनाया जाता रहा, किन्तु परम्परा तो क्रमशः ही बनती है। कोई भी विषय प्रारम्भ में परम्परा नहीं होता, जब प्रारम्भ में परम्परा बनने से पूर्व कोई अर्थ काव्य में अपनाया गया होगा तो उसके पीछे कोई विशिष्ट औचित्य भावना अवश्य रही होगी, क्योंकि जिस विषय का कोई औचित्य न हो उसके निबन्धन की परम्परा बन ही नहीं सकती। कविजगत् भेड़चाल नहीं है। परम्परा के पीछे औचित्य भावना काम करती है, औचित्य रस का परम रहस्य है।[1] अतः जब अशास्त्रीय, अलौकिक अर्थों को अपनाया गया होगा तो उनके किसी न किसी औचित्य को ध्यान में अवश्य रखा गया होगा, और इन अर्थों के इसी औचित्य ने उन्हें परम्परा बना दिया।

कविसमयों का परम्परित होने के साथ अशास्त्रीय, अलौकिक होना अनिवार्य है। अतः कविसमयों की अशास्त्रीयता और अलौकिकता में ही वह वैशिष्ट्य निहित है—जिसने उन्हें परम्परा बना दिया। देश की संख्या, दिशाओं की संख्या, समुद्रों आदि की संख्या को अन्य काव्यशास्त्रियों द्वारा कविसमय माना गया है किन्तु आचार्य राजशेखर उन विषयों को कविसमय नहीं मानते क्योंकि उनमें अशास्त्रीयत्व और अलौकिकत्व नहीं है। कविसमय का अशास्त्रीय, अलौकिक होना राजशेखर के अनुसार अनिवार्य है। कविबद्धविषय काव्यजगत् में प्रमाण तो माने जाते हैं तथा अदोषत्व की कसौटी रूप में स्वीकृत होते हैं किन्तु परम्परा के रूप में 'कविसमय' संज्ञा से वे ही अभिहित होते हैं जो अशास्त्रीय भी हों, अलौकिक भी। कविजगत् में जिस विषय के निबन्धन की परम्परा हो वह यदि

---

1. अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥ ध्वन्यालोक (तृतीय उद्योत)
औचित्यस्यचमत्कारकारिणश्चारूचर्वणे रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना ।3। (पृष्ठ - 2)
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ।5। (पृष्ठ - 4) औचित्यविचारचर्चा (क्षेमेन्द्र)

अशास्त्रीय, अलौकिक न हो तो कविसमय नहीं है। इसीलिए राजशेखर ने कविसमय की परिभाषा में 'अशास्त्रीय' 'अलौकिक' शब्द को परम्परायात से पूर्व रखा है तथा अशास्त्रीय, अलौकिक कहने के बाद ही 'परम्परायातं च' कहा है।

कविसमय में निहित सौन्दर्य भावना :-

परम्परा से प्राप्त कविसमय रूप विरोधी अर्थों को अपनाने में परम्परा के अतिरिक्त कुछ कारण अवश्य निहित रहे होंगे। सम्भव है कविसमय के स्वरूप में कोई विशिष्ट गुण रहा हो जिससे उन्हें काव्योपकारक रूप में स्वीकार किया गया तथा उनके काव्योपकारकत्व के कारण उनका शास्त्र पृथक् तथा लोक पृथक् होना महत्वहीन हो गया।

वस्तु के स्वरूप को सुन्दर हृदयग्राही बनाकर प्रस्तुत करने की भावना कविसमयों में निहित दिखती है। इस विषय में कवियों की सुन्दर को ही प्रस्तुत करने की भावना को सार्वजनिक रूप प्राप्त हो गया है। सभी कवियों की कल्पनाएँ प्रायः परस्पर भिन्न होती हैं किन्तु कविसमयों में सभी कवियों की भावना और कल्पना को एकाकार कर दिया गया है और इस एकीकरण के मूल में कवियों में निहित वह भावना है जिसके वशीभूत होकर वे काव्य में वस्तु के सुन्दर, सरस रूप को ही प्रस्तुत करने के अभिलाषी होते हैं।

इस विषय में आचार्य कुन्तक के विचारों को प्रस्तुत किया जा सकता है। आचार्य कुन्तक मानते हैं कि काव्य का अर्थ सहृदयों के हृदयों को आह्लादित करने वाले अपने स्वभाव के कारण मनोहारी तथा सुन्दर होता है।[1] यद्यपि किसी भी पद के अर्थ का उसके विभिन्न धर्मों से सम्बन्ध होता है, परन्तु केवल उसी धर्म से उसका सम्बन्ध काव्य में वर्णित होता है जो सहृदयों के हृदयों को आह्लादित करने में समर्थ है। किसी भी पदार्थ की वही स्वभावमहत्ता रस की पोषक अभिव्यक्ति बनती है जो सहृदयों के हृदयाह्लाद में समर्थ है।

---

1. शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि अर्थः सहृदयहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः ।9। प्रथम उन्मेष
वक्रोक्तिजीवित (कुन्तक)

काव्यार्थ के इस सहृदयहृदयहारित्व रूप वैशिष्ट्य को ध्यान में रखते हुए कविसमय के स्वरूप का यदि विचार किया जाए तो कविसमय की स्थिति के विषय में कहा जा सकता है कि सम्भव है कुछ अर्थो को विशिष्ट सहृदयहृदयहारी रूप में प्रस्तुत करने के लिए कवियों ने उनका भिन्न रूप में वर्णन किया तथा यही भिन्न रूप परम्परा से अपने उसी सहृदयहृदयहारी रूप में अर्थात् अपने वास्तविक रूप से भिन्न रूप में निबद्ध होते रहे। सम्भव है उनके वास्तविक रूप में सहृदयहृदयहरण की क्षमता तत्कालीन कवि समाज की दृष्टि में न रही हो, इसलिए उन अर्थों का उनके वास्तविक रूप से भिन्न रूप में उपनिबन्धन औचित्यपूर्ण माना गया। किन्तु कविसमयों की स्थिति का, उनके परम्परा बन जाने का कारण उनका सहृदयहृदयहारित्व ही है इस विचार की केवल सम्भावना ही की जा सकती है।

आचार्य भोजराज के अनुसार काव्य में रसनिष्पन्नता के लिए नवीन अर्थ, अग्राम्यासूक्ति, श्रव्यबन्ध, स्फुटश्रुति और अलौकिक अर्थ से युक्त उक्ति की आवश्यकता है।[1]

अलौकिक अर्थ की रसपोषकता को दृष्टि में रखकर यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि कत्रिसमय के रूप में अलौकिक अर्थों के निबन्धन का रस की दृष्टि से कुछ न कुछ महत्व अवश्य रहा होगा। सम्भव है कि जो अशास्त्रीय, अलौकिक कविसमय प्रसिद्ध है उनका शास्त्रीय, लौकिक रूप रसानुकूल न रहा हो, रसपोषकता में वे किसी कारण सक्षम नहीं रहे होंगे। इसी कारण उनका अशास्त्रीय अलौकिक रूप रसपोषक होने के कारण स्वीकार किया गया। इसके साथ ही कवि को काव्य में अर्थ का सुन्दरतम रूप अभीष्ट होता है। सम्भव है अशास्त्रीय, अलौकिक कविसमयों के शास्त्रीय, लौकिक रूप सुन्दरतम न रहे हों, और इसी कारण रस के विपरीत भी। अत: उनका सुन्दरतम रसानुकूल रूप प्रस्तुत करना आवश्यक था जो अपने शास्त्रीय, लौकिक रूप के विपरीत होने से अशास्त्रीय और अलौकिक हो गया।

---

1. नवोऽर्थः सूक्तिरग्राम्या श्रव्यो बन्धः स्फुटा श्रुतिः।
   अलौकिकार्थयुक्तिश्च रसमाहर्तुमीशते ।7। [सरस्वतीकण्ठाभरण (भोजराज) पञ्चम परिच्छेद।

कविसमय का महत्व :-

शास्त्रप्रसिद्धि एवम् लोकप्रसिद्धि के विपरीत कविप्रसिद्धि होने पर अनिश्चय की स्थिति यदि उपस्थित हो जाए तो वास्तविक स्थिति को प्रमाण न मानकर कवियों द्वारा मान्य स्थिति को ही प्रमाण माना जाता है। देश भेद तथा कालभेद से पदार्थ के स्वरूप में अन्तर उपस्थित हो जाने पर भी पदार्थ का वर्णन देशकाल के अनुसार न करके कवि परम्परा के अनुसार करने का ही औचित्य है। महाकवियों के उल्लेख ही इस विषय में प्रमाण हैं। इस प्रकार काव्यजगत् में कवि परम्परा का शास्त्रों की स्वीकृति तथा लोक स्वीकृति से भी अधिक महत्व है। प्रायः सभी काव्यशास्त्रियों ने काव्य में लोक, शास्त्र, देश, काल वय, अवस्थादि के विरोधी अर्थ का निबन्धन दोष माना है। आचार्य भोजराज के अनुसार प्रत्यक्ष के विरुद्ध तथा शास्त्र के विरुद्ध अर्थ का काव्य में निबन्धन दोष कहलाता है।[1] देश, काल, लोकादि के विरुद्ध वर्णन प्रत्यक्ष विरोध दोष है और धर्मशास्त्र, कामशास्त्र, अर्थशास्त्रादि के विरोधी अर्थ का वर्णन आगम विरोध दोष है। इसके साथ ही काव्य में यह भी स्वीकार किया गया है कि देशकाल, शास्त्रादि के विपरीत अर्थ का निबन्धन कविप्रसिद्धि का विषय होने पर दोष नहीं रह जाता। कवि सत् वस्तु का असत् रूप में तथा असत् वस्तु का सत् रूप में वर्णन कर सकते हैं, जबकि महाकवियों के काव्यों में ऐसे वर्णन की परम्परा विद्यमान हो। कविसम्प्रदायसिद्ध अर्थों में इतनी सामर्थ्य होती है कि वे विरोधपूर्ण होने पर भी दोष नहीं है। कविसमय दोष नहीं हैं, इसी कारण उनको काव्यगुण के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि दोष का अभाव भी गुण ही है।

---

1. विरुद्धं नाम तद् यत्र विरोधस्त्रिविधो भवेत् प्रत्यक्षेणानुमानेन तद्वदागमवर्त्मना । 54 ।
   यो देशकाललोकादिप्रतीपः कोऽपि दृश्यते तमामनन्ति प्रत्यक्षविरोधं शुद्धबुद्धयः । 55 ।
   [सरस्वतीकण्ठाभरण (भोजराज) (प्रथम परिच्छेद)]

कविसमयसिद्ध अर्थ का उससे अन्यथा रूप में वर्णन दोष माना गया है। यद्यपि इसके नाम भिन्न-भिन्न हैं असामयिकता दोष (अग्निपुराण),[1] प्रसिद्धिविरूद्धता दोष (मम्मट), प्रकृतिव्यत्यय दोष (वाग्भट)।[2]

विश्वनाथ प्रसिद्ध अर्थ के विषय में निर्हेतुता को दोष नहीं मानते। कविसमय के अनुसार वर्णन उनके अनुसार काव्य का ख्यातविरुद्धता गुण है।[3] अतः कविसमयसिद्ध अर्थ का उससे अन्यथा रूप में वर्णन किया ही नहीं जा सकता।

काव्यशास्त्र में कविसमय के विवेचन का इतिहास :-

आचार्य राजशेखर से पूर्व भामह, दण्डी, उद्भट आदि आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में कविसमय का विवेचन नहीं किया। सम्भव है उनके सामने इस प्रकार के वर्णनों की लम्बी परम्परा न रही हो। यद्यपि कविसमयसिद्ध विषयों का अधिकता से वर्णन करने वाले महाकवि कालिदास इन आचार्यों के पूर्व हो चुके थे, किन्तु इन आलङ्कारिक आचार्यों ने लोकविरोधी, शास्त्रविरोधी, देशकाल विरोधी विषयों के वर्णन को दोष माना है। लोक, शास्त्र के अनुकूल अर्थ का ही काव्य में वर्णन होना चाहिए ऐसा आचार्य भामह स्वीकार करते हैं, किन्तु साथ ही उनकी यह भी मान्यता प्रतीत होती है कि लोकप्रसिद्ध अर्थ के निबन्धन का औचित्य तभी है जब वह अर्थ काव्य में भी प्रसिद्ध हो। 'देशविरोध' के प्रसङ्ग में लोकेकाव्ये च प्रसिद्धम्' कहकर वह ऐसा ही स्वीकार करते प्रतीत होते हैं।[4] किन्तु कविप्रसिद्धि के

---

1. उद्वेगजनको दोषः सभ्यानाम्----------।1।------------समयाच्युतिः ।10।
   असामयिकता नेयामेतां च मुनयो जगुः — अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग (एकादश अध्याय)
2. इदमन्यच्च यद्यथोक्तं कविसमयप्रसिद्धं तत्तथैव निबध्नीयात्। अन्यथा तु प्रकृतिव्यत्ययो नाम दोषः।
   काव्यानुशासन (वाग्भट) (पञ्चम अध्याय)
3. निर्हेतुता तु ख्यातेऽथ दोषतां नैव गच्छति। कवीनां समये ख्याते गुणः ख्यातविरुद्धता।22।
   सप्तम परिच्छेद साहित्यदर्पण (विश्वनाथ)
4. देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीनं दुष्टं च नेष्यते ।2।
   या देशे द्रव्यसम्भूतिरपि वा नोपदिश्यते तताद्विरोधि विज्ञेयं स्वभावात् तद्यथोच्यते ।29।
   मलये कन्दरोपान्तरूढकालागुरुद्रुमे सुगन्धिकुसुमानम्रा राजन्ते देवदारवः ।30।
   कन्दराणां गुहानां समीपे प्ररूढाः कालागुरुद्रुमाः यस्मिन् तस्मिन्। मलयपर्वते चन्दनानां समृद्धिर्लोके काव्ये च प्रसिद्धा। न तु कालागुरुणां देवदारूणाम् चेति देशविरोधीदम्। (चतुर्थ परिच्छेद)
   काव्यालङ्कार - (भामह)

महत्व को स्वीकार करने के साथ ही साथ वे लोक विरोधी कविप्रसिद्धि को स्वीकार करते थे अथवा नहीं यह स्पष्ट नहीं हो सका। लोकविरोधी कविप्रसिद्धि को भामहादि दोष ही मानते रहे हों इसी बात की सम्भावना अधिक है। 'दोष का उपनिबन्धन कैसे उचित है' आचार्यों के इस विचार को उद्धृत करते हुए सम्भवतः राजशेखर ने भामहादि के विचारों को ही उद्धृत किया होगा।

भामह, दण्डी आदि के परवर्ती आचार्य वामन ने अपने 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' नामक ग्रन्थ में 'काव्यसमय' शीर्षक से प्रायोगिक अधिकरण की रचना की। इस अधिकरण में शब्द प्रयोग से सम्बद्ध विवेचन है, किन्तु आचार्य राजशेखर के विवेचन के सन्दर्भ में आचार्य वामन के काव्यसमय की विवेचना को समाहित नहीं किया जा सकता, दोनों में पर्याप्त भिन्नता है। राजशेखर आदि कविशिक्षक आचार्यों का 'कविसमय' काव्यजगत् का एक परिभाषिक शब्द है जिसके अन्तर्गत अशास्त्रीय, अलौकिक तथा परम्पराप्राप्त विशिष्ट अर्थों का अन्तर्भाव है, इस कविसमय का केवल अर्थ से सम्बन्ध है, वामन का 'काव्यसमय' नामक प्रायोगिक अभ्रिकरण शब्दप्रयोग के नियम बताता है। पद, पादादि के विधिपूर्वक निबन्धन तथा व्याकरण से सम्बद्ध है, अतः पारिभाषिक कविसमय का वामन के ग्रन्थ में विवेचन न होने के कारण 'कविसमय' विवेचन का प्रारम्भ वामन से नहीं माना जा सकता।

राजशेखर से पूर्व सर्वप्रथम कविप्रसिद्धि की महत्ता आचार्य रूद्रट द्वारा स्वीकार की गई है। आचार्य रुद्रट का विचार है कि प्रत्येक अर्थ का अपना भिन्न रूप तथा देश काल का नियम होता है, उस अर्थ का उसके स्वरूप तथा देशकाल के अनुरूप ही निबन्धन का औचित्य है।[1] रसपरिपोष की इच्छा से कवि कभी-कभी किसी अर्थ का उसके देश, काल, स्वरूप आदि द्वारा नियमित रूप से अन्यथा निबन्धन करते हैं, ऐसा अन्यथा निबन्धन काव्य में दोष माना जाता है। रसपरिपोष की इच्छा से किए गए होने पर भी ऐसे निबन्धन रसपरिपोष में सहायक नहीं होते। किन्तु आचार्य रूद्रट के अनुसार स्वरूप तथा देशकाल से अन्यथा निबन्धन उस स्थिति में दोष नहीं है जब इस प्रकार के अन्यथा वर्णन की सत्कवि

---

1. सर्वः स्वं स्वं रूपं धत्तेऽर्थो देशकालनियमं च तं च न खलु बध्नीयान्निष्कारणमन्यथातिरसात्। (7/7)

काव्यालङ्कार (रुद्रट)

परम्परा हो।[1] सत्कविपरम्परा से जितना अन्यथा वर्णन निर्दोष माना गया हो केवल उतने ही अन्यथा वर्णन का औचित्य है। इस प्रकार आचार्य रूद्रट की मान्यता है कि अर्थ का भिन्न रूप में निबन्धन भिन्न रूप में निबन्धन की कविप्रसिद्धि होने पर दोष नहीं है।

नवम शताब्दी के आचार्य आनन्दवर्धन अनौचित्य को सभी प्रकार के रस दोषों का कारण मानते हैं[2] तथा प्रसिद्धौचित्यबन्ध को रस का परम रहस्य। प्रसिद्धौचित्य से आचार्य का तात्पर्य क्या है? सामान्य रूप से प्रसिद्धौचित्य के अन्तर्गत तीन प्रकार के औचित्य स्वीकार किए जा सकते हैं लोक में प्रसिद्ध औचित्य, शास्त्र में प्रसिद्ध औचित्य तथा काव्यजगत् में प्रसिद्ध औचित्य। यदि आनन्दवर्धन का तात्पर्य इन तीनों ही औचित्यों में माने तो यह भी माना जा सकता है कि उन्होंने प्रसिद्धौचित्य के महत्व को स्वीकार करके अप्रत्यक्ष रूप से कविप्रसिद्धि के महत्व को भी स्वीकार किया है। इस विषय में यह भी शंका हो सकती है कि सम्भव है आनन्दर्धन प्रसिद्धौचित्य कहकर प्रसिद्धि के अन्तर्गत केवल शास्त्रीय तथा लौकिक प्रसिद्धि को स्वीकार करते रहे हों, कविप्रसिद्धि से उनका तात्पर्य न रहा हो, किन्तु इस शंका का समाधान है। आचार्य रूद्रट आचार्य आनन्दवर्धन से पूर्व कविप्रसिद्धि के महत्व को स्वीकार कर चुके थे तथा आनन्दवर्धन के सम्मुख कविसमय के निबन्धन की परम्परा विद्यमान थी। अतः उनके प्रसिद्धौचित्य के अन्तर्गत कविजगत् के भी प्रसिद्धौचित्य को समाविष्ट किया जा सकता है। कविसमय का उल्लेख न करके भी कवियों के मार्ग में प्रसिद्ध विषयवस्तु का आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्योपनिबन्धन में विशेष महत्व स्वीकार किया है। अचेतन वस्तुओं का चेतन स्वरूप में वर्णन करना सत्कवियों का प्रसिद्ध मार्ग है तथा चेतन प्राणियों का बाल्यादि अवस्था भेद से जो अन्यत्व होता है वह भी सत्कवियों में प्रसिद्ध है। कवियों में प्रसिद्ध विषय की महत्ता स्वीकार करने के कारण आचार्य आनन्दवर्धन कवियों में प्रसिद्ध विशिष्ट कविसमय रूप सिद्धान्तों का उल्लेख न करते हुए भी काव्य जगत् में इन कविसमयों के महत्व को स्वीकार करते रहे होंगे ऐसा प्रतीत होता है। प्रसिद्धौचित्य का निबन्धन काव्यात्मा रस का परम रहस्य है। उनके इसी कथन में अन्य प्रसिद्धियों के साथ कविजगत् में

---

1. सुकविपरम्परया चिरमविगीततयान्यथा निबद्धं यत् वस्तु तदन्यादृशमपि बध्नीयात्तत्प्रसिद्धयैव। (7/8)

काव्यालङ्कार (रुद्रट)

2. अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥ ध्वन्यालोक (तृतीय उद्योत)

प्रसिद्ध अर्थ की भी (चाहे वह पारिभाषिक कविसमय रूप सिद्धान्त हों अथवा अचेतन का चेतन स्वरूप में वर्णन से सम्बद्ध अर्थ)[1] महत्ता स्वीकृत है। वे कविप्रौढ़ोक्ति को अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि का प्रमुख भेद मानते हैं, लोकेतर जिस अर्थ को कवि अपनी कल्पना में वर्णित करते हैं वह कवि प्रौढ़ोक्ति है। इन कारणों से कविसमय का महत्त्व आचार्य आनन्दवर्धन के सम्मुख अवश्य रहा होगा। इनका ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' कविशिक्षा से सम्बद्ध नहीं था, इसी कारण सम्भवतः उन्होंने कविशिक्षा के विषय 'कविसमय' का विवेचन नहीं किया।

कविसमय का पूर्ण विवेचन, उसके सम्बन्ध में पूर्णतः नवीन तथा मौलिक विचारों का प्रस्तुतीकरण सर्वप्रथम राजशेखर ने ही किया तथा कविसमय की परिभाषा, औचित्य तथा भेदों (भौम, स्वर्ग्य तथा पातालीय) का उल्लेख किया। राजशेखर से पूर्व काव्यों में कविसमय अधिकता से प्राप्त होते थे, किन्तु उनका स्पष्ट विस्तृत विवेचन काव्यशास्त्रीय जगत् में नहीं हुआ था।

आचार्य राजशेखर के पश्चात् आचार्य हेमचन्द्र ने कविसमय का विवेचन किया है किन्तु उनके विचारों में कोई नवीनता तथा मौलिकता नहीं है। राजशेखर का विवेचन उनके ग्रन्थ में उसी रूप में प्रस्तुत है।

आचार्य वाग्भट के अनुसार भी देश, काल, शास्त्रादि के विरुद्ध अर्थ का निबन्धन किसी विशिष्ट कारण के बिना अनौचित्य पूर्ण है। इस विशिष्ट कारण को कवि परम्परा ही कहा जा सकता है[2] वाग्भट

---

1. अयमपरश्चावस्थाभेदप्रकारो यदचेतनानाम् सर्वेषां चेतनं द्वितीयं रूपमभिमानित्वप्रसिद्धं हिमवद्गङ्गादीनाम् तच्चोचितचेतनविषयस्वरूपयोजनयोपनिबध्यमानमन्यदेव सम्पद्यते। यथा कुमारसम्भव एव पर्वतस्वरूपस्य हिमवतो वर्णनं,पुनः सप्तर्षिप्रियोक्तिषु चेतनतत्स्वरूपापेक्षया प्रदर्शितं तदपूर्वमेव प्रतिभाति।
   प्रसिद्धश्चायं सत्कवीनां मार्गः।-------------
   चेतनानां च बाल्याद्यवस्थाभिरन्यत्वम् सत्कवीनाम् प्रसिद्धमेव। (पृष्ठ - 477)
   ध्वन्यालोक (चतुर्थ उद्योत)
2. अधीत्य शास्त्राण्यभियोगयोगादभ्यासवश्यार्थपदप्रपञ्चः तं तं विदित्वा समयं कवीनां मनः प्रसत्तौ कवितां विदध्यात्।
   वाग्भटालङ्कार (वाग्भट) प्रथम परिच्छेद ।26।
   देशकालागमावस्थाद्रव्यासु विरोधिनम् वाक्येष्वर्थं न बध्नीयाद्विशिष्टं कारणं बिना ।27।
   वाग्भटालङ्कार (वाग्भट) द्वितीय परिच्छेद

कविसमयों का ज्ञान कवियों के लिए आवश्यक भी मानते हैं किन्तु उन्होंने कविसमयों के विवेचन में एक दो कविसमयों के अतिरिक्त भुवनों की संख्या, समुद्रों की संख्या तथा दिशाओं की संख्या का ही निर्देश किया है। राजशेखर ने इन विषयों का देश विवेचन में अन्तर्भाव किया है। वाग्भट ने राजशेखर द्वारा उल्लिखित कविसमयों का विवेचन अपने ग्रन्थ में नहीं किया है। वे देश आदि की संख्या को ही कविपरम्परा के रूप में स्वीकार करते रहे होंगे। वाग्भट के कविसमय सत् के अनिबन्धन, असत् के निबन्धन तथा नियम के अन्तर्गत एवम् अशास्त्रीयत्व, अलौकिकत्व के अन्तर्गत नहीं आते। अत: कविसमय की परिभाषा तथा भेदों के सन्दर्भ में विचार करने पर वाग्भट द्वारा विवेचित कविसमयों को पारिभाषिक 'कविसमय' के अन्तर्गत स्वीकार नहीं किया जा सकता।

आचार्य केशवमिश्र ने कविसमय का विस्तृत विवेचन किया है। वे भी लोक तथा कविप्रसिद्धि का विरोध उपस्थित होने पर कवि प्रसिद्धि का ही महत्व स्वीकार करते हैं।[1] विभिन्न कविसमयों का उल्लेख करने के साथ उन्होंने भी कुछ अन्य विषयों को कविसमय के अन्तर्गत स्वीकार किया है जैसे भुवनों, दिशाओं एवं समुद्रों की संख्या, विभिन्न ऋतुओं के वर्ण्य विषय, वामन के समान पदप्रयोग के नियम। किन्तु ये विषय कविसमय से पृथक् विषय हैं, कविसमय में इनका अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

कविसमय का विवेचन अग्निपुराण में भी मिलता है। अग्निपुराण में दो प्रकार के कविसमयों का उल्लेख है सामान्य कविसमय तथा विशेष कविसमय। कवियों के विवाद के परिणामस्वरुप जो प्रसिद्ध होते हैं, वे सामान्य कविसमय हैं, तथा जो कवियों के परस्पर व्यवहार से बनते हैं वे नियम विशिष्ट कविसमय हैं। कविसमय का इस प्रकार का भेद सर्वप्रथम अग्निपुराण में मिलता है, किन्तु काव्यशास्त्र के परिभाषिक 'कविसमय' के अन्तर्गत केवल विशिष्ट कविसमय ही आता है।

आचार्य देवेश्वर की 'कविकल्पलता'[2] तथा आचार्य अमर सिंह की 'काव्यकल्पलताविवेक' में भी कविसमय विवेचन है, किन्तु इस विवेचन में मौलिकता का अभाव है। केवल विशिष्ट कविसमयों

---

1. यत्र लोकस्य कवेश्च प्रसिद्धयोर्विरोधस्तत्र कविप्रसिद्धिरेव बलीयसी। (मरीचि - 6 पृष्ठ - 19)
अलङ्कारशेखर (केशव मिश्र)

2. असतोऽपि निबन्धेन निबन्धेन सतोऽपि वा नियमेन च जात्यादे: कवीनां समयस्त्रिधा ।44।
(प्रथम स्तवके तृतीयं कुसुमम्)
कविकल्पलता (देवेश्वर)

का ही उनमें उल्लेख है। विनयचन्द्र की काव्यशिक्षा में भी केवल कविसमय के भेदों का उल्लेख है। राजशेखर से पूर्व आचार्यों ने कविसमय का उल्लेख क्यों नहीं किया इस प्रश्न को उठाने का कोई कारण नहीं है। आचार्य भामह आदि न तो कविशिक्षक आचार्य थे और न तो उनके ग्रन्थों का कविशिक्षा से सम्बन्ध था। कविसमय का सम्बन्ध कविशिक्षा से ही है। अत: कविशिक्षा से सम्बद्ध ग्रन्थ के लेखक तथा कविशिक्षक आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित आचार्य राजशेखर ने कविसमय को अपने विवेचन का विषय बनाया। कविसमय का उल्लेख न मिलने का यह तात्पर्य नहीं है कि यह विषय तब नहीं था। कविसमय से सम्बद्ध वर्णन तो बहुत पूर्व कालिदास आदि महाकवियों के ग्रन्थों में बहुतायत से मिलते हैं। आचार्य राजशेखर के पश्चात् इस विषय का नवीन मौलिक विवेचन न मिलने का यह कारण है कि जब किसी वस्तु अथवा विषय का परिपूर्ण विवेचन आचार्य राजशेखर द्वारा किया जा चुका है तब परवर्ती आचार्यों के लिए उस विषय का नवीन मौलिक रूप तो विवेचन के लिए शेष रह ही नहीं जाता।

आचार्य राजशेखर का विचार है कि किसी काव्यज्ञ के द्वारा ही कवि बनने की शिक्षा प्राप्त की जानी चाहिए। काव्यनिर्माण के इच्छुक कवि के लिए कविसमय का ज्ञान आवश्यक है और इनका ज्ञान देने वाला कोई काव्यज्ञ ही हो सकता है।

विभिन्न कविसमय :-

नदी में कमल :-

नदी में कमल की स्थिति सत्य नहीं है क्योंकि पङ्कजन्मा कमल प्रवाहयुक्त जल में नहीं खिलता। वे अपने सौन्दर्य से केवल सरोवरों के बंधे जल को ही अनुग्रहीत करते हैं। किन्तु प्राय: सभी महाकवियों ने नदी वर्णन के प्रसंग में नदियों में कमल का उल्लेख अवश्य किया है। कमलपुष्प की उसके सौन्दर्य के कारण सर्वत्र प्रसिद्धि है। नदियों में इन सुन्दर पुष्पों का वर्णन करके नदियों के सौन्दर्य का अभिवर्धन करने की तथा उसके अतिशय सुन्दर रूप को प्रस्तुत करने की कवि सौन्दर्य भावना ही इस प्रकार के निबन्धन के सम्बन्ध में कार्य करती प्रतीत होती है। जल का अस्तित्व नदी और सरोवर दोनों की समान विशेषता है। सरोवर के समान ही नदी में जल की ही स्थिति होने के साम्य पर कमल की अन्य विशेषताओं-बंधे जल में उत्पत्ति-को विस्मृत कर कवियों ने अपने काव्योपकार हेतु उस सुन्दर कमल को अपनी कल्पना के जगत् में नदी में भी स्थान दे दिया तथा नदी को अतिशय सौन्दर्य प्रदान कर

दिया। कवियों ने कमलों की केवल जल में उत्पत्ति रूप वैशिष्ट्य को अपना कर सभी जलों में उनकी स्थिति का वर्णन किया चाहे नदी का प्रवाहयुक्त जल हो अथवा सरोवर का बंधा जल, और नदी के वर्णन को अधिक सुन्दरतम बनाने के लिए नदी में कमल वर्णन की परम्परा बन गई।

सभी जलाशयों में हंस :-

काव्य तथ्य निर्धारण कम करता है, वह सुन्दर कल्पनाओं का आश्रय अधिक है, कविगण सभी जलाशयों में हंसादि का वर्णन करते हैं, जबकि सभी जलाशयों में हंसादि की स्थिति सत्य नहीं है। हंसादि किसी किसी जलाशय में ही पाए जाते हैं, किन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि हंसादि पक्षियों से युक्त होना जलाशय का सुन्दरतम रूप है। सभी जलाशयों में हंसों के न होने पर भी उनका वर्णन सुन्दर को प्रस्तुत करने की भावना पर ही आधारित माना जा सकता है। जलाशय वर्णन के समय कवि के सम्मुख जलाशय प्रस्तुत तथा प्रत्यक्ष ही रहता हो यह आवश्यक नहीं है, किन्तु उसकी कल्पना में वर्णनकाल में जलाशय अवश्य ही उपस्थित रहता है और कवि कल्पना सदा वस्तु के सुन्दरतम रूप का ही आश्रय बनती है। वस्तु के सुन्दरतम रूप का ही अपनी कल्पना की सूक्ष्म दृष्टि से देखकर वर्णन करने वाले कवि सभी जलाशयों का हंसादि सहित ही वर्णन करें तो आश्चर्य नहीं है।

सभी पर्वतों में सुवर्ण रत्नादि :-

सभी पर्वतों में सुवर्ण रत्नादि का वर्णन भी कवियों की वस्तु के सुन्दरतम स्वरूप को प्रस्तुत करने की भावना पर ही आधारित है। सुवर्ण रत्नादि की स्थिति पर्वतों में होती है, किन्तु सभी पर्वतों में सुवर्ण रत्नादि हों ही यह अनिवार्य नहीं है। सुवर्ण, रत्नादि के पर्वत में पाए जाने के साम्य पर काव्य के वर्ण्य विषय बनने वाले किसी भी पर्वत को सुन्दरतम तथा समृद्धतम बनाने के लिए कवियों ने उसे सुवर्ण रत्नादि से युक्त रूप में वर्णित करने की परम्परा बना ली।

अन्धकार का मुष्टिग्राह्यत्व तथा सूचीभेद्यत्व :-

काव्यों में अन्धकार का मुष्टिग्राह्य तथा सूचीभेद्य स्वरूप वर्णित है, किन्तु यह कल्पना ही है सत्य नहीं, क्योंकि न तो अन्धकार की मुष्टिग्राह्यता सम्भव है और न सूचीभेद्यता। किन्तु अन्धकार के अत्यन्त प्रगाढ़ तथा घनीभूत रूप को प्रकट करने वाले कवियों के इस प्रकार के वर्णन काव्य जगत् की

क्रमशः परम्परा बन गए। अन्धकार अपने घनीभूत रूप में केवल धुंध न होकर कवियों की दृष्टि में ऐसी वस्तु बन जाता है जिसे मुट्ठी में पकड़ा जा सके। किसी घनीभूत वस्तु को ही मुट्ठी में पकड़ना सम्भव है। किसी तरल पदार्थ अथवा धुएँ के रूप में स्थित पदार्थ को नहीं। अन्धकार को सूचीभूद्य कहने पर भी अन्धकार का घनीभूत स्वरूप प्रकट होता है। एकत्र होकर प्रगाढ़ हुए अन्धकार के पार कवियों की कल्पना के अनुसार सूई जैसी तीक्ष्ण, नुकीली और कठोर वस्तु ही जा सकती है। वस्तुतः प्रगाढ़ अन्धकार अपने आप में सर्वस्व समाहित करने वाला तथा आर पार का पता न देने वाला होता है। उसके ऐसे स्वरूप ने ही उसे कवियों की दृष्टि में सूचीग्राह्य बना दिया। कवि कालिदास ने सेना द्वारा उड़ी धूल को जिसके कारण आँखों को कुछ दिखाई नहीं देता सूचीभेद्य माना है।[1] इस घनीभूत रज के आर पार कोमल नेत्र नहीं देख सकते, उसके पार पहुंचना तो सुई की नोक के लिए ही सम्भव है। इसी प्रकार अन्धकार को भी नेत्रों द्वारा भेदकर देखना सम्भव नहीं है इसी कारण उसे सूचीभेद्य माना गया। यह सत्य न होकर भी सुन्दर कल्पना है तथा अन्धकार के सत्य स्वरूप को स्वयं कल्पना होकर भी सुन्दरता से प्रकट करती है।

ज्योत्सना का कुम्भापवाह्यत्व :-

कुम्भ में अथवा पात्र में ज्योत्सना को भरने का वर्णन करने की काव्यजगत् में परम्परा है, किन्तु ज्योत्सना तो केवल प्रकाश रूप है, वह न कोई तरल पदार्थ है न वस्तु जिसे किसी पात्र में भर सकना सम्भव हो, ज्योत्सना का शुभ्र प्रकाश केवल सभी वस्तुओं को प्रकाशित ही करता है तथा ज्योत्सना में रिक्त कुम्भ रखने पर उसका आन्तरिक भाग प्रकाशित हो सकता है सम्भव है इसी आधार पर कवियों ने ज्योत्सना के कुम्भापवाह्यत्व की कल्पना कर ली हो। इसके अतिरिक्त चन्द्रमा अमृतवर्षी माना गया है किन्तु उसके द्वारा केवल ज्योत्सना का ही प्रसारण होता है। यदि चन्द्रमा द्वारा प्रसारित ज्योत्स्ना को ही अमृत रूप में स्वीकार किया जाय तो चन्द्रमा के अमृतवर्षी होने तथा उसकी ज्योत्स्ना के ही अमृत होने की कल्पना के आधार पर कवियों द्वारा ज्योत्स्ना के कुम्भापवाहयत्व रूप में वर्णन की परम्परा बनी

---

1. मृच्यग्रभेद्यैः पृतनारजश्चयैः (कुमारसम्भवम् महाकविकालिदास)(14 38)

(सेनायाः रजसां समूहैः)

होगी, ऐसा माना जा सकता है। ज्योत्स्ना अपने श्वेत प्रकाशित रूप के कारण मानों अमृत रूप में घड़े में भर जाती है। ज्योत्स्ना के कुम्भापवाह्यत्व रूप की कल्पना में कवियों की ज्योत्स्ना के शुभ्र प्रकाशित स्वरूप को प्रकट करने की, उसकी अधिकाधिक शुभ्रता का वर्णन करने की भावना का समावेश है।

चक्रवाक युगल का रात्रि में भिन्न-भिन्न तटों पर रहना :-

काव्य में कवि के प्रेम तथा विरह वर्णनों के आधार प्रायः चक्रवाक युगल बनते हैं। कवियों की कविसमय रूप कल्पना में रात्रि में चक्रवाकयुगल की भिन्न-भिन्न तटों पर स्थिति तथा प्रातः उनका मिलन स्वीकार किया गया है। किन्तु सभी काव्यशास्त्रियों के अनुसार यह केवल कल्पना ही है, सत्य नहीं। यदि चक्रवाकयुगल का रात्रिविरह सत्य नहीं है तो काव्यवर्णनों के प्रेम, विरह, संयोग, वियोग वर्णनों का माध्यम इन पक्षियों को ही बनाने का क्या कारण है? चक्रवाक युगल का ही रात्रि में वियोग तथा दिन में मिलन के पीछे क्या वैशिष्ट्य निहित है? सम्भवतः चक्रवाक पक्षियों का स्वर करुण क्रन्दन जैसा प्रतीत होता होगा। उस स्वर के विशेष रूप से रात्रि में ही मुखरित होने के कारण कवियों ने चक्रवाक पक्षियों के रात्रि में अपने प्रिय से अलग हो जाने की तथा इसी कारण अपने प्रिय के विरह में उनके करुण क्रन्दन करने की कल्पना की होगी। इस प्रकार यहाँ यह सम्भावना की जा सकती है कि चक्रवाक पक्षियों का रात्रि में ही विशिष्ट प्रकार का क्रन्दन जैसा स्वर कवियों की इस मान्यता का आधार बना होगा कि रात्रि में विरह के कारण ही चक्रवाक पक्षी दुःखी रहते हैं और करुण स्वर में अपने प्रिय को पुकारते हैं, किन्तु दिन में प्रिय से मिलन हो जाने से प्रसन्न पक्षी क्रन्दन नहीं करते। यह असत्य कल्पना कवियों के लिए अपने काव्यपात्रों के प्रेम, विरह, संयोग, वियोग को प्रकट करने का सुन्दर माध्यम बनी तथा प्रेम प्रस्तुतीकरण का यह सुन्दर माध्यम परम्परा रूप में सभी कवियों द्वारा अपनाया जाता रहा। चक्रवाक का विशिष्ट स्वर ही इस कल्पना का आधार है इसके उदाहरण स्वरूप 'किरातार्जुनीयम् का श्लोक। (9-14)[1]

---

1. 'यच्छति प्रतिमुखं दयितायै वाचमन्तिकगतेऽपि शकुन्तौ। नीयते स्म नतिमुज्झितहर्षं पङ्कजं मुखमिवाम्बुरुहिण्या॥
(9-14) किरातार्जुनीयम् (भारवि)

चकोरों का चन्द्रिकापान :-

कवियों की कविसमय के रूप में चकोरों के चन्द्रिकापान की भी एक सुन्दर कल्पना है। यह सत्य नहीं है कि चकोर चन्द्रिकापान करते हैं। चन्द्रिका तो प्रकाश मात्र है कोई तरल पदार्थ नहीं, जिसका पेय रूप सम्भव हो। चन्द्रमा को अमृतवर्षी रूप में स्वीकार करने की कल्पना चकोरों के चन्द्रिकापान की कल्पना में निहित मानी जा सकती है। चन्द्रमा द्वारा बरसाई गई अमृत रूप ज्योत्सना के चकोरों के पेय होने की कल्पना की जा सकती है क्योंकि अमृत तरल पदार्थ के रूप में स्वीकृत है तथा केवल तरल पदार्थ का ही पेय स्वरूप सम्भव है, किन्तु यदि चन्द्रिका को अमृत रूप मानकर पेय माना भी जाए तो भी उसके पान की कल्पना चकोरों के लिए ही क्यों की गई? इस विषय में यही कहा जा सकता है कि सम्भवतः चकोर पक्षी मुंह आकाश की ओर उठाए रहने के तथा चन्द्रमा को देखते रहने के अभ्यस्त हों, उनका यही अभ्यास कवियों के लिए चकोरों के चन्द्रिकापान की कल्पना का आधार बन गया होगा। कवियों की यह सुन्दर कल्पना चन्द्रमा के प्रति चकोर के प्रेम प्रदर्शन के द्वारा प्रेम के प्रस्तुतीकरण का सुन्दर माध्यम ही मानी जा सकती है।

यश का श्वेत तथा अपयश का कृष्ण वर्ण :-

यश तथा अपयश भाव हैं वस्तु नहीं, इनका कोई वर्ण नहीं होता, किन्तु कवियों ने इनके स्वरूप के स्पष्टीकरण का माध्यम वर्णों को स्वीकार किया। कवियों की दृष्टि में यश का श्वेत वर्ण है तथा अपयश का श्याम वर्ण। यश के श्वेत शुभ्र वर्ण को स्वीकार करने का कारण यश का प्रकाश के समान वैभवशाली तथा प्रसरणशील रूप माना जा सकता है। प्रकाश के समान ही यश का प्रसरण तथा इसी कारण प्रकाश का शुभ्र श्वेत वर्ण यश को भी प्रकाश के समान शुभ्र श्वेत मानने की कल्पना का आधार बना हो ऐसी सम्भावना हो सकती है। यश के विपरीत अपयश का कवियों ने उसके शुभ्रवर्ण के विपरीत ही कृष्ण अथवा श्याम वर्ण स्वीकार किया है। अपयश भी प्रसरणशील तो है, किन्तु वैभवशाली प्रसन्नतादायक शुभ्र यश के समान व्यक्ति के गुणों को प्रकाशित नहीं करता, किन्तु अन्धकार के समान मलिन रूप में फैलता है तथा व्यक्ति के अवगुणों को मलिनता सहित प्रकट करता है। मलिन वस्तु के श्यामवर्ण के अंश का होना अवश्यम्भावी है। सम्भवतः इसी कारण मलिन अपयश कवियों की कल्पना

के अनुसार अन्धकार के समान श्याम वर्ण का स्वीकार किया गया। यश, अपयश का काव्य में केवल नाम मात्र से उल्लेख न करके उनका वर्ण निश्चित कर देने से कवि यश,अपयश का विभिन्न श्वेत तथा श्याम विषयों से साम्य करते हुए उनके वर्णनों को नवीनता प्रदान कर सका।

क्रोध तथा अनुराग का रक्तवर्ण :-

क्रोध तथा अनुराग का कवि परम्परा के अनुसार रक्त वर्ण है। क्रोध की अवस्था में क्रोधी व्यक्ति के नेत्रों तथा चेहरे की तीव्र लाली ने ही कवियों को क्रोध के स्पष्टीकरण हेतु उसे एक निश्चित वर्ण प्रदान करके काव्य में प्रस्तुत करने का माध्यम कवियों को दिया होगा। क्रोध की अवस्था में क्रोधी के शारीरिक विकार जो रक्तवर्ण से सम्बन्ध रखते हैं, काव्य में क्रोध के निश्चित वर्ण की स्वीकृति के माध्यम बने होंगे। उसी प्रकार अनुराग की अवस्था में भी रक्तवर्ण से सम्बद्ध विकार नेत्रों की लाली, तथा गालों का लज्जा से लाल हो जाना काव्य में कवि के लिए अनुराग का रक्त वर्ण निश्चित कर देने का माध्यम बने होंगे। यद्यपि क्रोध में जहाँ शारीरिक विकार के रक्त वर्ण का उदण्डता से सम्बन्ध है, वहाँ अनुराग में दिखने वाले शारीरिक रक्तवर्ण का सौम्यता से।

पाप का श्याम तथा हास का शुक्ल वर्ण :-

पाप तथा हास भी निश्चित वर्णों में ही काव्य में वर्णित होते हैं। कविपरम्परा में पाप का श्याम वर्ण है तथा हास का श्वेत वर्ण। अन्धकार के समान मलिन स्वरूप धारी पाप जिससे सम्बद्ध होता है उसे मलिन ही बना देता है। सम्भवतः इसी कारण पाप का श्याम वर्ण कवियों ने स्वीकार किया हो। हास प्रकाश जैसी प्रसन्नता का द्योतक है। हंसने पर दातों की धवल पंक्ति का स्पष्टीकरण भी हास को काव्यों में शुक्ल वर्ण प्रदान कर सकता है, किन्तु काव्य में स्मित को भी शुक्ल वर्ण का ही माना गया है जबकि उसमें दांत परिलक्षित नहीं होते। अतः हास के प्रकाश के समान प्रसन्नतादायक तथा शुक्लत्व के समान मनोहारी होने के कारण ही उसे काव्य में शुक्ल वर्ण दिया गया ऐसी सम्भावना की जा सकती है।

काव्य सुन्दर कल्पनाओं का जगत् है। कवि वैज्ञानिक नहीं है। किसी वस्तु अथवा विषय का सत् होना ही उनका वर्ण्य विषय नहीं हो सकता। सत् होने के साथ ही साथ काव्य विषय बनने के लिए सौन्दर्यातिशय से युक्त होना भी आवश्यक है।

बसन्त में मालती का वर्णन न करना :-

बसन्त में मालती पुष्प की स्थिति सर्वमान्य है, किन्तु कविगण बसन्त में मालती का वर्णन नहीं करते। सम्भव है बसन्त में फूली मालती का रूप कवियों को अन्य ऋतुओं की अपेक्षा कम सुन्दर प्रतीत हुआ हो अथवा इस अनिबन्धन का अन्य कोई कारण भी हो सकता है जो कवियों की दृष्टि में रहा है, किन्तु जिसका ज्ञान अथवा सम्भावना कठिन है।

चन्दन में फलफूल का वर्णन न करना :-

चन्दन वृक्ष अपने सौरभ के कारण पर्याप्त सुन्दर है। उसे फूलों, फलों के सौन्दर्य से सुसज्जित करके प्रस्तुत करना कवियों को व्यर्थ ही प्रतीत हुआ होगा। चन्दन में होने वाले पुष्पों की न तो कवि की वर्णना के अनुरूप मनोहारिता ही होती होगी और न ही फलों का कोई लाभ। अत: केवल सौन्दर्यातिशय के वर्णन से सम्बन्धित कवि चन्दन में व्यर्थ फलों तथा पुष्पों का वर्णन क्यों करते? इन फलों, फूलों की व्यर्थता ने ही उन्हें सत् होने पर भी कवि की दृष्टि में असत् बना दिया। कवियों के वर्णनीय तो कमल जैसे पुष्प तथा सहकार जैसे फल ही अधिक हैं।

अशोक में फलों का वर्णन न करना :-

काव्य में अशोक वृक्ष में फलों का अनिबन्धन कवियों की ऐसी ही स्वीकृति का परिणाम है, अशोक वृक्ष में तथा पल्लवों में जो सौन्दर्य है वह अशोक के फलों में निश्चय ही नहीं होता होगा। अशोक वृक्ष को देखने पर कवियों की दृष्टि उसके हरे भरे पल्लवों तथा सघन छाया पर ही अधिक जाती होगी। इसके अतिरिक्त जिन फलों की उपयोगिता नहीं है तथा सौन्दर्य एवं कवि की सुन्दर कल्पना से सम्बन्ध भी नहीं है, कवि उन व्यर्थ फलों का अपने काव्य में वर्णन नहीं करते। कवि की सौन्दर्य निरीक्षिका दृष्टि में तो वे सत् होकर भी असत् ही हैं।

कृष्णपक्ष में ज्योत्सना का तथा शुक्ल पक्ष में अन्धकार का वर्णन न करना :-

कृष्णपक्ष में चन्द्रमा की पूर्णता न होने के कारण अन्धकार का आधिक्य होता है तथा शुक्लपक्ष में पूर्ण चन्द्र अपनी ज्योत्सना तथा प्रकाश के द्वारा अन्धकार को अल्पमात्रा में ही रहने देता है। ज्योत्सना की स्थिति कृष्णपक्ष में भी होती है किन्तु उसकी मात्रा अल्प होने के कारण उसमें शुक्ल पक्ष की चन्द्र

ज्योत्सना का सौन्दर्य नहीं होता। अन्धकार के सामने वह फीकी लगती है। इसी कारण कवियों को उसमें सौन्दर्य नहीं दिखता। कृष्णपक्ष में अपनी प्रगाढ़ता के कारण अन्धकार ही कवियों को सुन्दर लगता है। इसी कारण वे कृष्णपक्ष में केवल अन्धकार का ही वर्णन करते हैं, ज्योत्सना का नहीं। शुक्लपक्ष में पूर्ण चन्द्र की पूर्ण प्रकाशित शुभ्र ज्योत्सना के सम्मुख अन्धकार स्थित होने पर भी फीका सा प्रतीत होता है। इसी कारण शुक्लपक्ष में अन्धकार नहीं, किन्तु पूर्ण सौन्दर्ययुक्त ज्योत्सना ही कवियों का वर्ण्य विषय बनती है।

दिन में नीलकमल के विकास का वर्णन न करना :-

नीलकमल जिसे कुमुद भी कहते हैं कवियों के अनुसार केवल रात्रि में ही विकसित होता है। दिन में नीलकमल के विकास का वर्णन करने की कविजगत् में परम्परा नहीं है, जबकि रक्तकमल, सुवर्णकमल तथा श्वेत कमल सभी का दिन में विकास काव्य में वर्णित होता है। काव्य में नील, श्याम तथा कृष्ण वर्णों की एकता मानी गई है। सम्भवत: नीलकमल की रात्रि के वर्ण से समानता के आधार पर ही उसके रात्रि में विकास की कल्पना की गई हो।

रात्रि में शेफालिका कुसुमों के डाल से गिरने का वर्णन न करना :-

शेफालिका के सुन्दर सुगन्धित पुष्प प्रात: काल होने के पूर्व रात्रि में ही डालों से गिरकर पृथ्वी पर बिखर जाते हैं। पृथ्वी पर बिखरे रहकर अधिक देर तक पड़े रहने से उनका मुरझा जाना स्वाभाविक है। प्रकृति का इन पुष्पों को रात्रि में डाल से गिराने वाला नियम उनके सौन्दर्य को व्यर्थ ही करता है। सम्भवत: इसी कारण कवियों ने शेफालिका कुसुमों के रात्रि में डाल से गिरने का वर्णन नहीं किया, क्योंकि रात्रि में उनका डाल से गिरना वैसा ही है जैसे जंगल में मयूर का नृत्य, जिसे देखने वाला, प्रशंसा करने वाला कोई न हो।

कुन्दन की कलियों एवं कामियों के दाँतों के रक्तवर्ण का वर्णन न करना :-

कुन्दन की कलियों एवं कामियों के दांतों का सत् रूप में रक्तवर्ण है किन्तु कवियों में कुन्दन की कलियों तथा कामियों के दांतों के रक्तवर्ण में वर्णन की परम्परा नहीं है। इन निबन्धन नियमों में कवियों की कोई सौन्दर्य भावना ही होगी। कलियों में तथा दांतों में कवियों को श्वेत वर्ण में ही सौन्दर्य दृष्टिगत हुआ होगा।

कमल कलियों के हरितवर्ण तथा प्रियङ्गु पुष्पों के पीत वर्ण का वर्णन न करना :-

कमल कलियों के हरितवर्ण का कवियों द्वारा वर्णन नहीं किया जाता। कलियों की श्वेतिमा में ही सौन्दर्य इसका कारण हो सकता है। इसके अतिरिक्त कलियों का पत्रों से वैषम्य दिखलाने के लिए ही सम्भवत: कलियों के हरितवर्ण का वर्णन नहीं हुआ। प्रियङ्गु पुष्पों के पीतवर्ण का वर्णन न करने में भी कवियों का सुन्दर को ही प्रस्तुत करने का सभी कवियों में स्थित कोई समान भाव ही कारण रहा होगा। कविजगत् की एक परम्परा अनेक स्थानों में पाई जाने वाली वस्तुओं का एक स्थान में वर्णन रूप भी है।

मकरादि का केवल समृद्र में वर्णन :-

मकरादि जीव नदी में भी पाए जाते हैं, किन्तु कविगण उनका केवल समुद्र में ही वर्णन करते हैं। इस विषय के सम्बन्ध में कवियों की औचित्य को प्रस्तुत करने की भावना का समावेश माना जा सकता है। मकरादि की विशालता तथा भयंकरता से समुद्र की विशालता का ही सम्बन्ध हो सकता है, नदियों का नहीं। इसी कारण कवि समुद्र में ही मकरादि का वर्णन करते हैं नदी में नहीं, ऐसी सम्भावना है।

ताम्रपर्णी नदी ही मोतियों का स्थान :-

मोतियों का स्थान कवि परम्परानुसार केवल ताम्रपर्णी नदी में ही माना गया है, किन्तु वस्तुत: मोतियाँ अन्य स्थानों में भी पाई जाती है। अत: केवल ताम्रपर्णी नदियों में ही मोतियों की स्थिति की कवियों द्वारा मान्य स्वीकृति का ताम्रपर्णी नदी में मोतियों का आधिक्य, सौन्दर्य अथवा इसी प्रकार का अन्य कोई विशेष कारण हो सकता है।

केवल मलयाचल में ही चन्दन की उत्पत्ति :-

कवि चन्दन का उत्पत्ति स्थान केवल मलयाचल को ही स्वीकार करते हैं, किन्तु चन्दन की उत्पत्ति के स्थान मलयाचल के अतिरिक्त अन्य भी है। मलयाचल में उत्पन्न चन्दन सम्भवत: अन्य

स्थानों के चन्दन से श्रेष्ठ हो और सम्भव है उनकी यही श्रेष्ठता काव्य में उनके केवल मलयाचल में ही निबन्धन का आधार बनी हो।

भूर्जपत्रों का केवल हिमालय में ही वर्णन :-

चन्दन का केवल मलयाचल में ही वर्णन करने के समान ही कवियों की एक अन्य कवि परम्परा है भूर्जपत्रों का केवल हिमालय में ही वर्णन करने की। इस प्रकार के निबन्धन के कारण रूप में दो प्रकार की सम्भावनाएँ की जा सकती हैं। एकान्त होने के कारण प्राचीन काल में लेखन कार्य तपस्वी ऋषिगण हिमालय पर ही करते रहे होंगे। अत: भूर्जपत्रों का वहाँ आधिक्य से प्रयोग होता रहा होगा। इसके अतिरिक्त हिमालय पर भूर्जपत्रों का आधिक्य भी इस प्रकार के निबन्धन का कारण हो सकता है।

कोकिल के स्वर का बसन्त में ही वर्णन :-

मधुरभाषिणी कोकिल का स्वर बसन्त के साथ ही वर्षा तथा ग्रीष्म ऋतुओं में भी मुखरित होता है, किन्तु काव्यजगत् में कोकिल का स्वर केवल बसन्त ऋतु में ही वर्णित है। इस प्रकार के निबन्धन के दो सम्भावित कारण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। प्रथम तो कोकिल के स्वर की मुखरता बसन्त से ही आरम्भ होती है। वर्ष में सर्वप्रथम होने वाले इस मधुर स्वर की नवीनता कवियों को अधिक आकर्षित करती रही होगी। इसके अतिरिक्त बसन्त में कोकिल की प्रिय वस्तु सहकारमञ्जरी की प्राप्ति भी कोकिल के मधुर स्वर के आरम्भ का कारण होती है। सहकार मञ्जरी को पाकर प्रसन्नता के कारण मादक कोकिल स्वर कवियों को सौन्दर्य की दृष्टि से अधिक आकर्षक प्रतीत हुआ होगा। ग्रीष्म तथा वर्षा में सभी कोकिल का मधुर स्वर सुनने के अभ्यस्त हो जाते हैं। अत: बसन्त में नवीनता के कारण मधुर कोकिल स्वर में ध्यानाकर्षण की शक्ति का जितना आधिक्य होगा उतना ग्रीष्म तथा वर्षा के कोकिल स्वर में उसके मधुर होने पर भी निरन्तरता के कारण नहीं होगा। अत: कोकिल के स्वर की नवीनता तथा मादकता के आकर्षण के कारण कवियों ने उसका केवल बसन्त में ही वर्णन करने की परम्परा बना ली होगी।

भारवि के किरातार्जुनीयम् में कविसमय के विरुद्ध वर्षा में भी कोकिल के मधुर स्वर का वर्णन मिलता है। (10-22)[1] इस श्लोक से प्रकट होता है कि प्रसन्न होने पर ही कोकिल के स्वर में अधिक माधुर्य होता है। यहाँ पके जम्बू फल के उपयोग से कोकिल अधिक प्रसन्न है। इस श्लोक की मल्लिनाथ टीका में 'वर्षास्वपि मधुरा:स्वरा:कोकिलाया: इति प्रसिद्धि:' कथन है।

प्रिय सहकारमन्जरी के कारण ही कोकिल का प्रसन्न स्वर होता है इस विषय को भारवि के 'किरातार्जुनीयम्' का श्लोक (5-26)[2] सिद्ध करता है, क्योंकि सहकार मन्जरी के समान गन्धयुक्त हाथियों के मदजल की सुगन्ध के कारण कोकिल अकाल (बसन्त के अतिरिक्त समय) में मदयुक्त है।

बसन्त में आम्रमन्जरी की सूचना सर्वप्रथम कोकिल के शब्दों से ही प्राप्त होती है। (4-14-कुमारसंभव)।[3] सामान्यत: बसन्त में कोकिल के स्वर के साथ सहकार-मञ्जरी का वर्णन कवि अवश्य करते हैं।

मयूर के नृत्य तथा शब्द का केवल वर्षा में वर्णन :-

मयूर का नृत्य तथा शब्द वर्षा के अतिरिक्त अन्य ऋतुओं में भी होता है, किन्तु कवि काव्यजगत् की परम्परा के अनुसार उसका केवल वर्षा में ही वर्णन करते हैं। बादलों को देखकर मयूरों का प्रसन्नता से नृत्य करने तथा मादक स्वर मुखरित करने का कारण वर्षा ऋतु का मयूरों का गर्भाधान काल होना है। उस ऋतु में मयूरों की प्रसन्नता उनके नृत्य को जितना सुन्दर, हृदयग्राही तथा स्वर को जितना मादक बना देती है, उतना अन्य ऋतुओं में नहीं।

---

1. व्यथितमपि भृशं मनो हरन्ती परिणतजम्बूफलोपभोगहृष्टा।
   परभृतयुवतिः स्वनं वितेने नवनवयोजितकण्ठरागरम्यम् (10-22) — किरातार्जुनीयम् (भारवि)
2. सादृश्यं गतमपनिद्रचूतगन्धैरामोदं मदजलसेकजम् दधानः।
   एतस्मिन्मदयति कोकिलानकाले लीनालिः सुरकरिणां कपोलकाषः (5-26) — किरातार्जुनीयम् (भारवि)
3. हरितारुणचारुबन्धनः कलपुंस्कोकिलशब्दसूचितः वद संप्रति कस्य बाणतां नवचूतप्रसवो गमिष्यति (4-14)
   कुमारसंभवम् (कालिदास)

मयूर का स्वर वस्तुत: असुन्दर ही होता है, परन्तु संभवत: वर्षा में मदवृद्धि के कारण मयूर के स्वर में सौन्दर्य आ जाता है। वर्षा में मदवृद्धि के कारण मयूर प्रसन्न होकर नृत्य करता है इसी कारण उसका प्रसन्न स्वर उसके सुन्दर नृत्य के कारण मनोहारी लग सकता है।

मदात्ययादरक्तकण्ठस्य रूते शिखण्डिन: किरातार्जुनीयम् (4-25)

इसी कारण अतिशय सौन्दर्यग्राही कविगण उसका केवल वर्षा में ही वर्णन करते हैं। मयूरों के अन्य ऋतुओं के नृत्य तथा शब्द में पूर्ण प्रफुल्लता तथा पूर्णोल्लास न होने के कारण वर्षा ऋतु में होने वाले नृत्य तथा शब्द की अपेक्षा आकर्षण का अभाव अवश्य ही होगा। अत: यह विषय अन्य ऋतुओं में कवियों का वर्णनीय नहीं बना।

मेघों का कृष्ण, पुष्पों का श्वेत तथा माणिक्य का रक्तवर्ण :-

कवि प्राय: मेघों का कृष्ण वर्ण में, पुष्पों का श्वेत वर्ण में तथा माणिक्य का रक्त वर्ण में वर्णन करते हैं, यद्यपि मेघ, पुष्प तथा माणिक्य के विभिन्न वर्ण प्राप्त होते हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर उनका वर्णन भी किया जाता है। किन्तु कृष्ण वर्ण के मेघों का मेघों की परिचायक वर्षा ऋतु से सम्बन्ध, अधिकांशत: श्वेत वर्ण में पुष्पों के सौन्दर्य की गरिमा, तथा आधिक्य से प्राप्त माणिक्य (मूंगे) का लाल रंग-कवियों को इन वस्तुओं का प्राय: निश्चित वर्णों में ही वर्णन करने को प्रेरित करते हों ऐसी सम्भावना है।

कविसमयों के रूप में कवियों ने असत् का निबन्धन, सत् का अनिबन्धन तथा अनेक स्थानों पर होने वाली वस्तुओं का एक स्थान पर नियमन क्यों किया इस विषय में प्रमाण नहीं मिलते। इस प्रकार के निबन्धनों के स्वरूप के आधार पर उनके निबन्धन के कारण की केवल सम्भावना ही की जा सकती है। इन विपरीत वर्णनों का आधार कवियों की कल्पना ही है या सत्य यह निश्चित करने का कोई आधार नहीं है। वस्तुत: तो सत्य से भिन्न प्रतीत होने वाली इन कल्पनाओं की वर्णनीयता में जो विशिष्ट कारण रहे होंगे वे ज्ञात नहीं हो सके। इन असत्य कल्पनाओं को किसी समय अथवा स्थान के सत्य के रूप में प्रस्तुत करने वाला राजशेखर का कथन कि ''विद्वानों ने शास्त्रों के अध्ययन तथा लोक में

परिभ्रमण करके जिन अर्थों को प्राप्त कर प्रणीत किया उनका ही देश, काल से अन्यथात्व हो जाने पर भी उसी रूप में प्रस्तुतीकरण होता रहा।''[1] इस विषय में भ्रम उत्पन्न करता है। कवियों की कल्पनाओं के सत्य रूप के अन्वेषण की आवश्यकता भी नहीं है। कवियों की कल्पना का आधार कोई न कोई सत्य अवश्य होता है, किन्तु कल्पनाएँ ही सत्य हों तो वे कविकल्पना कहाँ है? तब तो वे तथ्य तथा यथार्थ के निकट हैं जो कल्पना जगत् से परे है। कविसमय सम्बद्ध असत्य कल्पनाओं को किसी विशिष्ट भावना से प्रेरित होकर ही कवियों ने प्रस्तुत किया होगा केवल यही माना जा सकता है। सत्य से विपरीत दिखने वाला कविसमयों का रूप केवल कल्पना ही नहीं है, वह विद्वानों को कभी उपलब्ध भी हुआ था, तथा शास्त्र और लोक से अपने मूल रूप में भिन्न भी नहीं था, यह केवल राजशेखर की ही मान्यता है, जो अलौकिक सुन्दर कल्पनाओं के रूप को कभी लौकिक, तथा शास्त्रीय बताकर उनके उस लौकिक, शास्त्रीय मूलाधार के अन्वेषण हेतु प्रेरित करती है, साथ ही भ्रमित भी करती है। कविसमयों के आज के अशास्त्रीय, अलौकिक रूप कभी लौकिक और शास्त्रीय थे इसका प्रमाण प्राप्त कर सकना कठिन है। इसके अतिरिक्त काव्य को विज्ञान की कसौटी पर कसने का कोई तात्पर्य नहीं है। काव्य कवियों की अलौकिक कल्पनाओं पर सदा ही आधारित रहा है। सभी अलौकिक कल्पनाओं में लोक के असुन्दर से ऊपर उठकर सुन्दर को प्रस्तुत करने की ही भावना निहित है। उसका रूप लौकिक भी था इसका प्रमाण प्रस्तुत करने की आवश्यकता ही क्या है?

विभिन्न वर्णों एवं वस्तुओं का परस्पर ऐक्य :-

उपरोक्त कविसमयों के अतिरिक्त कवि विभिन्न वर्णों एवं वस्तुओं का वर्णन की दृष्टि से परस्पर ऐक्य स्वीकार करते हैं। उन्होंने काव्य जगत् में कृष्ण और हरित को, कृष्ण और नील को, कृष्ण और श्याम को, पीत और रक्त को, शुक्ल और गौर को एक समान माना है। कवि काव्यों में क्षीर और क्षार

---

1. पूर्वे हि विद्वांसः सहस्रशाखं साङ्गं च वेदमवगाह्य, शास्त्राणि चावबुध्य, देशान्तराणि द्वीपान्तराणि च परिभ्रम्य, यानर्थानुपलभ्य प्रणीतवन्तस्तेषाम् देशकालान्तरवशेन अन्यथात्वेऽपि तथात्वेनोपनिबन्धो यः सः कविसमयः।

काव्यमीमांसा - (चतुर्दश अध्याय)

समुद्र, सागर तथा महासमुद्र, चन्द्रमा में शश तथा हरिण, काम ध्वज में मकर तथा मत्स्य, अत्रि के नेत्र तथा समुद्र से उत्पन्न चन्द्रमा, द्वादश आदित्यों, नारायण और माधव, दामोदर, शेष तथा कूर्म आदि, कमला और सम्पदा, --------नाग और सर्प, दैत्य, दानव तथा असुर आदि की परस्पर एकता स्वीकार करते हैं।

अपनी आवश्यकता के अनुरूप इन वर्णों तथा विषयों के प्रस्तुतीकरण का सामर्थ्य प्राप्त करना इस ऐक्य को स्वीकार करने का कारण प्रतीत होता है। किसी हरित वस्तु का कवि चाहे तो कृष्ण वर्ण में वर्णन कर सकते हैं चाहे हरित वर्ण में। इसी प्रकार काव्य में अन्य वर्णों का भी परस्पर साम्य स्वीकृत हुआ है। वर्णन की विविधता को प्राप्त करना तथा काव्यजगत् में कवियों के वर्णनों में परस्पर वैषम्य होने पर जो दोष की सम्भावना हो सकती है उसे दूर करना ही इस प्रकार के वर्णनों की समान भाव से स्वीकृति का आधार है। कभी वर्णन में कृष्ण वस्तु का हरित वर्ण प्रस्तुत करने का अधिक औचित्य होता है कभी कृष्ण वर्ण। इसी प्रकार कृष्ण वस्तु कभी नील वर्ण में प्रस्तुत की जाए तो काव्य सौन्दर्य की प्रतीति अधिक होती है और कभी कृष्ण वर्ण में प्रस्तुत की जाए तो अधिक। इन कविसमयों के कारण अपने वर्णनीय विषय की आवश्यकता के अनुसार जैसा वर्णन औचित्यपूर्ण हो कवि अपना सकते हैं। अपने पात्रों के विविध भावों को कवि उनके नेत्रों के द्वारा प्रकट करते हैं, इसी कारण कवियों की विविध प्रकार के भावों के प्रकटीकरण हेतु नेत्रवर्णनों की आवश्यकता के अनुरूप काव्यजगत् में नेत्रों के भी विविध वर्ण स्वीकार किए गए हैं—श्वेत, श्याम, कृष्ण तथा मिश्र सभी वर्णों में काव्यों में नेत्र वर्णन की परम्परा है। दोष की सम्भावना ही न रह जाए इसी कारण इस प्रकार के वैविध्य की स्वीकृति है। अन्यथा काव्यों में वर्णों के, वस्तुओं तथा नेत्रों के परस्पर भिन्नता रखने वाले वर्णन काव्य दोष बन जाते, क्योंकि कवि के लिए पूर्व प्रयोगों के निरीक्षण का विशेष महत्व है। किन्तु इन कविसमयों के सम्बन्ध में काव्यवर्णनों में परस्पर वैविध्य कवियों की सर्वमान्य परम्परा के रूप में स्वीकृत होने के कारण दोष नहीं है।

कवि विभिन्न वस्तुओं का भी परस्पर ऐक्य स्वीकार करते हैं। कवि परस्पर भिन्न वर्णन करते हैं। एक कवि अपने वर्ण्य विषय के अनुरूप चन्द्रमा में शश का वर्णन करता है तथा दूसरा हरिण का। काव्यपरम्परा के अनुसार न तो शश का वर्णन दोष माना गया है, न हरिण का। अपने वर्ण्य विषय के औचित्य के अनुसार कवि जैसा चाहे वर्णन कर सकते हैं। यदि इन विषयों का परस्पर ऐक्य स्वीकृत न होता तो काव्य में दोषों की संख्या में वृद्धि हो जाती। काव्यजगत् में वैषम्य हो जाता, एक प्रकार के कवि वर्णन के आधार पर दूसरे कवि का वर्णन दोष माना जाता। इन विषयों का ऐक्य स्वीकार करने से कवियों को अपनी आवश्यकता के अनुसार वर्णन की स्वतन्त्रता प्राप्त है।

इन विभिन्न ऐक्यों की स्वीकृति के अतिरिक्त कविजगत् में कवियों को कामदेव का स्वरूप मूर्त तथा अमूर्त दोनों रूपों में प्रस्तुत करने की स्वतन्त्रता है। वैविध्य युक्त काव्यरचना तथा वर्ण्य विषय का स्वातन्त्र्य प्राप्त करना ही इस प्रकार की मान्यताओं की स्वीकृति का लक्ष्य है।

शिव के मस्तक में स्थित चन्द्रमा का सदा बाल रूप ही काव्य में स्वीकार किया गया है। इसका सम्भावित कारण यह माना जा सकता है कि चन्द्रमा की कलाएँ घटती बढ़ती रहती हैं, किन्तु शिव के मस्तक में स्थित कला सदा खण्डरूप में ही रहती है, कभी वृद्धि को प्राप्ति नहीं करती और न कभी पूर्ण चन्द्र ही बनती है। सम्भव है इसीलिए शिवचन्द्र का केवल बालरूप ही काव्य में स्वीकार किया गया।

<u>वृक्षदोहद</u> :-

काव्यजगत् के उपरोक्त विशिष्ट वर्णनों के अतिरिक्त इस क्षेत्र का एक और वैशिष्ट्य है-वृक्षों में असमय सुन्दरियों के विभिन्न प्रयत्नों से पुष्पों के उद्‌गम का वर्णन।

सुन्दरियों के चरणाघात से अशोक का, वीक्षण से तिलक का, आलिङ्गन से कुरबक का, स्त्रियों के स्पर्श से प्रियङ्गु का, मुख से सेचन से बकुल का, नर्मवाक्य से मन्दार का, मृदुहास से चंपक का, मुख की वायु से सहकार (चूत) का, गीत से नमेरू का तथा सम्मुख नृत्य करने से कर्णिकार के विकास की

स्वीकृति वृक्षदोहद है।[1] वृक्षदोहद वर्णन की परम्परा राजशेखर से बहुत पूर्व कालिदासादि के काव्यों में अधिकता से पाई जाती है। किन्तु वृक्षदोहद को आचार्य राजशेखर के परवर्ती आचार्यों केशवमिश्र तथा विश्वनाथ ने ही कविसमय माना है। कविसमय का विस्तृत वर्णन करने पर भी राजशेखर ने कविसमय के प्रसंग में वृक्षदोहद का उल्लेख नहीं किया है। कविसमय की सर्वप्रथम पूर्ण रूप में विवेचना करने वाले आचार्य राजशेखर के ग्रन्थ में उसकी विवेचना न होने का कारण विचारणीय है। क्या राजशेखर की दृष्टि में वृक्षदोहद शास्त्रीय और लोकिक थे? क्या वस्तुत: स्त्रियों के संपर्क से वृक्षों में विकास रूप किसी सत्यता का उस समय अस्तित्व था? यद्यपि स्त्रियों के प्रयत्न से असमय पुष्पोद्‌गम कल्पना मात्र ही प्रतीत होता है, सत्य नहीं। वृक्षों के असमय विकास का स्त्रियों से सम्पर्क तो केवल कवियों ने ही जोड़ा हैं। वस्तुत: यह लोक की अथवा शास्त्रीय सत्यता थी या नहीं इसके प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। प्रमाणों के अभाव में केवल कवियों द्वारा ही वर्णित इन विषयों को अलौकिकता के कारण कविसमय रूप में ही स्वीकार्य होना चाहिए। राजशेखर द्वारा इनके विवेचन न किए जाने का सम्भवत: यह कारण हो कि यह विषय वे ही रहे हों जिन्हें कवियों ने केवल प्रयोग देखकर रूढ़ कर दिया हो, किन्तु वे कुछ विशिष्ट निश्चित कविसमयों से भिन्न हों। अथवा सम्भव है राजशेखर ने केवल कुछ प्रमुख कविसमयों का विवेचन किया हो, अन्य बहुत से प्रचलित कविसमयों को उनके विवेचन में स्थान न मिला हो और उन्हीं के बीच यह वृक्ष दोहद रूप कविसमय भी रह गए हों, किन्तु राजशेखर के उल्लेखों से तो प्रतीत नहीं होता कि उनके विवेचन में कुछ प्रमुख ही कविसमय अन्तर्निहित हैं। उनके विवेचन में सभी कविसमयों के (जो उनकी दृष्टि में वस्तुत: कविसमय थे) अन्तर्भाव की प्रतीति होती है।

---

1. दोहद [सुन्दरीचरणघातेनाशोक: पुष्यतीति प्रसिद्धि: 'असूत सद्य: कुसुमान्यशोक:' 'पादेन नापैक्षत सुन्दरीणां सम्पर्कमाशिञ्जितनूपुरेण' (कुमारसंभवम् - 3/26) इति। अत: पादाघात एवाशोकस्य दोहद इति दिनकर:। तथा चोक्तम् 'पदाघातादशोकस्तिलककुरबकौ वीक्षणालिङ्गनाभ्याम् स्त्रीणां स्पर्शात्प्रियङ्गुर्विकसतिबकुल: सीधुगण्डूषसेकात्। मन्दारो नर्मवाक्यात् पटुमृदुहसनाच्चंपको वक्त्रवातात् चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात्कर्णिकार:॥ इति]

रघुवंशम् (8 -64 की टीका में)

'काव्यमीमांसा' में कविसमय के भेद :-

कवियों द्वारा परम्परारूप में स्वीकृत सिद्धान्त रूप कविसमय के तीन भेद स्वीकृत हैं—भौम कविसमय, स्वर्ग्य कविसमय तथा पातालीय कविसमय।[1] भौम कविसमय के जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य रूप चार भेद हैं। इन भेदों के पुनः तीन भेद हैं

---
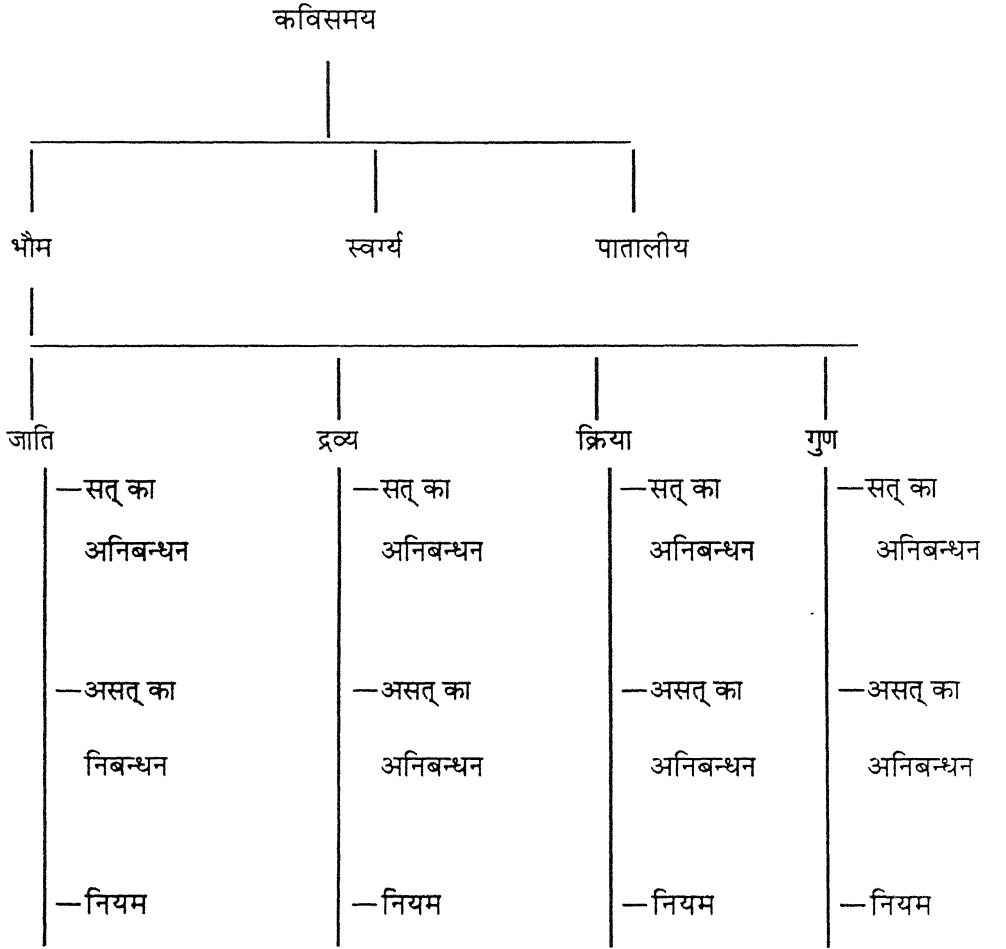
1 स च त्रिधा स्वर्ग्यो भौमः पातालीयश्च। स्वर्गपातालीययोर्भौमः प्रधानः। स हि महाविषयः। स च चतुर्द्धा जातिद्रव्यगुणक्रियारूपार्थतया। तेऽपि प्रत्येकं त्रिधा, असतो निबन्धनात् सतोऽप्यनिबन्धनात् नियमतश्च।

काव्यमीमांसा - (चतुर्दश अध्याय)

आचार्य राजशेखर की काव्यमीमांसा में तो इन कविसमयों का विस्तृत विवेचन है। परवर्ती आचार्यों जैसे हेमचन्द्र, देवेश्वर, केशवमिश्र, विश्वनाथ आदि ने भी इनका उल्लेख किया है। आचार्य राजशेखर तथा परवर्ती आचार्यों ने जिन कविसमयों का उल्लेख किया है उनमें 'असत्' का निबन्धन[1] रूप कविसमय के अन्तर्गत नदी में कमल, नीलकमल आदि का होना, जलाशय मात्र में हंसादि की स्थिति, सर्वत्र पर्वतों में सुवर्ण रत्नादि का होना, अन्धकार का मुष्टिग्राह्य और सूचीभेद्य होना, ज्योत्स्ना का घड़े में भरा जाना, चक्रवाक मिथुन का रात्रि में भिन्न-भिन्न तटों पर रहना, चकोरों का चन्द्रिकापान, यश और हास की शुक्लता, अयश और पाप की कृष्णता, क्रोध और अनुराग आदि की रक्तता अन्तर्निहित है।

'सत् का अनिबन्धन'[2] के अन्तर्गत उल्लिखित कविसमयों में बसन्त में मालती के होने पर भी उसका वर्णन न करना, चन्दन में पुष्पफल का वर्णन न करना, अशोक में फल का वर्णन न करना कृष्णपक्ष में ज्योत्स्ना के होने पर भी उसका वर्णन न करना, शुक्ल पक्ष में अन्धकार का वर्णन न करना, तथा दिन में नीलकमल के विकास का वर्णन न करना तथा रात्रि में शेफालिका कुसुमों के डाल से गिरने का वर्णन न करना, कुन्दन की कलियों एवं कामियों के दाँतों के रक्तवर्ण का वर्णन न करना, कमलकलियों के हरितवर्ण का वर्णन न करना, प्रियंङ्गु पुष्पों के पीतवर्ण का वर्णन न करना आदि हैं।

अनेक स्थानों में प्रचलित व्यवहारों का एक ही स्थान में प्रयोग करते हुए उनका नियमन कविसमय के ही एक भेद रूप में स्वीकृत है[3] इसके अन्तर्गत मकर आदि का केवल समुद्र में वर्णन, ताम्रपर्णी नदी में ही मोतियों का वर्णन, मलयाचल में ही चन्दन की उत्पत्ति, हिमालय में ही भूर्जपत्रों का होना, ग्रीष्म और वर्षा में भी होने वाले कोकिल शब्द का केवल बसन्त में ही वर्णन, मयूर के नृत्य

---

1. तत्र सामान्यस्यासतो निबन्धनं यथा। नदीषु पद्मोत्पलादीनि, जलाशयमात्रेऽपि हंसादयो, यत्र तत्र पर्वतेषु सुवर्णरत्नादिकं च। काव्यमीमांसा - (चतुर्दश अध्याय)

2. सतोऽप्यनिबन्धनं। तद्यथा न मालती वसन्ते, न पुष्पफलं चन्दनद्रुमेषु, न फलमशोकेषु।
काव्यमीमांसा - चतुर्दश अध्याय

3. अनेकत्र प्रवृत्तवृत्तीनामेकत्राचरणं नियमस्तद्यथा। समुद्रेष्वेव मकराः, ताम्रपर्ण्यामेव मौक्तिकानि।
काव्यमीमांसा - (चतुर्दश अध्याय)

एवम् शब्द का केवल वर्षा में ही वर्णन, तथा सामान्यत: माणिक्य के लाल, पुष्पों के श्वेत तथा मेघों के कृष्ण वर्ण का वर्णन करना आदि हैं।

आचार्य राजशेखर, हेमचन्द्र तथा देवेश्वर के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में प्राय: इस सभी कविसमयों का उल्लेख है। कुछ को छोड़कर शेष सभी केशवमिश्र तथा विश्वनाथ के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भी उल्लिखित हैं।

काव्य में वर्णित इन काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने काव्य में कुछ अन्य कविसमयों का भी समान रूप से उल्लेख किया है यथा कृष्ण और नील, कृष्ण और हरित, कृष्ण और श्याम, पीत और रक्त तथा शुक्ल ओर गौरवर्णों का समान रूप से वर्णन, नेत्रों का श्वेत, श्याम, कृष्ण और मिश्र सभी वर्णो में उल्लेख, क्षीर और क्षार समुद्र की एकता, सागर और महासमुद्र की एकता, प्रताप में रक्तता तथा उष्णता का वर्णन, वर्षाकाल में हंसों के मानसरोवर चले जाने का वर्णन, सभी जलों में सेवाल का पाया जाना आदि।

आचार्य केशवमिश्र तथा विश्वनाथ वृक्षदोहद को भी कविसमय के रूप में स्वीकार करते हैं। स्त्रियों के चरणाघात, मुखसिंचन तथा आलिंगन से कुछ वृक्षों में पुष्पोत्पत्ति को वृक्षदोहद कहा गया है। वृक्षदोहद रूप कविसमय का उल्लेख आचार्य राजशेखर ने नहीं किया है।

कविसमय का अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में विवेचन करने वाले आचार्यों ने स्वर्ग्य तथा पातालीय कविसमयों का भी समान रूप से उल्लेख किया है। स्वर्ग्य कविसमयों के अन्तर्गत चन्द्रमा में शश और हरिण की एकता, कामध्वज में मकर और मत्स्य की एकता, अत्रि के नेत्र से उत्पन्न तथा समुद्र से उत्पन्न चन्द्रमा की एकता, बहुकाल से जन्म होने पर भी शिवचन्द्र की बालता, काम की मूर्तता, अमूर्तता, द्वादश आदित्यों की एकता, नारायण और माधव की एकता, दामोदर, शेष और कूर्म आदि में एकता, कमला और सम्पदा में एकता आदि हैं। पातालीय कविसमयों में नाग और सर्प की एकता, दैत्य, दानव और असुरों की एकता उल्लिखित है।

विभिन्न महाकाव्यों में कविसमय का प्रयोग

संस्कृत साहित्य से कविसमय से सम्बद्ध वर्णनों का विशाल भंडार एकत्र किया जा सकता है। इसी सन्दर्भ में कुछ प्रसिद्ध महाकाव्यों के कविसमय सम्बन्धी उल्लेख यहाँ पर प्रस्तुत हैं।

किरातार्जुनीयम् (महाकवि भारवि)

वर्षा में मयूर के स्वर में सौन्दर्य

मदात्ययादरक्तकण्ठस्य रुते शिखण्डिनः (4-25)

संभवतः वर्षा में मदवृद्धि के कारण प्रसन्न मयूर के स्वर में सौन्दर्य कवियों को प्रतीत हुआ। वस्तुतः मयूर का स्वर असुन्दर ही होता है।

वेगवती नदी में कमल :—

स्फुटसरोजवना जवना नदी (5-7)

बसन्त न होने पर भी कोकिल का मदयुक्त स्वर:-

सादृश्यं गतमपनिद्रचूतगन्धैरामोदम् मदजलसेकजं दधानः।

एतस्मिन्मदयति कोकिलानकाले लीनालिः सुरकरिणां कपोलकाषः॥ (5-26)

कविगण कोकिल के स्वर का वसन्त में ही वर्णन करते हैं—इसका कारण है बसन्त में अपनी प्रिय वस्तु सहकारमञ्जरी को पाकर कोकिल का मदयुक्त स्वर अधिक सुन्दर होता है। कविगण काव्य में सौन्दर्यातिशय के ही अभिलाषी होते हैं। महाकवि भारवि का प्रस्तुत श्लोक सिद्ध करता है कि प्रिय सहकारमञ्जरी के कारण ही कोकिल का स्वर प्रसन्न होता है, क्योंकि सहकारमञ्जरी के समान गन्धयुक्त हाथियों के मदजल की सुगन्ध के कारण कोकिल अकाल में ही (बसन्त के अतिरिक्त समय में) मदयुक्त है।

<u>नदी में कमल</u> :—

सरोजरजसारुणितम् सरिदुत्तरीयमिव संहतिमत्स तरङ्गरङ्गि कलहंसकुलम् (6-6)

अथ स्फुरन्मीनविधूतपङ्कजा---------वधूः सुरापगा (8-27)

<u>**रात्रि में चक्रवाकमिथुन का अलग अलग तटों पर रहना तथा कमल का रात्रिसंकोच** :-</u>

तीरान्तराणि मिथुनानि रथाङ्गनामनाम् नीत्वा विलोलितसरोजवनश्रियस्ताः।

संरेजिरे सुरसरिज्जलधौतहारास्तारावितानतरला इव यामवत्यः॥ (8-56)

रात्रि में चक्रवाक युगल अलग-अलग तटों पर हैं तथा सरोजवन की श्री रात्रि में नष्ट हो जाती है।

इच्छतां सह वधूभिरभेदं यामिनीविरहिणां विहगानाम् आपुरेव मिथुनानि वियोगं लङ्घयते न खलु कालनियोगः॥ (9-13)

यच्छति प्रतिमुखं दयितायै वाचमन्तिकगतेऽपि शकुन्तौ।

नीयते स्म नतिमुज्झितहर्षं पङ्कजम् मुखमिवाम्बुरुहिण्या॥ (9-14)

चक्रवाक प्रिया से केवल बोल ही पाता है, समीप नहीं जा पाता। इसी दुःख को देखकर कमलिनी नतमुख है। (रात्रि में चक्रवाक का अलग रहना तथा कमल का सङ्कोच)

<u>चक्रवाक का अलग रहना</u> :-

आतपे धृतिमता सह वध्वा

यामिनीविरहिणा विहगेन।

सेहिरे न किरणा हिमरश्मेर्दुःखिते

मनसि सर्वमसह्यम्॥ (9-30)

<u>रात्रि में कुमुदों का विकास</u> :-

गन्धमुद्धतरजः ------------विक्षिपन्विकसतां कुमुदानाम्------------आदुधाव परिलीनविहङ्गा यामिनीमरुत्--------वनराजीः (9-31)

<u>यश का शुभ्रवर्ण</u> :-

गुरून्कुर्वन्ति ते वश्यानन्वर्था तैर्वसुन्धरा येषां यशांसि शुभ्राणि ह्येपयन्तीन्दुमण्डलम् (11-64)

<u>मलय में चन्दन का वर्णन</u> :-

बहुभिश्च बाहुभिरहीनभुजगवलयैर्विराजितम्।

चन्दनतरुभिरिवालघुभिः प्रबलायतैर्मलयमेदिनीभृतम्॥ (12-24)

<u>रात्रि में कमल का सङ्कोच</u> :-

प्रभा हिमांशोरिव पङ्कजावलिम् निनाय सङ्कोचमुमापतेश्चमूम्॥ (14-56)

<u>प्रातः काल कमल का विकास</u> :-

त्विषां ततिः पाटलिताम्बुवाहा सा सर्वतः पूर्वसरीव सन्ध्या।

निनाय तेषां द्रुतमुल्लसन्ती विनिद्रताम् लोचनपङ्कजानि॥ (16-33)

<u>यश का शुभ्र वर्ण क्यों</u> :-

प्रत्याहतौजाः कृतसत्त्ववेगः पराक्रमं ज्यायसि यस्तनोति।

तेजांसि भानोरिव निष्पतन्ति यशांसि वीर्यज्वलितानि तस्य॥ (17-15)

(प्रकाश का वर्ण शुभ्र होता है और यश के प्रकाशित स्वरूप के कारण ही सम्भवतः उसका शुभ्र वर्ण माना गया है।)

कुमारसंभवम् (महाकवि कालिदास)

हिमालय में ही भूर्जपत्र :-

न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः।

व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनङ्गलेखक्रियययोपयोगम् यत्र (हिमाद्रौ) ॥ (1-7)

प्रातः काल कमल का विकास :-

उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम् (1-32)

कमल का रात्रि में सङ्कोच :-

चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुङ्क्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम्। (1-43)

हिमालय वर्णन प्रसङ्ग में ही भूर्जत्वचा का उल्लेख :-

गणा न मेरुप्रसवावतंसा भूर्जत्वचः स्पर्शवतीदधानाः। (1-55)

काम का मूर्तरूप :-

--------------मदनः प्रतस्थे ---------हस्तेन पस्पर्श तदङ्गमिन्द्रः (3-22)

अशोक में पुष्प :-

असूत सद्य कुसुमान्यशोकः स्कन्धात्प्रभृत्येव सपल्लवानि।

पादेन नापैक्षत सुन्दरीणां संपर्कमासिञ्जितनूपुरेण॥ (3-26)

नदी में कमल :-

अथोपनिन्ये गिरिशाय गौरी तपस्विने ताम्ररुचा करेण।

विशोषितां भानुमतो मयूखैर्मन्दाकिनीपुष्करबीजमालाम्॥ (3-65)

बसन्त, सहकारमञ्जरी तथा कोयलकण्ठ का सान्निध्य :-

तया व्याहृतसंदेशा सा बभौ निभृता प्रिये चूतयष्टिरिवाभ्याशे मधौ परभृतोन्मुखी (6-2)

नाग, सर्प का ऐक्य :-

गामधास्यत्कथं नागो मृणालमृदुभिः फणैः।

आरसातलमूलात्त्वमवालम्बिष्यथा न चेत्। (6-68)

शिवचन्द्र की बालता :-

दिवापि निष्ठ्यूतमरीचिमरीचिभासा बाल्यादनाविष्कृतलाञ्छनेन।

चन्द्रेण नित्यं प्रतिभिन्नमौलेश्चूडामणेः किं ग्रहणं हरस्य (7-35)

टीका — (बाल्यादल्पतनुत्वात्) :-

शिवचन्द्र की बालता उसके अल्पतनु के कारण कभी वृद्धि प्राप्त न होने वाले शरीर के कारण ही मानी गई होगी।

मलय में चन्दन :-

तस्यजातु मलयस्थलीरते धूतचन्दनलतः प्रियक्लमम्।

आचचाम सलवङ्गकेसरश्चाटुकार इव दक्षिणानिलः (8-25)

चक्रवाकवियोग :-

दृष्टतामरसकेसरस्रजोः क्रन्दतोर्विपरिवृत्तकण्ठयोः निघ्नयोः सरसि चक्रवाकयोरल्पमन्तर-मनल्पताम् गतम्। (8-32)

पश्य पक्वफलिनीफलत्विषा विम्बलाञ्छितवियत्सरोऽम्भसा विप्रकृष्टविवरं हिमांशुना चक्रवाकमिथुनम् विडम्ब्यते। (8-61)

वर्षा में मयूर का नृत्य तथा हंसों का मानस गमन :-

घनैर्विलोक्य स्थगितार्कमण्डलैश्चमूरजोभिर्निचितं नभः स्थलम्।

अयायि हंसैरभिमानसं घनभ्रमेण सानन्दमनर्ति केकिभिः। (14-35)

नैषधीयचरितम् (श्रीहर्ष)

अयश का श्यामवर्णः -

वितेनुरिङ्गालमिवायशः परे (1-9)

यश का शुभ्र वर्ण :-

सितांशुवर्णैर्वयति स्म तद्गुणैः ---- यशः पटं तद्भटचातुरीतुरी। (1-12)

दोहद वर्णन :-

विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताप्तये घटानिवापश्यदलम् तपस्यतः।

फलानि धूमस्य धयानधोमुखान्स दाडिमे दोहदधूपिनि द्रुमे। (1-82)

कमल का सूर्यप्रियत्व :-

--------मित्रजुषां सरोरुहाम्------- (2-29)

कमल का नदी में भी निवास :-

श्रितपुण्यसरः सरित्कथं न समाधिक्षपिताखिलक्षपम्।

जलजम् गतिमेतु मञ्जुलां दमयन्तीपदनाम्नि जन्मनि॥ (2-39)

हास का शुभ्रवर्ण :-

दयितं प्रति यत्र संतता रतिहासा इव रेजिरे भुवः।

स्फटिकोपलविग्रहा गृहाः शशभृद्भित्तनिरङ्कभित्तयः॥ (2-74)

दोहद प्रसङ्ग :-

इष्टेन पूर्तेन नलस्य वश्या: स्वर्भोगमत्रापि सृजन्त्यमर्त्या:।

महीरुहा दोहदसेकशक्तेराकालिकं कोरकमुद्गिरन्ति॥ (3-21)

रात्रि में कुमुद का तथा दिन में कमल का विकास :-

नलाश्रयेण त्रिदिवोपभोगम् तवानवाप्यम् लभते बतान्या।

कुमुद्वतीवेन्दुपरिग्रहेण ज्योत्स्नोत्सवम् दुर्लभमम्बुजिन्या॥ (3-45)

वर्षा में हंसों का मानस गमन :-

तां मानसं निखिलवारिचयान्नवीना हंसावलीमिव घना गमयांबभूवु:। (11-15)

वसन्त में कोकिल का स्पष्ट स्वर :-

ऋतोरधिश्री: शिशिरानुजन्मन: पिकस्वरैर्दूरविकस्वरैर्यथा। (9-136)

क्रोध का रक्तवर्ण :-

मिलत्कुङ्कुमरोषभासा-----(7-58)

रघुवंशम्—(महाकवि कालिदास)

यश की शुभ्रता :-

शुभ्रं यशो मूर्तमिवातितृष्ण: (2-69)

वर्षा में मयूर नृत्य :-

अध्यास्य चाम्भ: पृपतोक्षितानि शैलेयगन्धीनि शिलातलानि।

कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यम् कान्तासु गोवर्धनकन्दरासु॥ (6-51)

चन्द्र का स्थान मलयाचल :-

ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगास्वेलालतालिङ्गितचन्दनासु।

तमालपत्रास्तरणासु रन्तुं प्रसीद शश्वन्मलयस्थलीषु॥ (6-64)

रात्रि में कमल का सङ्कोच :-

स्वसुविदर्भाधिपतेस्तदीयो लेभेऽन्तरम् चेतसि नोपदेशः।

दिवाकरादर्शनबद्धकोशे नक्षत्रनाथांशुरिवारविन्दे॥ (6-66)

दोहद के द्वारा अशोक में फूल :-

कुसुमं कृतदोहदस्त्वया यदशोकोऽयमुदीरयिष्यति। (8-62)

स्मरतेव सशब्दनूपुरं चरणानुग्रहमन्यदुर्लभम् अमुना कुसुमाश्रुवर्षिणा त्वमशोकेन सुगात्रि शोच्यसे॥ (8-63)

दोहद-निःश्वास से बकुल विकास :-

तव निः श्वसितानुकारिभिर्बकुलैरर्धचिताम् समं मया-----(8-64)

अशोक में पुष्प वर्णन :-

कुसुममेव न केवलमार्तवं नवमशोकतरोः स्मरदीपनम्।

किसलयप्रसवोऽपि विलसिनां मदयिता दयिताश्रवणार्पितः। (9-28)

बकुल दोहद :-

सुवदनावदनासवसंभृतस्तदनुवादिगुणः कुसुमोद्गमः।

मधुकरैरकरोन्मधुलोलुपैर्बकुलमाकुलमायतपङ्क्तिभिः॥ (9-30)

<u>वसन्त के प्रसङ्ग में कोकिल का स्वर</u> :-

उपहितं शिशिरापगमश्रिया (बसन्तलक्ष्म्या) मुकुलजालमशोभत (किंशुके) (9-31)

<u>इसी प्रसङ्ग में सहकार का भी वर्णन तथा कोकिल का स्वर</u> :-

अभिनयान्परिचेतुमिवोद्यता मलयमारुतकम्पितपल्लवा।

अमदयत्सहकारलता मनः सकलिका कलिकामजितामपि (9-33)

प्रथममन्यभृताभिरुदीरिताः प्रविरला इव मुग्धवधूकथाः सुरभिगन्धिषु शुश्रुविरे गिरः कुसुमितासु मितावनराजिषु (9-34)

<u>नदी में कमल</u> :-

शय्यागतेन रामेण माता शातोदरी बभौ सैकताम्भोजबलिना जाह्नवीव शरत्कृशा। (10-69)

<u>समुद्र में ही मकर वर्णन</u> :-

मातङ्गनकैः सहसोत्पतद्भिन्नान्द्विधा पश्य समुद्रफेनान्--------- (13-11)

<u>नदी में भी मकर वर्णन</u> :-

अथोर्मिलोलोन्मदराजहंसे रोधोलतापुष्पवहे शरय्वाः।

विहर्तुमिच्छा वनितासखस्य तस्याम्भसि ग्रीष्मसुखे बभूव॥

स तीरभूमौ विहितोपकार्यामानयिभिस्तामपकृष्टनक्राम्।

विगाहितुं श्रीमहिमानुरूपं प्रचक्रमे चक्रधरप्रभावः॥ (16-54, 55)

ग्रीष्म में सरयू में मकरों के न होने का वर्णन है—इसका तात्पर्य है कि अन्य स्थितियों में नदी में मकर माने गए हैं।

पञ्चम अध्याय

काव्य में हरण - औचित्य तथा आवश्यकता

'हरण' प्रारम्भिक कवि की शिक्षा से सम्बद्ध विषय है, इसी कारण प्रारम्भिक कवि की शिक्षा के लिए रचित ग्रन्थों में इस विषय की व्यापक विवेचना है। प्रारम्भिक अवस्था के कवि में प्रतिभासम्पन्नता तथा व्युत्पन्नता की स्थिति हो तो भी उन्हें काव्य निर्माण का अभ्यास करने की आवश्यकता होती है । पूर्ण अभ्यस्त, पूर्ण परिपक्व महाकवि की श्रेष्ठता स्वीकार करने पर भी प्रारम्भिक अभ्यासी कवि की स्थिति सभी विद्वानों को स्वीकार है। अभ्यास सभी आचार्यो—भामह दण्डी वामन, रूद्रट, मम्मट आदि की दृष्टि में काव्य निर्माण का अनिवार्य हेतु है। अभ्यासी कवियों की स्थिति को तथा चित्र काव्य के अभ्यास द्वारा क्रमश. काव्य निर्माण की परिपक्वता प्राप्ति को आचार्य आनन्दवर्धन ने भी स्वीकार किया है।[1] अभ्यास की अनिवार्यता स्वीकृत हो जाने पर अभ्यास किस प्रकार किए जाएँ यह समस्या सामने आती है। इस समस्या के समाधान रूप में ही हरण विवेचन की महत्ता है। प्रारम्भ में दूसरों की काव्यरचनाओं को आधार बनाकर, दूसरों के शब्दों, अर्थो को लेकर काव्यनिर्माण का अभ्यास करना प्रारम्भिक कवि की अनिवार्य आवश्यकता है, और हरण का विषय भी यही है।

सामान्य क्षेत्र में हरण अनुचित है, किन्तु काव्य के क्षेत्र में उसका औचित्य है,क्योंकि यहाँ हरण काव्य हेतु अभ्यास का आधार तथा साधन है। इस कारण प्रारम्भिक कवियों की शिक्षा की दृष्टि से कवि शिक्षा विषयक ग्रन्थों में हरण विवेचन का महत्त्व है। पूर्व कवियों के किस प्रकार के शब्दों, अर्थों को किस प्रकार से ग्रहण करना उचित है तथा किस प्रकार से उनके ग्रहण का अनौचित्य हो जाता है प्रारम्भिक कवियों को यही शिक्षा देना राजशेखर के शब्द तथा अर्थहरण विवेचन का उद्देश्य है।

हरण की उसके औचित्य, अनौचित्य सहित शिक्षा देने वाले सर्वप्रथम आचार्य राजशेखर ही हैं तथा दूसरों के द्वारा प्रयुक्त शब्दों, अर्थों के अपने काव्य में प्रयोग की क्रिया को 'हरण' नाम देने वाले एकमात्र आचार्य भी यही हैं।[2] राजशेखर के अतिरिक्त किसी आचार्य ने इस क्रिया को हरण नाम नहीं

---

1. 'प्राथमिकानामभ्यासार्थिनां यदि परं चित्रेण व्यवहारः परिणतीनान्तु ध्वनिरेव काव्यमिति......'

(ध्वन्यालोक—तृतीय उद्योत)

2. 'परप्रयुक्तयोः शब्दार्थयोरूपनिबन्धो हरणम्' काव्यमीमांसा - (एकादश अध्याय)

दिया है, बल्कि सभी पश्चाद्वर्ती आचार्यों की दृष्टि में यह उपजीवन की क्रिया है।[1] 'हरण' क्रिया चोरी अर्थ के कारण अपने सामान्य रूप में सर्वथा गर्हित है। राजशेखर के पश्चाद्वर्ती आचार्य पूर्व कवि के शब्दों, अर्थों की पश्चाद्वर्ती कवि के काव्य में स्थिति को स्वीकार करते हुए भी उसे हरण नाम सम्भवत: हरण क्रिया की निन्दनीयता के कारण ही नहीं दे सके। उपजीवन (किसी अन्य को आधार बनाकर काव्य निर्माण करना) यह नाम राजशेखर द्वारा दिए गए हरण नाम से कहीं अच्छा है। किन्तु 'हरण' एवं उपजीवन में नाम की भिन्नता होने पर भी—दोनों नामों में निहित क्रिया एक ही है,-दूसरों से प्रभाव ग्रहण करते हुए काव्य रचना करने की। आचार्य राजशेखर द्वारा विवेचित हरण एवं पश्चाद्वर्ती आचार्यों द्वारा विवेचित उपजीवन दोनों एक ही विषय के पर्याय है यह उनके द्वारा विवेचित हरण तथा उपजीवन के अवान्तर प्रकारों से स्पष्ट है।

राजशेखर से पूर्ववर्ती आचार्य कवि के लिए पूर्व कवियों के प्रबन्धानुशीलन को तो आवश्यक मानते हैं, किन्तु उनके प्रबन्धों में से कुछ हरण करना उनकी दृष्टि में सम्भवत: सर्वथा अनुचित है और इसी कारण उनके लिए ऐसे विषय के उपदेश का भी अनौचित्य रहा होगा। किन्तु कवि शिक्षक आचार्य राजशेखर की दृष्टि में इस विषय का अनौचित्य नहीं है—और इसी दृष्टि से उन्होंने इस विषय का व्यापक उपदेश किया। साथ की कवि शिक्षा के सर्वप्रथम सुनियोजित विवेचक आचार्य राजशेखर ही हैं इस कारण भी पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों में इस विषय की विवेचना न होने की बात समझ में आती है। कवि का कहीं न कहीं किसी अन्य से प्रभावित होना स्वाभाविक है और प्रारम्भिक कवि के लिए तो यह स्वाभाविकता अनिवार्य विवशता तथा आवश्यकता बन जाती है। अत: कवि शिक्षक होने के कारण आचार्य राजशेखर के लिए किसी अन्य से कवि के प्रभावित होने की पूर्ण विवेचना भी अनिवार्य थी।

आचार्य राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' के शास्त्र संग्रह नामक प्रथम अध्याय में अपने ग्रन्थ के विषयों का निर्देश करते हुए 'शब्दार्थहरणोपाया:' कहा है। यहाँ 'उपाय' शब्द का कथन ही हरण के औचित्य की स्वीकृति का परिचायक है। उपाय सामान्यत: उचित सुसङ्गत विषय के ही बताए जा सकते

---

1. सतोऽप्यनिबन्धोऽसतोऽपि निबन्धो नियमछायाद्युपजीवनादयश्च शिक्षा:। 10।
छायाया: प्रतिबिम्बकल्पनया, आलेख्यप्रख्यतया, तुल्यदेहितुल्यतया, परपुरप्रवेशप्रतिमतया चोपजीवनम्।
[काव्यानुशासन (हेमचन्द्र) प्रथम अध्याय]

हैं। अत: हरण का व्यापक विवेचन ही सिद्ध करता है कि उसका अनौचित्य नहीं है—भले ही उसका औचित्य केवल प्रारम्भिक कवियों की दृष्टि से ही हो। यह और ही प्रसंग है कि काव्यक्षेत्र में हरण अपने सामान्य रूप में प्रारम्भिक कवियों की दृष्टि से अनुचित न होते हुए भी अपने विभिन्न विशिष्ट रूपों से भी युक्त है और इन विभिन्न विशिष्ट भेदों में से कुछ उचित परिलक्षित होते हैं और कुछ औचित्य की सीमा से हट जाने के कारण अनुपादेय स्वरूप वाले हैं। इस कारण हरण का उसके भेदोपभेदों सहित व्यापक विवेचन—इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखकर है कि कवि को इस बात का ज्ञान हो जाए कि यद्यपि हरण का काव्य क्षेत्र में अनौचित्य तो नहीं है किन्तु उसके अवान्तर भेद औचित्य, अनौचित्य दोनों से युक्त है। कुछ अवान्तर भेदों को अपनाना कवि के काव्य के लिए लाभकारी हो सकता है तो कुछ को अपनाना अनुचित। राजशेखर द्वारा हरण के परित्याज्य और अनुग्राह्य दो प्रकार के भेद इसी दृष्टि से किए गए हैं।[1] अनुग्राह्य भेदों की भी विवेचना हरण के औचित्य को, सिद्ध करती है। इस प्रकार हरण के औचित्य को, उसके अवान्तर भेदों के औचित्य, अनौचित्य को जानकर कवि प्रारम्भिक अवस्था में काव्यनिर्माण के अभ्यास की ओर अग्रसर हो सकते हैं।

राजशेखर के हरण विवेचन का मूल एवं हरण-विवेचक पश्चाद्वर्ती आचार्य :-

'काव्यमीमांसा' कवि-शिक्षा-विषयक सर्वप्रथम विस्तृत ग्रन्थ है और हरण विवेचन सबसे विस्तृत तथा सुनियोजित रूप में सर्वप्रथम आचार्य राजशेखर द्वारा ही प्रस्तुत किया गया है। आचार्य राजशेखर से बहुत पूर्व आचार्य वामन ने भी अयोनि और अन्यच्छाया-योनि अर्थ को स्वीकार किया है।[2] अन्यच्छायायोनि अर्थ का राजशेखर के हरण विवेचन से सम्बन्ध जोड़ते हुए आचार्य वामन से ही उपजीवन के विचार का प्रारम्भ माना जा सकता है, किन्तु वामन द्वारा किसी अन्य की छाया पर रचित काव्यार्थ का नाम मात्र से निर्देश किया गया है। कविशिक्षा से सम्बद्ध रूप में उपजीवन की व्यापक

---

1 'परप्रयुक्तयो: शब्दार्थयोरूपनिबन्धो हरणम्। तद्‌द्विधा परित्याज्यमनुग्राह्यं च' (एकादश अध्याय)
काव्यमीमांसा - (राजशेखर)

2 अर्थो द्विविधोऽयोनिरन्यच्छायायोनिश्च
अयोनि: अकारण: अवधानमात्रकारण इत्यर्थ:
अन्यस्य काव्यस्य छाया तद्योनि: (3/2/7) काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति (वामन)

विवेचना वहाँ नहीं है और न ही अन्यच्छायायोनि का प्रारम्भिक कवियों से ही वहाँ सम्बन्ध जोड़ा गया है। कवियों का काव्यार्थ पूर्णत: मौलिक तथा अन्यों से प्रभावित दो प्रकार के हो सकते हैं—एकमात्र यही वामन के विवेचन का तात्पर्य है। अत: पश्चाद्वर्णित हरणविवेचन के एक भेद का नामग्रहण वामन द्वारा भी किया गया है इस कारण उपजीवन का विचार सर्वथा नवीन न माना जाए तो भी कविशिक्षा से उसका सम्बन्ध राजशेखर ने ही जोड़ा है। राजशेखर द्वारा किया गया हरण का व्यापक विवेचन और काव्यनिर्माण से सम्बद्ध उसके महत्व का प्रतिपादन सर्वथा नवीन ही माना जाना चाहिए।

पूर्व कवि के शब्दों, अर्थों की अन्य पश्चाद्वर्ती कवियों के काव्यों में प्राप्ति—यह विषय ध्वन्यालोक में भी विवेचित है—इस कारण अपने हरण विवेचन का मूल आधार शब्दहरण तथा अर्थहरण दोनों के ही संदर्भ में आचार्य राजशेखर को आचार्य आनन्दवर्धन से प्राप्त हुआ ऐसा मानने की सम्भावना हो सकती है किन्तु साथ ही यह भी मान्य होना ही चाहिए कि आनन्दवर्धन दो रचनाओं के एक से होने को कवियों को बुद्धि साम्य कहते हैं, हरण नहीं।[1] शब्दहरण विवेचन के मूल की प्राप्ति की सम्भावना ध्वन्यालोक के इस विवेचन में हो सकती है कि काव्यार्थ का नवीन स्फुरण होना चाहिए—किसी पूर्व रचना से अक्षर, पद पाद आदि का साम्य हो जाना दोष नहीं है।[2] अर्थ मौलिकता अर्थात्—अर्थ की पूर्ववर्णित अर्थों से भिन्नता व्यङ्ग्यार्थ रूप में अथवा वाच्यार्थ होने पर देश, काल अवस्था अथवा स्वरूप आदि के भेद रूप में होनी चाहिए। अक्षर, पद, आदि किसी अन्य प्राचीन रचना से मिलते हों तो भी उन शब्दों की पुनरावृत्ति अनुचित नहीं है, क्योंकि सरस्वती के भण्डार में शब्दों की असंख्यता होने पर भी काव्य क्षेत्र में काव्यों की भी असंख्यता है और इस कारण प्रत्येक काव्यरचना नवीन शब्दों द्वारा ही निबद्ध की जाए ऐसी सम्भावना कम ही है और पूर्व प्रयुक्त शब्दों का काव्य में पुन: प्रयोग काव्य में मौलिकता का विरोधी भी नहीं है। ध्वन्यालोक में विवेचित प्रतिबिम्बकल्प, आलेख्य प्रख्य तथा तुल्यदेहितुल्य अर्थभेदों को अर्थहरण के इन्हीं भेदों से अभिन्न मानते हुए राजशेखर के

---

1. सम्वादास्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसाम्।
   नैकरूपतया सर्वे ते मन्तव्या विपश्चिता ॥ 11 ॥ — ध्वन्यालोक - चतुर्थ उद्योत
2. अक्षरादिरचनेव योज्यते यत्र वस्तुरचना पुरातनी नूतने स्फुरति काव्यवस्तुनि व्यक्तमेव खलु सा न दुष्यति ॥ 15 ॥
   ध्वन्यालोक - चतुर्थ उद्योत

अर्थहरण विवेचन का मूलाधार आनन्दवर्धन से प्राप्त मानने की भी सम्भावना हो सकती है—आनन्द वर्धन ने इन भेदों का अधिक व्यापक ही विवेचन किया है।[1] किन्तु साथ ही वह भी स्वीकरणीय है कि ध्वन्यालोक में इस विषय का विवेचन संदर्भ सर्वथा पृथक है, वहाँ ये भेद कवियों के बुद्धि सादृश्य से अर्थ में आने वाली समानता के भेद हैं :—यह केवल अर्थभेद हैं, अर्थहरण भेद नहीं। आचार्य राजशेखर ने ध्वन्यालोक में विवेचित इन्ही अर्थभेदों को हरणभेदों के रूप में स्वीकार किया है, इसलिए अपने नाम तथा स्वरूप से उसी रूप में ध्वन्यालोक में विवेचित होने पर भी 'काव्यमीमांसा' में विवेचित अर्थहरण भेदों को विषयभेद तथा संदर्भभेद के कारण राजशेखर की अपनी मौलिक उद्‌भावना के रूप में स्वीकृत किया जा सकता है।

पूर्वकवि द्वारा वर्णित शब्द अर्थ भी काव्यरूप में वर्णित किए जा सकते हैं—इस स्वीकृति से आनन्दवर्धन के भी विवेचन में उपजीवन के विचार की प्रतीति हो सकती है—किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है, उपजीवन विवेचन यहाँ नहीं है। कविशिक्षा विषयक उपजीवन से उनका तात्पर्य कदापि नहीं है, उनका उद्देश्य कवि को काव्यरचना की शिक्षा देना नहीं था, वे काव्यात्मा के स्वरूप विवेचक है और इसी संदर्भ में उनका यह विवेचन है कि प्रायः एक ही प्रकार के शब्द, अर्थ जो पूर्व कवियों द्वारा वर्णित किए जा चुके हैं बाद के कवियों के काव्यों में भी दिखाई देते हैं—किन्तु किसी न किसी रूप में कवि के वर्णन करने के अपने विशिष्ट ढंग से उन पुनः वर्णित शब्दों, अर्थों की नवीनता तथा मौलिकता भी आनन्दवर्धन को स्वीकार है। असंख्य काव्यों का अस्तित्व उन्हीं शब्दों का अनेक रचनाओं में आ जाने का कारण है और जहाँ तक अर्थ का सम्बन्ध है किसी भी अर्थ की पूर्ववर्णितता उसे पुराना और व्यर्थ सिद्ध नहीं करती, वह नवीन न होते हुए भी काव्यात्मा ध्वनि के संसर्ग से नवीन प्रतीत होता है। इस प्रकार पूर्व कवि के शब्दों, अर्थों का ही किसी अन्य कवि के काव्य में दिखलाई देना दोष नहीं है—आनन्दवर्धन के इस विचार को हरणविषयक विवेचन का आधार माना जा सकता है, क्योंकि दूसरों के शब्द अर्थ का ही अन्य कवि द्वारा ग्रहण हरण का भी विषय है—किन्तु विवेचन का संदर्भ पृथक् होने से यह मानना सम्भव नहीं है क्योंकि हरण का विषय ध्वन्यालोक में उठाया नहीं गया। इस प्रकार पूर्व

---

1. सम्वादो ह्यन्यसादृश्यं तत्पुनः प्रतिबिम्बवत्।
आलेख्याकारवत्तुल्यदेहिवच्च शरीरिणाम् ॥ 12 ॥
तत्र पूर्वमनन्यात्म तुच्छात्म तदनन्तरम्।
तृतीयं तु प्रसिद्धात्म नान्यसाम्यं त्यजेत्कविः ॥ 13 ॥ ध्वन्यालोक - चतुर्थ उद्योत

कवि के काव्य से शब्द, अर्थ के ग्रहण से सम्बद्ध हरण का मूल आनन्दवर्धन के विवेचन में प्राप्त नहीं है, बल्कि केवल पूर्वकवि के काव्य से समता रखने वाले शब्दों, अर्थों की अन्य कवि के काव्य में प्राप्ति रूप शब्दार्थ साम्य का मूल यहाँ से प्राप्त हो सकता है।

आचार्य हेमचन्द्र, वाग्भट्ट, क्षेमेन्द्र, भोजराज, विनयचन्द्र तथा पण्डितराज जगन्नाथ के ग्रन्थों में भी इस विषय का विवेचन उपस्थित तो हुआ, किन्तु आचार्य राजशेखर के बाद कविशिक्षा से सम्बद्ध इस विषय का इतना सुनियोजित तथा परिपूर्ण विवेचन प्रस्तुत न हो सका।

अनूतन शब्दों, अर्थों का उक्तिवैचित्र्य से नवीन रूप में उल्लेख वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक का विचित्र मार्ग है[1]—यदि नवीन शब्द, अर्थ से मनोहारी सुकुमार काव्यमार्ग सत्कवियों का मार्ग है तो अनूतनोल्लेख भी महाकवि की प्रतिभा के सम्पर्क से मनोहारी रूप में सहृदयों के समक्ष उपस्थित होते हैं। पूर्ववर्णित शब्दों, अर्थों के नवीन मौलिक रूप में वर्णन का कुन्तक का विचार आनन्दवर्धन के पूर्ववर्णित शब्दों, अर्थों के भी मौलिक रूप में प्रस्तुतीकरण के विचार से साम्य रखता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने उपजीवन के विवेचन में पूर्णरूप से आचार्य राजशेखर के विवेचन को आधार बनाया है तथा अर्थहरण में प्रतिबिम्बकल्प, आलेख्यप्रख्य, तुल्यदेहितुल्य, परपुरप्रवेशसदृश तथा शब्दहरण में पद, पाद तथा उक्त्युपजीवन को समाविष्ट किया है।

भोजराज ने काव्यपाठ का 'पठिति' रूप में विवेचन किया है किन्तु अन्य आचार्यों का पठिति से तात्पर्य उपजीवन से है—उनका यह कथन अपने सरस्वतीकण्ठाभरण ग्रन्थ में उपजीवन के विचार को भी स्थान देता है।[2] इस प्रकार भोजराज द्वारा पठिति का उल्लेख दो अर्थों में किया गया है—एक का सम्बन्ध काव्यपाठ से है-और द्वितीय का पूर्वरचना के पद, पादार्ध, भाषा आदि के थोड़े परिवर्तन सहित पाठ से। पठिति के इस द्वितीय रूप का सम्बन्ध शब्द हरण तथा अर्थहरण से है।

---

1. यदप्यनूतनोल्लेखं वस्तु यत्र तदप्यलम्
उक्तिवैचित्र्यमात्रेण काष्ठां कामपि नीयते । 38।
प्रथम उन्मेष
वक्रोक्तिजीवित (कुन्तक)

2. काकुस्वरपदच्छेदभेदाभिनयकान्तिभिः,
पाठो योऽर्थविशेषाय पठितिः सेह षड्विधा । 56।

अपरे पुनः पठितिमन्यथा कथयन्ति।
पदपादार्द्धभाषाणामन्यथाकरणेन यः पाठः पूर्वोक्तसूक्तस्य पठितिं तां प्रचक्षते । 57।
द्वितीय परिच्छेद
सरस्वती कण्ठाभरण (भोजराज)

आचार्य क्षेमेन्द्र की दृष्टि में उपजीवन का महत्व काव्य रचना के अभ्यास की दृष्टि से है और उपजीवन का सम्बन्ध केवल अभ्यासी कवि से। शिक्षार्थी कवि सर्वप्रथम छायोपजीवन द्वारा काव्यरचना का अभ्यास करता है। छायोपजीवन का अर्थ है दूसरे प्रसिद्ध कवियों के पद्यों के पद, पाद अथवा समस्त पद्य के अनुकरण में अपना पद्य बनाना। दूसरों की अपूर्ण रचनाओं को पूर्ण करते हुए, दूसरे के अभिप्राय को प्रकारान्तर से अपनी भाषा में व्यक्त करते हुए प्रारम्भिक कवि काव्यनिर्माण के अभ्यास में परिपक्वता प्राप्त कर सकते हैं।

आचार्य वाग्भट्ट को केवल शब्दोपजीवन ही स्वीकार है। समस्यापूर्ति द्वारा काव्यनिर्माण के अभ्यास का औचित्य है—किन्तु अर्थोपजीवन उनकी दृष्टि में कवि के स्तैन्य का सूचक है।[1] पण्डितराज जगन्नाथ किसी अर्थ की पूर्ववर्णितता अथवा अवर्णित पूर्वता के विभाजन को कवि का समाधिगुण मानते हैं।[2] आचार्य विश्वेश्वर की 'सहित्यमीमांसा' में हरण सम्भवतः उक्ति का भेद है—क्योंकि इस ग्रन्थ में वर्णित कवि की बीस वक्र उक्तियों में से दो छायोक्ति (अन्य उक्तियों की अनुकृति) तथा घटितोक्ति (विप्रकीर्ण अनेक उक्तियों का कवि नैपुण्य से एक स्थान पर संगठन) का सम्बन्ध हरण से ही प्रतीत होता है। कविशिक्षा नामक ग्रन्थ के रचयिता आचार्य विनय चन्द ने भी कवि के अभ्यास हेतु महाकवियों के काव्यार्थों का चर्वण तथा परसूक्तग्रहण महत्वपूर्ण माना है। अभ्यासी कवि का छायोपजीवी, पादोपजीवी तथा पदोपजीवी होना स्वीकार किया है।

---

1. परकाव्यग्रहोऽपि स्यात्समस्यायाम् गुणः कवेः
   अर्थं तदर्थानुगतं नवं हि रचयत्यसौ ।13।
   परार्थबन्धाद्यश्च स्यादभ्यासो वाच्यसङ्गतौ
   स न श्रेयान्यतोऽनेन कविर्भवति तस्करः ।12।   (वाग्भटालङ्कार - वाग्भट - प्रथम परिच्छेद)

2. अवर्णितपूर्वोऽयमर्थः पूर्ववर्णितच्छायो वेति कवेरालोचनं समाधिः।
   अयं वर्ण्यमानोऽर्थः केनापि पूर्वं न वर्णित इत्यवर्णितपूर्वोऽयोनिरित्यन्यत्र प्रसिद्धः अथवा पूर्वं केनापि वर्णितस्यैवार्थस्य छाया (सादृश्यम्) यस्मिंस्तादृशोऽन्यच्छायायोनिरिति प्रसिद्धोऽस्तीति कवेः कविकृतम् यदालोचनं विभावनं तत् समाधिः। तत्रावर्णितपूर्वत्वालोचनम् प्रथमः, पूर्ववर्णिवच्छायत्वालोचनन्तु द्वितीयः प्रकारः समाधेरिति सारम्।

   (प्रथमानन) (पृष्ठ 227)

   (रसगङ्गाधर - पण्डितराज जगन्नाथ)

हरण के औचित्य के सम्बन्ध में राजशेखर का अवन्ति सुन्दरी के मत से विरोध :-

अवन्तिसुन्दरी के मत से हरण की निर्दोषता कुछ विलक्षण ही कारणों से है। पूर्व कवि की अप्रसिद्धि, प्रतिष्ठाराहित्य, उसके काव्य का प्रचलित न होना, काव्यरचना की कटुता, असम्मानित भाषा का कवित्व आदि कुछ ऐसे तत्व हैं जिनके कारण यदि पूर्व कवि के काव्य को पश्चाद्वर्ती कवि अपनाएं तो दोष नहीं होगा।[1] इस प्रकार किसी पूर्व कवि के काव्य को ज्यों का त्यों अपनाकर स्वरचित काव्य के रूप में उसका प्रचार भी कवि के लिए दोष नहीं है सम्भवत: यही अवन्तिसुन्दरी का विचार है, किन्तु हरण के औचित्य को स्वीकार करने पर भी उसकी अवन्तिसुन्दरी द्वारा मान्य निर्दोषता आचार्य राजशेखर को स्वीकार नहीं है।[2] हरण या उपजीवन अभ्यास के साधन हैं चोरी नहीं, किन्तु किसी कवि की अप्रसिद्धि आदि कारणों से उसके काव्य को ज्यों का त्यों अपनाना चोरी और इसी कारण दोष भी है। इसी प्रकार मूल्य देकर किसी की रचना को खरीदना और स्वरचित रूप में उसका प्रचार भी दोषपूर्ण है।

दूसरों के शब्दों, अर्थों को केवल अभ्यास के ही लिए परिपूर्ण रूप में नहीं, किन्तु केवल अंश रूप में अपनी प्रतिभा द्वारा संस्कृत करते हुए ग्रहण करने का औचित्य है। दूसरों के शब्दों आदि को लेकर पूर्व कवि के नाम आदि का निगूहन बाणभट्ट की दृष्टि में हेय है।[3] अबचिन्तसुन्दरी के विचार का विरोध करके राजशेखर बाणभट्ट से विचार साम्य रखते प्रतीत होते हैं। कवि के यत्र तत्र चौरकर्म को राजशेखर स्वीकार करते हैं किन्तु जैसी चोरी बाणभट्ट आदि को अस्वीकार है उसके प्रति उनकी भी अस्वीकृति है। यदि किसी की पूर्ण रचना का हरण दोष है तो उसी प्रकार किसी रचना की उक्तियों को अंश रूप में अपनाना भी अनुचित ही होगा, इस समस्या के समाधान में राजशेखर का उक्तियों के अर्थान्तर-संक्रमण का विचार सामने आता है। कवि के चौरकर्म को स्वीकार करते हुए भी वह उसके

---

1. ''अयमप्रसिद्ध: प्रसिद्धिमानहम्, अयमप्रतिष्ठ: प्रतिष्ठावानहम्, अप्रक्रान्तमिदमस्य संविधानकं प्रक्रान्तं मम, गुडूचीवचनोऽयं मृद्वीकावचनोऽहम्, अनादृभाषाविशेषोऽयमहमादृतभाषाविशेष:----------इत्यादिभि: कारणै: शब्दहरणेऽर्थहरणे चाभिरमेत'' इति अवन्तिसुन्दरी
काव्यमीमांसा - (एकादश अध्याय)
2. 'न' इति यायावरीय:। उल्लेखवान्पदसन्दर्भ: परिहरणीयो नाप्रत्यभिज्ञायात: पादोऽपि। तस्यापि साम्ये न किञ्चन दुष्टं स्यात्।
काव्यमीमांसा - (एकादश अध्याय)
3. अन्यवर्णपरावृत्या बन्धचिह्ननिगूहनै: अनाख्यात: सतां मध्ये कविश्चौरो विभाव्यते । 7।
हर्षचरित (बाणभट्ट) प्रथम उच्छ्वास

निगूहन के पक्षपाती हैं, किन्तु पूर्व कवि की अप्रसिद्धि आदि कारणों से उसके नाम आदि के निगूहन का उनकी दृष्टि में औचित्य नहीं है। चोरी को स्वीकार करते हुए चोरी के निगूहन को भी राजशेखर स्वीकार तो करते हैं, किन्तु यह चोरी को छिपाने का विचार उनका अपना अपूर्व एवं औरों से विलक्षण प्रकार का है। किसी पूर्व रचना से ग्रहण किए गए शब्दों, अर्थों की बाद की रचना में भी उपस्थिति को काव्यपारखी सहृदयों की दृष्टि से छिपा सकना कवि के लिए सम्भव नहीं है। फिर चोरी को छिपाया कैसे जाए? इसका यही उत्तर है कि दूसरों के शब्दों, अर्थों को भी प्रतिभा से संस्कार करते हुए इस प्रकार प्रस्तुत किया जाए कि सहृदय को कवि की प्रतिभा ही विशेष रूप से परिलक्षित हो। दूसरों के शब्दों, अर्थों की उपस्थिति का भान होने पर भी सहृदय कवि की प्रतिभा से ही विशेष प्रभावित हों, केवल इस बात का ही औचित्य है। जहाँ तक दूसरों की हरण की गई उक्तियों के आच्छादन का प्रश्न है, किसी पूर्व कवि की केवल उन्हीं उक्तियों के हरण का निगूहन सम्भव है जिनका दूसरे अर्थ में परिवर्तन करते हुए अपने काव्य में ग्रहण किया गया हो। हरण किए जाने पर भी जिन उक्तियों में हरणकर्ता कवि ने अपनी प्रतिभा से कोई वैशिष्ट्य निहित किया हो, वे स्वयं ही छिप जाती है। उनकी रचना में कवि का अपना प्रयत्न भी समाहित है इस कारण न तो उनकी केवल हरण रूप में स्वीकृति होती है और न उनके हरण के आच्छादन की विशेष आवश्यकता। इतने अधिक शब्दों, अर्थों का अपने काव्य में सन्निवेश करने वाले कवि को अपनी रचना के लिए कुछ कहीं और से लेना पड़ सकता है, किन्तु उसको अपने पूर्व रूप से भिन्न रूप में प्रस्तुत करना-अर्थ की दृष्टि से या वचन की दृष्टि से-यही कवि के लिए श्रेयस्कर है और आचार्य राजशेखर का औरों से विलक्षण निगूहन का विचार भी यही है। राजशेखर की केवल उस चोरी के लिए स्वीकृति है जिसमें शब्द, अर्थ अपने पूर्व रूप की अपेक्षा परिवर्तित रूप में सामने आएँ तथा तीव्रदृष्टि सहृदयों को भी अपने सर्वथा नवीन, किञ्चित् हृदयहारिता सम्पन्न रूप में ही परिलक्षित हों। कवि का सीधा सम्बन्ध उसी शब्दार्थ से है जिसे उसकी प्रतिभा नवीन रूप में प्रस्फुटित करे किन्तु यदि प्राचीन शब्द, अर्थ के उल्लेख का कार्य कवि करता है तो उसका प्रतिभा द्वारा संस्कार करते हुए नवीन रूप में प्रस्तुतीकरण आवश्यक है। किन्हीं पूर्वकर्ता के शब्दार्थों को उनके पूर्व रूप में ही उनके कर्ता का नाम आदि छिपाते हुए प्रस्तुत करना कवि को चोर की श्रेणी में ला खड़ा करते हैं, ऐसे ही निगूहन के राजशेखर विरोधी है। संस्कार सहित निगूहन उन्हें मान्य है क्योंकि पूर्ववस्तु का नवीन रूप में प्रस्तुतीकरण कवि की महत्ता के परिचायक हैं।

शब्दहरण के प्रकार तथा उनकी उपादेयता :-

किसी पूर्व कवि के रचनांश को ग्रहण करते हुए अर्थात् उसके शब्दों को ही कुछ अंशों में अपनाते हुए जब कवि अपनी काव्यरचना करते हैं तो शब्दों को अपनाने से ही सम्बद्ध होने के कारण ऐसे हरण स्थल शब्दहरण के स्थल कहलाते हैं।[1] शब्दहरण के विभिन्न प्रकारों का तथा उनके स्वीकरणीय तथा अस्वीकरणीय होने का आचार्य राजशेखर ने ही केवल विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। कवि शिक्षा से सम्बद्ध ग्रन्थ रचना के कारण ही ऐसा सम्भव हो सका। राजशेखर के पश्चाद्वर्ती कविशिक्षा से सम्बद्ध आचार्यों ने हरण का उल्लेख पूर्णरूप से नहीं किया है, जिन्होंने शब्दहरण का विषय अपनी रचनाओं में ग्रहण भी किया है, उन्होंने भी केवल पूर्वकाव्य रचनाओं में प्राप्त विभिन्न प्रकार के शब्दहरणों का उल्लेख मात्र कर दिया है। किस प्रकार का शब्दहरण उचित है और किस प्रकार का अनुचित इसका विवेचन उन्होंने नहीं किया है। सम्भवत: आचार्य राजशेखर द्वारा किए गए शब्दहरण के व्यापक तथा परिपूर्ण विवेचन ने ही बाद के आचार्यों को पिष्टपेषण के भय से ही इस विषय के व्यापक विवेचन की आवश्यकता का अनुभव नहीं होने दिया। वैसे शब्दहरण को हेमचन्द्र, वाग्भट्ट भोजराज, क्षेमेन्द्र तथा विनयचन्द्र सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। इन सभी आचार्यों ने दूसरों के पदग्रहण, पादग्रहण, उक्तिग्रहण तथा समस्यापूर्ति को शब्द हरण के अन्तर्गत स्वीकार किया है। भोजराज तथा वाग्भट्ट एक, दो से तीन तक पादों का हरण स्वीकार करते हैं। भोजराज तो केवल पदैकदेश का परिवर्तन करते हुए सम्पूर्ण पद्य के हरण को ही स्वीकार करते हैं। आचार्य क्षेमेन्द्र भी पद तथा पाद के हरण के साथ ही समस्त पद्य का अनुकरण करते हुए भी कवि का रचना कार्य में प्रवेश होना स्वीकार करते हैं। 'साहित्यमीमांसा' नामक ग्रन्थ में भी दूसरों की उक्तियों का अनुकरण 'छायोक्ति' नामक कवियों की वक्र उक्ति के रूप में स्वीकृत है।

शब्दहरण प्रत्येक अवस्था में स्वीकार्य तथा त्याज्य दो प्रकार के हो सकते हैं। प्रारम्भिक शिक्षार्थी कवियों को दूसरों के शब्दों का ग्रहण उनके हेयरूप तथा उपादेय रूप को ध्यान में रखते हुए ही करना चाहिए। 'काव्यमीमांसा' में दूसरों के शब्दहरण के दो रूप सामने आते हैं। वे हरण जो केवल

---

1 तयो:शब्दहरणमेव तावत्पञ्चधा, पदत:, पादत:, अर्द्धत:, वृत्तत: प्रबन्धतश्च। काव्यमीमांसा – (एकादश अध्याय)

हरण रूप में ही स्वीकार किए गए हैं तथा वे हरण जो हरण रूप होते हुए भी कवित्व रूप में ही स्वीकार किए गए हैं। यद्यपि कुछ आचार्यों ने कुछ प्रकारों को दूसरे का अंश मानकर ग्रहण रूप स्वीकरण कहा है किन्तु आचार्य राजशेखर की दृष्टि में वे भी हरण ही हैं।[1] शब्द हरण के वे प्रकार जिन्हें आचार्य ने केवल हरण कहा है वे सम्भवत: उनकी दृष्टि में अधिक उपादेय नहीं हैं, उनका प्राय: अनौचित्य भी नहीं है, किन्तु केवल सामान्य से शब्दों के रूप में बिना किसी विशेष अभिप्राय के कहीं से साधारण रूप से ग्रहण कर लेने तक ही उन शब्द हरणों का औचित्य सीमित है। शब्दहरणों की अधिक उपादेयता तथा औचित्य केवल उन्हीं स्थलों पर है जहाँ वे कवि की शक्ति को सिद्ध करते हैं तथा हरण करने वाले कवि की प्रतिभा के अपने प्रकर्ष से सम्बद्ध होकर ग्रहण किए गए हैं। जो शब्द कहीं से लिए जाने पर भी हरणकर्ता कवि की काव्यशक्ति का संकेत देते हैं वे ही हरण रूप से ग्राह्य हैं। दूसरे कवि के शब्द ग्रहण करने पर भी उनका प्रतिभा द्वारा दूसरे ही रूप में दूसरे ही प्रकार से प्रयोग हरणकर्ता कवि का कवित्व प्रकट करता है। ऐसे शब्दहरण औचित्यपूर्ण भी हैं और इस कारण सर्वथा ग्राह्य भी।

दो कवियों के काव्यों में एक पद का साम्य विशेष ध्यान आकृष्ट नहीं करता। अत: किसी पूर्व कवि के काव्य से उसका एक पद ले लेना कवि के लिए दोष नहीं है क्योंकि किसी पूर्व कवि की रचना से एक पद अपनी काव्यरचना के लिए ग्रहण करना किसी कवि की पूर्वकवि पर पूर्ण निर्भरता का सूचक तो नहीं है। शब्द भण्डार के विपुल होने पर भी कवियों तथा उनकी काव्यरचनाओं के भी असंख्य होने के कारण एक कवि द्वारा प्रयुक्त पदों का दूसरा कवि प्रयोग ही न करे यह नियम नहीं बनाया जा सकता। जहाँ किसी कवि के एक पद को लेकर कवि अपनी विशिष्ट काव्यरचना प्रस्तुत कर सकते हैं, वहाँ किसी अन्य कवि के पद का ग्रहण औचित्यपूर्ण है किन्तु इसका औचित्य केवल वहीं तक सीमित है जहाँ तक किसी कवि के पद अन्य कवि की रचना में केवल सामान्य एकार्थक शब्द के रूप में प्रयुक्त हों। यदि पूर्व कवि के काव्य में कोई द्व्यर्थक पद प्रयुक्त है तो उसका बाद में आने वाला कवि अपनी काव्य रचना में प्रयोग नहीं कर सकता ऐसा आचार्य राजशेखर का विचार है।[2] पूर्व कवि द्वारा अपनी

---

1. 'पाद एवान्यथात्वकरणकारणं न हरणम् अपि तु स्वीकरणम्' इति आचार्या:।
   तदिदं स्वीकरणापरनामधेयं हरणमेव। काव्यमीमांसा - (एकादश अध्याय)
2. 'तत्रैकपदहरणं न दोषाय' इति आचार्या: 'अन्यत्र द्व्यर्थपदात्' इति यायावरीय:। काव्यमीमांसा - (एकादश अध्याय)

प्रतिभा के प्रकर्ष से उद्भावित तथा किसी स्थान पर नियोजित किसी द्व्यर्थक पद को स्वयं बिना कोई विशेष प्रयत्न किए ही इसी प्रकार द्व्यर्थक रूप में ग्रहण करने वाला कवि प्रतिभाशाली पूर्व कवि तथा उसकी प्रतिभा के साथ अन्याय करता है। इसके अतिरिक्त द्व्यर्थक पद का हरणकर्ता कवि निन्दा का भी पात्र है। काव्यरचना में प्रयुक्त द्व्यर्थक पद पूर्वकवि द्वारा काव्य में सन्निविष्ट किए गए चमत्कार का सूचक है। पूर्वकवि द्वारा उद्भावित चमत्कार को ही अपना लेने पर काव्य में नवीन चमत्कार का उद्भव कहाँ होगा? पदहरण किया जा सकता है और उसकी निर्दोषता अन्य आचार्यों के समान आचार्य राजशेखर की दृष्टि में भी संभव है, किन्तु उसको ग्रहण करके काव्य निर्माण करने में भी पूर्ण रूप से कवि का अपना प्रयत्न होना चाहिए जो कि द्व्यर्थक पद को ग्रहण करने में सम्भव नहीं है। जहाँ द्व्यर्थक पद प्रयुक्त हो वहाँ विशेष चमत्कार उनके श्लिष्टरूप में ही होता है और पूर्व कवि के काव्य के चमत्कार स्थल को ही अपनाने का औचित्य नहीं है। दूसरे का शब्द लेने पर भी काव्य में चमत्कार का सन्निवेश कवि का अपना होना चाहिए। दूसरों की रचना के अर्थ या भाव का ग्रहण करने पर उस अर्थ के साथ ही दूसरे की रचना के शब्द भी काव्य में आ ही जाएं यह कोई आवश्यक नहीं है, क्योंकि एक ही अर्थ भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा प्रकट किया जा सकता है। किन्तु किसी के शब्द का ग्रहण करने पर उसके साथ ही शब्द, अर्थ का परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध होने से शब्द के साथ उनके अर्थ भी स्वयं उपस्थित हो जाएंगे, अत: द्व्यर्थक पद को अपनाने पर पद अपने सामान्य पद रूप में उपस्थित न होकर अपने द्व्यर्थक पद रूप में ही अर्थात् दोनों अर्थों के सहित ही उपस्थित होगा तथा किसी दो अर्थ वाले शब्द को पूर्व कवि ने अवश्य ही दो विभिन्न तथा विशिष्ट विषयों को दृष्टि में रखते हुए प्रस्तुत किया होगा। ऐसी स्थिति में उसे अपनाने का औचित्य हो भी कैसे सकता है? शब्दालंकार, श्लेष, यमक आदि शब्द के चमत्कार से ही सम्बन्ध रखते हैं। कवि के काव्य के चमत्कार युक्त स्थलों को अपनाना दोष होने के कारण श्लेष, यमक आदि अलङ्कारों से सम्बद्ध शब्दों को किसी और के काव्य से ग्रहण नहीं करना चाहिए। जहाँ अर्थ श्लिष्टता हो ऐसे पद को, पाद को, अथवा पदैकदेश को भी अपनाना दोष है। श्लेषयुक्त किसी एक पद का प्रश्नोत्तर रूप में हरण, श्लेषयुक्त पूरे पाद का ही यमक के रूप में हरण, तथा यमकयुक्त पाद का यमक रूप में ही हरण-सभी अनुचित हैं। शब्दालंकारों का जहाँ श्लेष अथवा यमक रूप में चमत्कार हो ऐसे एक पद, कई पद या पूरे पाद को भी अन्य कवि के काव्य से ग्रहण नहीं

करना चाहिए। केवल पद का ही हरण उचित है अथवा केवल पाद का ही हरण उचित है इस प्रकार का कोई नियम-नियन्त्रण शब्दहरण के सम्बन्ध में नहीं किया जा सकता। जिन शब्दों में पूर्व कवि ने चमत्कार सन्निहित न किया हो उन शब्दों को अपनाया जा सकता है, केवल एक पद या कई पदों के रूप में नहीं, बल्कि पूरे पाद के रूप में भी।

कुछ आचार्यों का विचार श्लेषरहित तीन तक पदों का कहीं और से ग्रहण उचित होने से सम्बद्ध है। किन्तु आचार्य राजशेखर शब्दहरण में पदों की संख्या का महत्त्व नहीं मानते। पदों के हरण का औचित्य, अनौचित्य उनकी संख्या पर नहीं, किन्तु पूर्व कवि के काव्य में उनकी अपनी सामान्य तथा विशिष्ट स्थिति पर निर्भर करता है। इस बात पर निर्भर करता है कि उनमें पूर्व कवि की प्रतिभा का कितना व्यय हुआ है? केवल पद ही नहीं, पाद का भी अन्य कवि के काव्य से साम्य होना दोष नहीं है। वे स्वीकरणीय हो सकते हैं, किन्तु केवल उसी स्थिति में जब वे किसी पूर्व कवि के काव्य के केवल सामान्य पद हों। उनका किसी विशिष्ट उल्लेखनीय अर्थ से सम्बद्ध न होना, पूर्व कवि द्वारा विशेष प्रतिभा प्रकर्ष से निबद्ध न होना, साथ ही ज्ञात होना अर्थात् किसी प्रसिद्ध कवि के काव्य से सम्बद्ध होना ही उन्हें किसी परवर्ती कवि के काव्य में स्वीकरणीय बना सकते हैं 'उल्लेखवान् पदसन्दर्भः परिहरणीयो ना प्रत्यभिज्ञायातः पादोऽपि' काव्यमीमांसा में मुद्रित इस वाक्य के पाठ में 'अप्रत्यभिज्ञायात:' शब्द ही प्रतीत होता है जिसका यह तात्पर्य हो जाता है कि जिसका कर्ता तथा उद्भव स्थान पहचाना न जा सके उसी पद या पद का हरण उचित है। तब ऐसी स्थिति में तो ऐसे किसी भी पद या पद का ग्रहण किया जा सकेगा जो पहचाना न जा सके फिर चाहे वह उल्लेखनीय ही क्यों न हो। किसी कवि के अप्रसिद्ध होने आदि कारणों से भी उसके काव्य को अपनाना सम्भव हो जाएगा जिसके आचार्य राजशेखर स्वयं विरोधी हैं। इसलिए 'अप्रत्यभिज्ञायात:' के स्थान पर सम्भवत: 'प्रत्यभिज्ञायात:' पाठ ही उचित है। वाक्य के अन्त में प्रयुक्त 'भी' स्वीकृति के अर्थ में ही प्रयुक्त प्रतीत होता है, निषेध अर्थ में नहीं। इसलिए 'उल्लेखनीय पदसन्दर्भ भी हरणयोग्य नहीं है, किन्तु जिसे पहचाना जा सके ऐसा पाठ भी हरण योग्य है, वाक्य विन्यास के औचित्य पर तथा आचार्य के तात्पर्य पर ध्यान देने से यही अर्थ उचित प्रतीत होता है। अत: 'अप्रत्यभिज्ञायात:' शब्द को मुद्रण की भूल मानकर 'प्रत्यभिज्ञायात:' शब्द ही यहाँ स्वीकार किया जा सकता है।

दूसरे के काव्य के पदग्रहण को हेमचन्द्र, वाग्भट्ट, क्षेमेन्द्र तथा विनयचन्द्र ने भी स्वीकार किया हैं, किन्तु आचार्य राजशेखर शब्दहरण को पद या पाद किसी भी रूप में कवि की प्रतिभा पर ही निर्भर मानते हैं। कवि किसी अन्य के काव्य से शब्द ग्रहण करे तो भी उसके काव्य में उसकी अपनी प्रतिभा का वैशिष्ट्य होना ही चाहिए क्योंकि काव्यनिर्माण प्रतिभा के उन्मेष का ही स्वरूप है। सच्चे अर्थों में कवि कहलाने के लिए कवि को अपनी प्रतिभा पर निर्भर रहना चाहिए, किसी अन्य की प्रतिभा पर नहीं। दूसरों की प्रतिभा द्वारा रचित काव्यों पर अपने काव्य निर्माण के लिए निर्भर रहना काव्यनिर्माण के प्रयोजन कीर्तिप्राप्ति में बाधक है।

कुछ आचार्य शब्दहरण के जिन प्रकारों को हरण न कहकर स्वीकरण कहते हैं, वे भी आचार्य राजशेखर की दृष्टि में हरण ही हैं। केवल उनका नाम ही परिवर्तित कर दिया गया है। पूर्व कवि के श्लोक के किसी एक पाद को उस कवि द्वारा कही गई बात की विपरीत बात के कारण के रूप में ग्रहण करना और इस प्रकार एक पाद पूर्व कवि का ग्रहण करके तीन पादों की रचना करना तथा किसी कवि के श्लोक के केवल एक पाद का परिवर्तन करके तीन पादों को उसी प्रकार ग्रहण करना–हरण के इन दोनों रूपों को आचार्यों ने हरण न कहकर स्वीकरण अर्थात् पूर्व कवि की कही गई बात को स्वीकार करना माना है। किन्तु आचार्य राजशेखर की दृष्टि में यह परिवर्तित नाम वाले केवल हरण ही हैं। यह राजशेखर को सम्भवत: अधिक स्वीकार्य भी नहीं हैं, क्योंकि शब्दहरण के जो रूप उन्हें अधिक स्वीकार्य हैं, उनको वे कवित्व कहते हैं। इसी प्रकार आधे पद्य का हरण तथा आधे पद्य का अस्तव्यस्त रूप में हरण भी उनकी दृष्टि में हरण ही है, स्वीकरण नहीं।

हेमचन्द्र, वाग्भट्ट, भोज, क्षेमेन्द्र तथा विनयचन्द्र आदि सभी आचार्य पादहरण को स्वीकार करते हैं। वाग्भट्ट तथा भोज तो एक से तीन पादों तक को स्वीकरणीय मानते हैं, किन्तु आचार्य राजशेखर की दृष्टि में तीन पादों का हरण पूरे पद्य के ही हरण के समान है। आचार्य राजशेखर पादों के भी हरण को स्वीकार करते हैं, यदि वे केवल सामान्य से पाद हों। यदि उन्हीं में विशिष्टता का समावेश हो तब नहीं, फिर भी पाद का हरण कोई कवित्व न होकर हरण ही है।

कभी-कभी शब्द दूसरों से लिए जाने पर भी कवि द्वारा अपने ही ढंग से प्रस्तुत किए जाने के कारण कवि द्वारा किए गए हरण को न प्रकट करके उसके कवित्व को ही प्रकट करते हैं। कवित्व का

तात्पर्य है कवि में काव्य निर्माण सम्बन्धी गुण होना। शब्दहरण की स्थिति में ऐसे कवित्व की उपस्थिति के स्थल राजशेखर की दृष्टि में गिने चुने ही है। कवि तथा व्यापारी कहीं न कहीं से कुछ ग्रहण करते हैं, किन्तु इस बात को छिपाने वाले प्रसन्न रहते हैं।[1] पद्य के तीन पादों का हरण राजशेखर को उसी स्थल पर स्वीकार है जहाँ हरण किए गए तीनों पाद किसी एक ही रचना से न ग्रहण करके भिन्न भिन्न रचनाओं से तथा भिन्न-भिन्न स्थानों से ग्रहण किए गए हों। भिन्न-भिन्न श्लोकों के भिन्नार्थक पादों को लेकर उन्हें स्वरचित एक पाद से मिलाकर एक विशेष अर्थ प्रकट करने वाला श्लोक बनाना कवि की प्रतिभा की उद्‌भावना होने से कवित्व का स्थल है और इसी कारण हरण होने पर भी हरण या स्वीकरण नहीं, किन्तु कवित्व मात्र है।

यदि कवि द्वारा किए गए कुछ पदों का ही प्रयोग किसी पूर्व कवि के श्लोकार्थ को परिवर्तित करके कुछ विशेष अर्थ निकालने में सफल हो जाए तो वह भी कवि की प्रतिभा के चमत्कार का प्रदर्शक होने से कवि का कवित्व ही कहा जा सकता है।

किसी रचना के किसी पद के केवल एक भाग में परिवर्तन करके भी पूर्व रचना के अर्थ से भिन्न कोई विशेष अर्थ निकाल सकना पश्चात् कवि का कवित्व ही है, क्योंकि किसी पद के केवल एक भाग में परिवर्तन से रचना के अर्थ को ही कुछ परिवर्तित कर देना कवि की विशेष बुद्धिमत्ता का परिचायक है। पद के एक देश में परिवर्तन को आचार्य ने हरण तथा स्वीकरण दोनों से भिन्न कहा है। इन दोनों से भिन्न शब्दहरण का तृतीय रूप उनकी दृष्टि में कवित्व है। अतः पद के एकदेश का हरण भी सम्भवतः उनकी दृष्टि में कवित्व ही है। भोजराज भी पद की प्रकृति तथा विभक्ति के परिवर्तन रूप में पदैकदेश ग्रहण को स्वीकार करते हैं।

---

1 ''नास्त्यचौरः कविजनो नास्त्यचौरो वणिग्जनः।
स नन्दति विना वाच्यं यो जानाति निगूहितम्॥''

''शब्दार्थोक्तिषु यः पश्येदिह किञ्चन नूतनम्।
उल्लिखेत्किञ्चन प्राच्यं मान्यतां स महाकविः॥''

किसी श्लोक के सम्पूर्ण वाक्यों का ग्रहण करके भी उनका किसी विशेष प्रकार से भिन्न रूप में व्याख्यान करना भी स्वीकरण या हरण नहीं है। ऐसी स्थिति में किसी के शब्दों के ग्रहण का यह रूप भी सम्भवतः कवित्व का ही स्थल है। आचार्य राजशेखर ने शब्दग्रहण के पदैकदेश ग्रहण रूप के तथा श्लोक के अन्यथा व्याख्यान रूप के हरण अथवा स्वीकरण रूप होने का निषेध किया है। ऐसी स्थिति में इनके दो पक्ष हो सकते हैं या तो ये हरण अथवा स्वीकरण कुछ भी न होने से स्वीकार्य ही नहीं हैं अथवा फिर हरण भी न हो और स्वीकरण रूप भी न हों तो पूर्णतः औचित्यपूर्ण तथा कवि के कवित्व को प्रकट करने वाले कवित्व रूप हो सकते हैं। इन दो रूपों के दो विकल्प हो सकते हैं इनका औचित्य अथवा इनका अनौचित्य। किन्तु हरण के प्रसंग में हरण से सम्बद्ध कवित्व के स्थलों के विवेचन के साथ ही इनका भी विवेचन होने से इनको तृतीय विकल्प अर्थात् शब्दहरण के कवित्व रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है और किञ्चित् ही परिवर्तन के द्वारा ही सही हरण के ये प्रकार भी पूर्व रचना के रूप को तो परिवर्तित कर ही देते हैं। इसी कारण ये कवि के कवित्व के परिचायक हो सकते हैं और यदि ये कवित्व के स्थल हैं तो स्वीकार्य भी हैं।

इस प्रकार किसी के भी शब्दों को लेकर उन्हें अपने ढंग से प्रस्तुत कर सकने के कवित्व रूप वाले स्थल निम्न हैं—

भिन्न अर्थों वाले पादों को अन्य स्थानों से लेकर एक पाद की स्वयं रचना करके उनमें उन पादों को मिलाना, केवल कुछ पदों के परिवर्तन से या केवल एक पद के एक अंश के परिवर्तन से कोई विशेष अर्थ निकालना अथवा रचना के सभी वाक्यों का किसी प्रकार भिन्न रूप में व्याख्यान करना।

इस प्रकार ऐसा शब्दहरण जहाँ हरण करने वाले कवि की अपनी प्रतिभा का चमत्कार समाविष्ट हो, तथा पूर्व कवि की प्रतिभा का विशेष प्रकर्ष उन हरण किए गए स्थलों में न दिखाई देता हो ऐसे पद, पाद तथा अनेक पादों को भी दूसरों से अपनाया जा सकता है और ऐसी स्थिति में उन्हें हरण या स्वीकरण कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं होती। परवर्ती कवि की प्रतिभा के प्रभाव से हरण किए गए स्थलों का भी विशेष महत्व हो जाता है और वे नवीन से प्रतीत होते हैं। राजशेखर की दृष्टि में शब्दहरण केवल वहीं स्वीकृत है जहाँ न तो उसे हरण कहने की आवश्यकता हो न तो स्वीकरण, किन्तु उनकी कुछ अपनी विशिष्ट ही नवीनता हो, अथवा जिन स्थलों पर उनमें नवीनता न हो वहाँ भी वे

केवल सामान्य शब्दों के रूप में ही ग्रहण किए गए हों, पूर्व कवि की प्रतिभा से उद्भावित चमत्कार सहित नहीं। यदि हरण किए गए शब्द होने पर भी पूर्व रचना से अलग ही कोई विशिष्ट अर्थ, विशिष्ट चमत्कार दृष्टिगत हो तो ऐसा कवि प्रशंसा का पात्र है, चोर कहलाने योग्य नहीं। अन्यथा स्थिति में हरणकर्ता कवि निन्दनीय है।[1]

अर्थहरण विवेचन :-

काव्यनिर्माण में परप्रबन्धानुशीलन की अपेक्षा:-

सभी कवि प्रारम्भ से ही महाकवि नहीं होते। प्रतिभासम्पन्न होने पर भी उनकी प्रारम्भिक अवस्था काव्याभ्यास की अवस्था होती है। यह सभी को स्वीकार है। राजशेखर से पूर्व आचार्य आनन्दवर्धन महाकवियों से सम्बद्ध ध्वनि रूप अर्थ के विवेचक ग्रन्थ के निर्माता होकर भी अभ्यासी कवियों की स्थिति को स्वीकार करते हैं। कवि को काव्यरचना करने से पूर्व व्युत्पन्न तथा बहुश्रुत होने के लिए वेदों, शास्त्रों, इतिहास, पुराणादि के ज्ञान की आवश्यकता होती है। आचार्य राजशेखर की दृष्टि में वेदों, शास्त्रों आदि के अर्थों को लेकर काव्यनिर्माण का अभ्यास करना भी कवित्व को जागरूक करने का एक उपाय है। वेदों, शास्त्रों तथा विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन की आवश्यकता तो कवि को काव्य के अर्थ प्राप्त करने के लिए होती है। दूसरे कवियों के प्रबन्धानुशीलन की आवश्यकता भी क्या इसीलिए होती है? किन्तु ऐसा मानने का तात्पर्य है कि पूर्ववर्णित अर्थ ही काव्य में वर्णित होते हैं।

सभी आचार्य यह स्वीकार करते हैं कि जिस कवि के पास प्रतिभा अथवा शक्ति होती है, उसके मानस में अनेक प्रकार के अर्थों का स्वत: उद्भास होता रहता है। नवीन अर्थ की उद्भाविका रूप में प्रतिभा की स्वीकृति सर्वत्र है। आचार्य वाग्भट्ट काव्य के लिए अर्थोत्पत्ति की सामग्री के रूप में मन की एकाग्रता, प्रतिभा और अनेक शास्त्रों में व्युत्पत्ति को आवश्यक मानते हैं। मन की एकाग्रता, प्रतिभा तथा शास्त्र व्युत्पत्ति से सम्पन्न पूर्ण कवि के मानस में अर्थों का उद्भास स्वयं होता रहता है। फिर दूसरे कवियों के काव्यानुशीलन की आवश्यकता कवि को क्यों होती है यह प्रश्न विचारणीय है।

---

1 ''उक्तयो ह्यर्थान्तरसङ्क्रान्ता न प्रत्यभिज्ञायन्ते, स्वदन्ते च; तदर्थास्तु हरणादपि हरणं स्युः'' इति यायावरीयः
काव्यमीमांसा - (एकादश अध्याय)

परप्रबन्धानुशीलन की आवश्यकता किस दृष्टि से है इस विषय में विभिन्न आचार्यों के विभिन्न मत हैं। कुछ आचार्य इस विचार के पक्षपाती हैं कि इतने अधिक कवि हो चुके हैं और वे इतने अधिक विषयों पर काव्यरचना भी कर चुके हैं कि अब किसी अन्य नवीन विषय पर रचना कर सकना किसी भी कवि के लिए सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में यदि काव्यरचना की इच्छा हो तो केवल उन्हीं प्राचीन कवियों द्वारा काव्य में निबद्ध किए गए अर्थों को लेकर ही केवल उन्हीं का संस्कार करते हुए काव्यरचना की जा सकती है। अत: नवीन अर्थ कभी काव्य में निबद्ध किया ही नहीं जा सकता। इसी कारण प्राचीन अर्थों को ही देखने के लिए पर प्रबन्धानुशीलन की आवश्यकता होती है। यह सम्भवत: आचार्य आनन्दवर्धन का ही विचार है, 'इति आचार्या:' कहकर आचार्य राजशेखर ने सम्भवत: अपने पूर्ववर्ती आचार्य आनन्दवर्धन का ही विचार प्रदर्शित किया है। बाल्मीकि, व्यास जैसे प्रतिभाशाली कवियों के कारण सभी अर्थों के पूर्ववर्णित होने का तथा केवल ध्वनि के स्पर्श से ही उनकी नवीनता का उनके संस्कार का प्रसंग ध्वन्यालोक में आया है।

सभी अर्थ पूर्ववर्णित ही हैं इस विचार को 'गौडवहो' के रचयिता वाक्पतिराज स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि में सरस्वती का भण्डार कभी खाली नहीं होता। नवीन विषयों का स्फुरण कविमानस में सदा ही होता रहता है। वाक्पतिराज की मान्यता है कि दूसरों के प्रबन्धों का अनुशीलन प्रतिभा के उन्मेष के लिए आवश्यक है। उनके अर्थ लेकर उन्हीं का संस्कार सहित वर्णन करने के लिए नहीं। आनन्दवर्धन की दृष्टि में सभी अर्थ पहले वर्णित हो चुके हैं,किन्तु वाक्पतिराज के अनुसार इतने अर्थ वर्णित हो चुके हैं फिर भी कवियों के लिए अर्थ शेष नहीं हुए। यहाँ एक बात यह कही जा सकती है कि सामान्यत: प्रतिभा को कवियों के काव्य का कारण स्वीकार करने वाले सभी आचार्य प्रतिभासम्पन्न कवि के काव्य में अर्थ की नवीनता तथा मौलिकता को स्वीकार करते हैं। आनन्दवर्धन सभी अर्थों को पूर्ववर्णित मानकर भी उनके नवीन रूप के ही वर्णित होने की बात स्वीकार करते हैं क्योंकि काव्यात्मा ध्वनि के संसर्ग से काव्य बिल्कुल ही नवीन हो जाता है। ध्वनि के संसर्ग से वर्णित अर्थ पूर्ववर्णित अर्थ से बिल्कुल ही भिन्न तथा इसी कारण नवीन रूप में प्रतीत होता है। अत: पूर्ववर्णित अर्थ के उसी रूप का केवल किञ्चित् संस्कार ही नहीं बल्कि पूर्ण संस्कार तथा पूर्ण परिवर्तन किया जाता है। इसलिए कवि के मानस में उसी अर्थ के नवीन रूप में स्फुरण को आचार्य आनन्दवर्धन भी स्वीकार करते ही हैं, और

दूसरों के प्रबन्धों का अनुशीलन प्राचीन ही अर्थों के नवीन तथा मौलिक रूप में प्रस्तुतीकरण हेतु आवश्यक होता है—संभवत: आचार्य आनन्दवर्धन का ऐसा ही विचार रहा हो।

कुछ आचार्यों के अनुसार प्राचीन कवियों की रचनाओं का आलोचनात्मक अध्ययन करने से एक ही प्रकार के भाव भिन्न-भिन्न प्रकार से अपने को प्रकट करते हैं—अर्थों का मन में प्रतिभास कराने के लिए भी दूसरों के अर्थों का अनुशीलन लाभदायक होता है तथा दूसरों के द्वारा निबद्ध अर्थों की छाया पर स्वयं भी काव्यरचना की जा सकती है। आचार्यों के इस मत के विरोध में यह कहना सम्भव हो सकता है—कि एक ही भाव का मन में भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रकटीकरण तथा अर्थों का मन में प्रतिभास तभी हो सकता है जब प्रतिभा भी हो। प्रतिभारहित व्यक्ति में अत्यधिक परप्रबन्धानुशीलन भी भावों का विभिन्न रूपों में प्रतिभास नहीं करा सकता। प्रतिभा का अस्तित्व काव्यार्थों को नवीन रूप में ही निबद्ध कराता है, चाहे वे अर्थ प्राचीन ही क्यों न हों—जैसे आनन्दवर्धन के अनुसार प्रतिभा से आने वाले व्यङ्ग्य के संस्पर्श से अर्थ की नवीनता होती है।

जहाँ तक दूसरों के द्वारा निबद्ध अर्थों की छाया पर रचना करने का प्रश्न है—आचार्य राजशेखर को यह स्वीकार है, क्योंकि अभ्यासी कवियों की ऐसी स्थिति को वे स्वीकार करते हैं। अत: आचार्य के 'न' इति यायावरीय: इस निषेधपरक वाक्य का सम्बन्ध केवल अन्तिम वाक्य 'महात्मनां हि संवादिन्यो वुद्धय एकमेर्वाथमुपस्थापयन्ति' 'तत्परित्यागाय तानाद्रियेत'।------से ही विशेष प्रतीत होता है। आचार्यों के सभी वाक्यों का निषेधार्थक उनका वाक्य नहीं है।

आचार्य आनन्दवर्धन यह मानते हैं कि महात्माओं की बुद्धियाँ एक समान होती हैं और उनमें समान ही अर्थ का परिस्फुरण होता है। ऐसी स्थिति में यदि दूसरे कवियों के प्रबन्धानुशीलन की आवश्यकता होती है तो केवल इसी सादृश्यत्याग के कारण अर्थात् एक ही प्रकार के भावों के त्याग के लिए और जिन पर रचना नहीं की गई है उन नवीन अर्थों के ज्ञान के लिए ही दूसरे कवियों के प्रबन्धों को देखने की आवश्यकता होती है।

सभी अर्थ पूर्ववर्णित ही होते हैं और महात्माओं की संवादिनी बुद्धि में एक ही से अर्थ उपस्थित होते हैं इसलिए सादृश्यत्याग के लिए दूसरों के प्रबन्धों के अनुशीलन की आवश्यकता होती है—आनन्दवर्धन के यह दोनों विचार परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। जब सभी अर्थ पूर्ववर्णित ही होते

हैं, वे केवल ध्वनि के स्पर्श से तथा देश, काल, अवस्था स्वरूप आदि के भेद से ही भिन्न तथा नवीन हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में कवि जो भी अर्थ वर्णन के लिए ग्रहण करेगा वह सभी अर्थों के पूर्ववर्णित होने के कारण किसी न किसी के सदृश अवश्य होगा। एक कवि के भाव से अपने भाव के सादृश्य के त्याग के लिए उसके प्रबन्धों का अनुशीलन किया जाएगा तो किसी न किसी दूसरे कवि के भाव से वह भाव अवश्य मिलते होंगे—क्योंकि सभी भाव और अर्थ पहले वर्णित हो चुके हैं—ऐसी स्थिति में सादृश्य का त्याग करना संभव नहीं होगा? फिर परप्रबन्धानुशीलन का यह उद्देश्य कैसा? कवि अपने भाव को केवल किसी कवि के पूर्ववर्णित भाव से नवीन रूप में प्रस्तुत कर सकता है। सभी भावों का पूर्ववर्णित होना यह भी सिद्ध करता है कि केवल सदृश अर्थों का नवीन रूप में प्रस्तुतीकरण संभव है, अर्थों का सादृश्य त्याग नहीं, और यदि अर्थसदृशता अवश्यम्भावी है तो उसके त्याग के लिए दूसरों के प्रबन्धों का अनुशीलन क्यों किया जाएगा?

आचार्य राजशेखर केवल अर्थसादृश्य के त्याग के लिए ही दूसरों के प्रबन्धों के अनुशीलन को आवश्यक नहीं मानते, क्योंकि उनका विचार है कि कवि के सरस्वती के अधिष्ठान स्वरूप मानस में स्वयं ही अर्थों का प्रतिभास होता है और पूर्ववर्णित तथा नवीन अर्थों का विभाग उनकी दिव्य दृष्टि स्वयं कर लेती है। दूसरों के द्वारा वर्णित अर्थ की ओर उनकी दृष्टि नहीं जाती, बल्कि वे केवल नवीन तथा अस्पृष्ट अर्थों की ओर ही आकृष्ट होकर उनका वर्णन करते हैं।[1] दूसरों की अर्थ छाया पर काव्यरचना के राजशेखर विरोधी नहीं हैं, क्योंकि दूसरों के प्रबन्धों का अनुशीलन करके उनकी छाया पर स्वयं किञ्चित् संस्कार सहित काव्यरचना में प्रेरित होने की शिक्षा उन्होंने अभ्यासी कवियों को दी है तथा अर्थहरण के औचित्य को भी स्वीकार किया है। उनका यह भी कहना है कि कवि और व्यापारी कहीं न कहीं चोरी अवश्य करते हैं।[2] दूसरों के अर्थ कवियों ने ग्रहण किए हैं यह उनके द्वारा दिए गए उदाहरणों से भी

---

1 'महात्मनां हि संवादिन्यो बुद्धय एकमेवार्थमुपस्थापयन्ति, तत्परित्यागाय तानाद्रियेत' इति च केचित्। 'न' इति यायावरीयः। सारस्वतं चक्षुरवाङ्मनसगोचरेण प्रणिधानेन दृष्टमदृष्टं चार्थजातं स्वयं विभजति।

काव्यमीमांसा - (एकादश अध्याय)

2 'नास्त्यचौरः कविजनो नास्त्यचौरो वणिग्जनः स नन्दति बिना वाच्यं यो जानाति निगूहितम्॥'

काव्यमीमांसा - (एकादश अध्याय)

स्पष्ट होता है तथा दूसरे कवियों की रचनाओं की छाया पर काव्य करने वाले कवि के प्रकार के विषय में भी उन्होंने स्पष्टीकरण किया है।[1] अत: पूर्वकवियों की छाया पर काव्यरचना को वे स्वीकार तो करते हैं, फिर चाहे उनकी स्वीकृति केवल अभ्यासी कवि के लिए ही क्यों न हो, किन्तु दूसरों के प्रबन्धानुशीलन का एकमात्र यही उद्देश्य नहीं है।

परप्रबन्धानुशीलन की आवश्यकता कवियों को व्युत्पन्न होने के लिए होती है—काव्यनिर्माण सम्बन्धी व्युत्पत्ति की प्राप्ति के लिए कवि को दूसरों के प्रबन्धानुशीलन की भी उतनी ही आवश्यकता होती है जितनी शास्त्रों आदि के अध्ययन की। परप्रबन्धानुशीलन को भामह और वामन भी काव्यनिर्माण के लिए आवश्यक मानते हैं। काव्य क्रिया के लिए दूसरों के निबन्धों का अवलोकन भामह की दृष्टि में आवश्यक है। वामन के मत में भी अन्यों के काव्य का परिचय प्राप्त करने वाला 'लक्ष्यज्ञत्व' काव्य के अङ्ग रूप प्रकीर्ण का एक अङ्ग है। इससे काव्यरचना की व्युत्पत्ति प्राप्त होती है—किस प्रकार किस ढंग से काव्यरचना की जाए यह स्पष्ट होता है।[2] काव्यप्रयोगों को देखकर कवि की अपनी प्रतिभा का विकास होता है तथा काव्यपरम्पराओं आदि का भी ज्ञान होता है, किन्तु दूसरों के प्रबन्धों का अनुशीलन केवल अर्थ-ग्रहण के लिए ही नहीं है। यदि दूसरों के प्रबन्धानुशीलन का केवल यही उद्देश्य हो तो काव्यनिर्माण एक रूढ़ि रह जाएगा, मौलिक विषय नहीं। काव्यशिक्षाविषयक ग्रन्थ के रचयिता परवर्ती आचार्य श्री विनयचन्द्र अनेक ग्रन्थों में दर्शित क्रिया को देखकर काव्य रचना करना मेधावी कवि का कार्य बतलाते हैं। उनके अनुसार भी काव्यरचना सम्बन्धी व्युत्पत्ति ही दूसरों के काव्यग्रन्थों के अनुशीलन का उद्देश्य है। उनमें से अर्थहरण करना नहीं। वे काव्य की विशेषता उसका नवनवभणितिश्रव्य होना बतलाते हैं। नवनवभणितिश्रव्य का तात्पर्य है नवीन अर्थों तथा उक्तियों से काव्य का मनोहारी होना।[3]

---

1 'य: प्रवृत्तवचन: पौरस्त्यानामन्यतमच्छायामभ्यस्यति स सेविता' काव्यमीमांसा - (पञ्चम अध्याय)

2 शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम् क्लिोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्य: काव्यक्रियादर:। 10। प्रथम परिच्छेद
काव्यालङ्कार - (भामह)

'तत्र अन्येषां काव्येषु परिचयो लक्ष्यज्ञत्वम्। ततो हि काव्यबन्धस्य व्युत्पत्तिर्भवति। 1। 3 । 12।
काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति - (वामन)

3. इत्थं काव्यक्रियां ज्ञात्वा नानाग्रन्थेपु दर्शिताम् काव्यं कुर्वीत मेधावी विनयस्तस्य कार्मणम्।
नवनवभणितिश्रव्यं काव्यम्— द्वितीय-क्रियानिर्णयपरिच्छेद
(काव्यशिक्षा —विनय चन्द्र)

प्रतिभा के अभिवर्धन हेतु शास्त्रों के समान ही दूसरों के प्रबन्धों के अनुशीलन की आवश्यकता भी पड़ती है, किन्तु उसमें से केवल अर्थग्रहण करना या उसकी छाया पर स्वयं काव्य रचना करने के लिए समर्थ होना या किन विषयों पर काव्यरचनाएँ नहीं हुई हैं यह जानना दूसरों की रचनाओं के अध्ययन का उद्देश्य नहीं है। प्रारम्भिक कवियों की प्रतिभा के संस्कार एवं विकास तथा बहुश्रुतता एवं व्युत्पत्ति हेतु दूसरों की रचनाओं का मनन आवश्यक है।

अर्थहरण :-

अर्थहरण भी आचार्य राजशेखर के ग्रन्थ में गम्भीर विवेचन का विषय बना है। अर्थहरण विवेचन का कविशिक्षा की दृष्टि से विशेष महत्व है, क्योंकि प्रारम्भिक अवस्था के अभ्यासी कवि अन्य कवियों के काव्य से अर्थग्रहण करके काव्यनिर्माण का अभ्यास करते हैं।

प्रारम्भिक कवि को शिक्षा देने के लिए तथा प्रारम्भिक कवि के काव्यनिर्माण सम्बन्धी ज्ञानवर्धन के लिए ही रचित होने के कारण काव्यमीमांसा में दूसरों के ग्रन्थों से किस प्रकार के अर्थों को किस प्रकार से अपने काव्य में ग्रहण करना उचित है इस विषय की शिक्षा दी गई है। आचार्य राजशेखर ने अपने विस्तृत अध्ययन के पश्चात् दूसरों के अर्थों का कवियों के काव्यों में जिस प्रकार से सन्निवेश देखा उसी आधार पर उनके औचित्य, अनौचित्य के निर्देश सहित प्रारम्भिक कवियों की शिक्षा हेतु उनका विवेचन किया है। यह आचार्य का अपना बहुत से विषयों में मौलिक अध्याय है।

अर्थहरण का सीधा सम्बन्ध अभ्यासी कवियों से ही जोड़ा जा सकता है। निरन्तर अभ्यास करने वाले कवि के लिए दूसरों के अर्थो अथवा दूसरों के सदृश अर्थों को लेकर काव्यरचना करना दोष तो नहीं है, किन्तु अर्थहरण के औचित्य का ध्यान रखना आवश्यक है। जब कवि महाकवित्व की श्रेणी पर पहुँच जाते हैं उस अवस्था में उन्हें दूसरों के अर्थों की आवश्यकता नहीं होती। केवल अभ्यासी कवि ही दूसरों के अर्थ लेते हैं और उन्हें ही अर्थग्रहण का उपदेश भी दिया गया है, किन्तु अभ्यासी कवि का ही तो विकास महाकवि या पूर्ण अभ्यस्त कवि के रूप में होता है। आचार्य राजशेखर ने दोनों प्रकार के कवियों को स्वीकार किया है—जो दूसरों के अर्थों को ग्रहण करते हैं तथा जो स्वयं मौलिक अर्थो का उत्पादन करते हैं। प्रथम का सम्बन्ध प्रारम्भिक अवस्था के कवि से है और द्वितीय का महाकवि अथवा उत्कृष्ट कोटि के कवि से।

आचार्य राजशेखर के अनुसार पूर्व परम्परा से ही कवि दूसरों के अर्थ भी ग्रहण करते थे। किन्तु अर्थग्रहण का अपना स्तर भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है कुछ उच्च तथा कुछ निम्न कोटि का। इस अर्थग्रहण या अर्थहरण के स्तर का सम्बन्ध विभिन्न कोटि के कवियों से है। उत्कृष्ट कवि तथा निम्न कोटि के कवि इस दृष्टि से विभाजित किए जा सकते हैं। दूसरों के प्रबन्धों का अनुशीलन प्रारम्भिक कवियों के लिए आवश्यक होता है तथा अभ्यस्त कवि के लिए भी लाभदायक। उनमें से जैसे प्रारम्भिक कवि अर्थग्रहण करते हैं उसी प्रकार उत्कृष्ट कवि भी अर्थग्रहण करते है जैसा कि आचार्य राजशेखर द्वारा विवेचित किए गए अर्थहरण के भेदों से स्पष्ट होता है। प्रारम्भिक कवियों से उत्कृष्ट कवियों का अन्तर यह है कि वे केवल सदृश अर्थ तथा मूल अर्थ ही ग्रहण करते हैं, वही अर्थ नहीं। अभ्यासी कवियों को भी ऐसा ही करने का प्रयत्न करना चाहिए।

सम्भव है कि प्रारम्भिक अवस्था में नवीन अर्थ की उद्‌भावना कविमानस में न हो। उस प्रारम्भिक अवस्था में ही दूसरों के अर्थहरण की आवश्यकता को स्वीकार किया जा सकता है। आचार्य वाग्भट्ट तो दूसरों के अर्थ लेकर अभ्यास करने को प्रारम्भिक अवस्था में भी स्वीकार नहीं करते, [1] क्योंकि यदि अर्थ कवि को कहीं से मिल ही जाएंगे तो वे मौलिक अर्थ की उद्‌भावना का प्रयत्न क्यों करेंगे, यही सम्भवत: उनकी मान्यता है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि जब कवि समर्थ हो जाते हैं तो मौलिक अर्थों की उद्‌भावना उनके मानस में स्वयं होती है। मौलिक, नवीन अर्थों के उद्‌भावन का उन्हें प्रयत्न नहीं करना पड़ता। अर्थहरण को स्वीकार करने वाले आचार्य भी केवल प्रारम्भिक अवस्था में ही अर्थहरण को स्वीकार करते हैं। हरण को स्वीकार करने वाले सभी आचार्यों का सम्बन्ध प्रारम्भिक कवियों की शिक्षा से है।

---

1 परार्थबन्धाद्यश्च स्यादभ्यासो वाच्यसङ्गतौ
स न श्रेयान्यतोऽनेन कविर्भवति तस्कर:। 12।

प्रथम परिच्छेद
(वाग्भटालङ्कार - वाग्भट्ट)

आनन्दवर्धन का अर्थसाम्य अर्थहरण विवेचन का आधार?

आचार्य आनन्दवर्धन का विचार है कि कवियों का बुद्धिसादृश्य उनके काव्यों में पाए जाने वाले भाव-साम्य का कारण है। कवियों के काव्यों में पाई जाने वाली यह अर्थसमानता तीन प्रकार की हो सकती। पूर्ववर्णित अर्थ के प्रतिबिम्ब के समान, चित्र के समान तथा शरीर के समान।[1]

जिस प्रकार किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब बिल्कुल वस्तु जैसा ही होता है उससे भिन्न नहीं, उसी प्रकार किसी पूर्व अर्थ का प्रतिबिम्ब जैसा अर्थात् बिल्कुल उसी रूप वाला अर्थ भी—यह वही पूर्ववणित अर्थ है, इस रूप में स्वीकृत हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। इस कारण यद्यपि कवि ने अपनी बुद्धि से किसी अर्थ का वर्णन किया हो, फिर भी किसी पूर्व अर्थ से उसके प्रतिबिम्ब रूप वाली समानता उसे हेय बना देती है, क्योंकि किसी पूर्ववर्णित अर्थ का प्रतिबिम्ब जैसा अर्थ उसी पूर्व अर्थ के रूप में स्वीकार किया जाएगा, नवीन रूप में नहीं।

किसी वस्तु का चित्र उसकी अपेक्षा कुछ संस्कृत रूप में सामने आता है उसी प्रकार किसी पूर्व अर्थ से केवल कुछ संस्कार के कारण भिन्न कोई अर्थ 'यह उसी पूर्व वर्णित अर्थ का चित्र है' इस रूप में ही स्वीकृत होगा। चित्र भी वस्तु से केवल कुछ ही भिन्न होता है, इसलिए यह वही नहीं है ऐसा कह सकता सम्भव न होने के कारण इस प्रकार के साम्य का भी कवि वर्णित अर्थ में आ जाना उचित नहीं है।

कभी कभी एक दूसरे से मिलते जुलते दो व्यक्ति हो सकते हैं। किन्तु वे एक ही व्यक्ति हैं यह नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार एक दूसरे से मिलते जुलते दो अर्थ हों तो वे एक ही हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता और इस कारण यह देहतुल्य साम्य त्याज्य भी नहीं है।[2]

---

1 'सम्वादास्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसाम्
स्थितं ह्येतत् संवादिन्य एव मेधाविनां बुद्धयः'
'सम्वादो ह्यन्यसादृश्यं तत्पुनः प्रतिबिम्बिवत्
आलेख्याकारवत्तुल्यदेहिवच्च शरीरिणाम् ।12। (ध्वन्यालोक - चतुर्थ उद्योत)

2. तत्रपूर्वमनन्यात्म तुच्छात्म तदनन्तरम्
तृतीयं तु प्रसिद्धात्म नान्यसाम्यं त्यजेत्कविः। 13। (ध्वन्यालोक - चतुर्थ उद्योत)
तत्र पूर्वं प्रतिबिम्बकल्पं काव्यवस्तु परिहर्तव्यम्
सुमतिना यतस्तदनन्यात्मतात्विकशरीरशून्यम्।
तदनन्तरमालेख्यप्रख्यमन्यसाम्यं शरीरान्तरयुक्तमपि तुच्छात्मत्वेन परित्यक्तव्यम्। तृतीयन्तु विभिन्नकमनीयशरीरसद्भावे सति ससम्वादमपि काव्यवस्तु न त्यक्तव्यम् कविना। (ध्वन्यालोक - चतुर्थ उद्योत)

आचार्य राजशेखर को अपने अर्थहरण के प्रमुख चार भेदों में से तीन प्रतिबिम्बकल्प, आलेख्यप्रख्य और तुल्यदेहितुल्य का आधार यहीं (आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक') से प्राप्त माना जा सकता है। किन्तु यह बात ध्यान देने की है कि आचार्य आनन्दवर्धन कवियों द्वारा दूसरों से अर्थ लिए जाने को नहीं, किन्तु कवियों में बुद्धि सादृश्य को महत्व देते हैं। आचार्य राजशेखर और आचार्य आनन्दवर्धन दोनों के क्षेत्र भी अलग अलग थे। राजशेखर का अभिप्राय कवियों को शिक्षा देने से था इसी कारण उनका विवेच्य विषय रहा—यदि दूसरों के अर्थों का आधार ग्रहण करके काव्यरचना की जाए तो किस किस रूप में। किन्तु आचार्य आनन्दवर्धन का अभिप्राय महाकवियों से, पूर्ण अभ्यस्त कवियों से था। काव्यात्मा ध्वनि उनके विवेचन का विषय था, इस कारण उन्होंने दूसरों से अर्थ ग्रहण करने को नहीं स्वीकार किया। दूसरों के अर्थ ग्रहण करना तो केवल प्रारम्भिक कवियों का कार्य है। यदि अभ्यस्त कवियों के काव्यों में भी पूर्व अर्थों से समानता दिखलाई दे तो इसका कारण महाकवियों का बुद्धि सादृश्य है दूसरों से उन्होंने अर्थग्रहण किया है या करते हैं इस विषय से आनन्दवर्धन अपना क्षेत्र ही अलग होने के कारण अलग ही रहे। अर्थहरण के तीन भेदों का आधार आनन्दवर्धन से ग्रहण किया गया यह माना जा सकता है किन्तु यह भी स्वीकार करना होगा कि आधार आनन्दवर्धन से ग्रहण करने पर भी आचार्य राजशेखर का विवेचन संदर्भ आनन्दवर्धन से पृथक ही रहा। कवियों को शिक्षा देना ही उनका उद्देश्य था। कवि प्रयत्नपूर्वक दूसरों के अर्थ ग्रहण करके अभ्यास करते हैं ऐसी उनकी मान्यता थी। उनमें से किस प्रकार का अर्थग्रहण उपादेय है और किस प्रकार का हेय कवि को शिक्षा देने के उद्देश्य से यह उनका प्रमुख विवेचन का विषय रहा।

अर्थहरण के भेदों का मूल रूप कहीं और उपस्थित रहने पर भी हरण तथा उपजीवन सम्बन्धी सम्पूर्ण अध्याय कविशिक्षा से सम्बद्ध विषय पर आचार्य राजशेखर का अपना महत्वपूर्ण विवेचन और अर्थहरण के सभी भेद उनकी मौलिक उद्‌भावनाएं भी हैं। उन्होंने कहा है कि अर्थहरण के भेदों की उद्‌भावना उन्होंने स्वयं की है। यहाँ पर उनके इस कथन को आचार्य आनन्दवर्धन के अर्थसादृश्य के भेदों को सामने रखते हुए खंडित किया जा सकता था। किन्तु आचार्य आनन्दवर्धन से नामग्रहण करने पर भी उन नामों का हरण सम्बन्धी विषय से सम्बन्ध जोड़ना राजशेखर की अपनी मौलिकता तथा नवीनता है, तथा चतुर्थ परपुरप्रवेशसदृश नामक भेद तथा चारों अर्थहरणों के सभी अवान्तर भेद आचार्य राजशेखर

की अपनी मौलिक उद्भावनाएँ हैं। नामों के समान होने पर भी जहाँ आनन्दवर्धन ने कवियों के बुद्धि सादृश्य को कारण माना था वहाँ आचार्य राजशेखर अभ्यासी कवियों के लिए अर्थग्रहण को ही महत्व देते हैं। इस प्रकार एक ही वर्णित विषय का संदर्भ दोनों स्थानों पर पृथक् होने के कारण आनन्दवर्धन के विवेचन में यह भेद उपस्थित रहने पर भी राजशेखर द्वारा उनके स्वयं उद्भावित रूप में वर्णन की भी समीचीनता है।

अभ्यास की अवस्था में भी दूसरों के अर्थों को उसी रूप में स्वीकार करना राजशेखर को मान्य नहीं है। इसी कारण कवियों को उस विषय की उन्होंने पूर्ण शिक्षा दी है कि किस-किस प्रकार से हरण किया जाए कि उनमें कुछ संस्कार तथा नवीनता हो और पूर्व शब्दों, अर्थों के आधार पर रचित काव्य भी कवियों को परिपक्वता की ओर ले जाए। यहाँ राजशेखर आचार्य आनन्दवर्धन से समानता रखते हैं क्योंकि प्रतिबिम्ब के समान समता को दोनों ही हेय बतलाते हैं—आचार्य आनन्दवर्धन तथा आचार्य राजशेखर का विचार आलेख्यप्रख्य अथवा चित्रवत् अर्थसाम्य के सम्बन्ध में भिन्न हो गया है। जहाँ चित्रवत् भेद आनन्दवर्धन की दृष्टि में त्याज्य है वहाँ आचार्य राजशेखर उसे भी स्वीकार्य बतलाते हैं। इस भिन्नता के मूल में दोनों आचार्यों की क्षेत्र भिन्नता निहित है। अभ्यास करने वाला कवि धीरे-धीरे ही ऊपर उठता है, इस कारण वह दूसरों के वही अर्थ केवल कुछ संस्कार के साथ भी ग्रहण कर सकता है। अभ्यासी कवि के लिए तो बिल्कुल उसी रूप में ग्रहण करने की अपेक्षा कुछ संस्कृत रूप में ग्रहण करना कहीं अच्छा है। इसलिए जहाँ तक अभ्यासी कवि का प्रश्न है उसके लिए आलेख्य-प्रख्य अथवा चित्र रूप में दूसरों का अर्थग्रहण करना उचित है, इससे उसे अभ्यास परिपक्वता तथा काव्यरचना में व्युत्पत्ति की प्राप्ति हो सकती है किन्तु जहाँ महाकवियों तथा अभ्यस्त कवियों का प्रश्न है, वे यदि ऐसी काव्य रचना करें जो कि किसी पूर्व अर्थ से केवल कुछ संस्कार के कारण ही भिन्न हो तो यह उनके महाकवित्व की निन्दनीयता होगी। यही कारण है कि अभ्यासी कवियों से सम्बन्ध होने के कारण आचार्य राजशेखर ने चित्र नामक भेद को भी स्वीकार्य बतलाया है किन्तु महाकवियों से, अभ्यस्त कवियों से सम्बन्ध होने के कारण आचार्य आनन्दवर्धन ने उसे हेय बतलाया है।

तुल्यदेहितुल्य अर्थ को दोनों ही आचार्यों ने समान रूप में ही स्वीकार्य बतलाया है। महाकवियों से सम्बन्ध के कारण आचार्य आनन्दवर्धन की दृष्टि में यह भेद स्वीकार्य है क्योंकि दो कवि

बुद्धि की समानता के कारण ही मिलते जुलते वर्णन कर सकते हैं, और आचार्य राजशेखर का अभ्यासी कवि संभवत: अभ्यास करते करते ही इस अवस्था में पहुँच पाता है कि वह ऐसा वर्णन कर सके जो किसी पूर्ववर्णित अर्थ से मिलता होने पर भी वही न हो।

अर्थहरण का चतुर्थ भेद परपुरप्रवेशसदृश आचार्य राजशेखर ने स्वयं उद्‌भावित किया है। एक वाच्यार्थ के देश, काल, स्वरूप, अवस्था आदि के भेद से भेद मानते हुए मूल वस्तु की समानता आचार्य आनन्दवर्धन ने भी स्वीकार की है, किन्तु यदि मूल वस्तु की समानता को वे वह समानता मान लेते जो बुद्धि सादृश्य के कारण आ जाती है और अर्थसादृश्य कहलाती है तो सामान्यत: तो सारे ही अर्थ पूर्ववर्णित हो चुके हैं। उनका केवल पुन: वर्णन ही होता है ऐसा आचार्य के विवेचन से स्पष्ट है। ऐसी स्थिति में पूर्ववर्णित अर्थों का पुन: वर्णन सर्वत्र ही मूल वस्तु की समानता का द्योतक होगा। इस प्रकार मूल वस्तु साम्य रूप एक ही भेद सर्वत्र होगा, अन्य भेदों के लिए कोई स्थान नहीं रह जाएगा।

मूल वस्तु प्राय: सर्वत्र एक सी होने पर भी वर्णन प्रकार भिन्न होने से भिन्न ही होगी, समान नहीं। एक ही मूल अर्थ देश, काल, अवस्था और स्वरूप के भेद से भिन्न प्रकार का हो सकता है, क्योंकि कवि उनका अपने-अपने ढंग से वर्णन करते हैं। आचार्य आनन्दवर्धन का तात्पर्य केवल उस सादृश्य से था जिसके कारण दो कवियों के सम्पूर्ण अर्थ ही समान लगते हैं, (केवल मूल वस्तु नहीं) यह समानता भले ही प्रकार की दृष्टि से भिन्न हो। मूल वस्तु समान हो तो सम्पूर्ण अर्थ वस्तु को समान कहा भी नहीं जा सकता। क्या सर्वत्र मूल वस्तु की समानता रूप एक ही अर्थ-सादृश्य का प्रकार माना जाएगा (अर्थों की पूर्ववर्णितता के कारण)? आनन्दवर्धन केवल बुद्धिसादृश्य के कारण होने वाले सम्पूर्ण अर्थ के सादृश्य तक सीमित क्षेत्र वाले थे, क्योंकि उनका सम्बन्ध महाकवियों से था। उनका विवेचन अर्थग्रहण से सम्बद्ध न होकर केवल अर्थसादृश्य से ही सम्बन्धित था। इसी कारण राजशेखर द्वारा उल्लिखित चतुर्थ भेद आनन्दवर्धन की दृष्टि में नहीं था, क्योंकि उसमें केवल मूल अर्थ का कही से केवल ग्रहण होता है, सम्पूर्ण अर्थ का सादृश्य नहीं। अर्थों की पूर्ववर्णितता मानने के कारण मूल वस्तु की समानता रूप अर्थ सादृश्य को भी स्वीकार करना आनन्दवर्धन के लिए सम्भव नहीं था, न ही पृथक् क्षेत्र के कारण ऐसा मानने की उनके लिए उपयोगिता ही थी। राजशेखर का सम्बन्ध कविशिक्षा से था, उन्होंने कवि द्वारा कहीं से भी प्रभाव ग्रहण करने को अर्थहरण के अन्तर्गत रखकर उपजीवन को व्यापक रूप

दिया है। मूल वस्तु को भी कहीं से ग्रहण करने को उन्होंने हरण के अन्तर्गत रखा है। कवि को परिपूर्ण शिक्षा देना ही उनका उद्देश्य था इसी कारण उन्होंने पूर्व अर्थ के प्रतिबिम्ब के समान लगने वाले अर्थ, चित्र के समान अर्थ, शरीर के समान अर्थ और मूल में एक समान अर्थ सभी का विस्तृत विवेचन किया है। मूल वस्तु की समानता वाला यह चतुर्थ भेद उनका अपना है, आनन्दवर्धन से आधार प्राप्त नहीं।

अर्थहरण के भेद :-

अयोनि अर्थात् मौलिक अपूर्व काव्यार्थों के उद्भावक चिन्तामणि कवि के द्वारा उद्भावित मौलिक अर्थ के अतिरिक्त कवियों के काव्य में दो प्रकार के अर्थ और देखे गए हैं—वे अर्थ जिनकी उद्भावना कोई पूर्व कवि करते हों और बाद में आने वाले कवि इन्हीं अर्थों को लेकर काव्य रचना करते हैं। इन अर्थों को अन्य-योनि अर्थ कहा गया है। दूसरे प्रकार के अर्थ वे हैं, जिनके विषय में यह ज्ञात नहीं होता कि उनका उद्भावक काव्यरचना करने वाला कवि स्वयं है या कोई अन्य कवि। अयोनि तथा अन्य-योनि अर्थों को आचार्य राजशेखर के बहुत पूर्व आचार्य वामन ने भी स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि में काव्य में वर्णित अर्थों के दो विकल्प हो सकते है—कवि की अपनी उद्भावना रूप में प्रस्तुत मौलिक अयोनि अर्थ तथा किसी अन्य कवि की छाया पर रचा गया अन्ययोनि अर्थ।[1] आचार्य राजशेखर के अनुसार अन्ययोनि तथा निह्नुतयोनि दोनों ही प्रकार के अर्थों के आधार पर अभ्यासी कवि काव्य रचना करते हें। अन्ययोनि अर्थ को केवल साधारण अभ्यासी कवि ग्रहण करते हैं। उनमें भी केवल अन्ययोनि अर्थ के एक भेद आलेख्यप्रख्य को — जिसमें कुछ संस्कार करके अर्थग्रहण किया जाता है—अभ्यासी कवि ग्रहण कर सकते हैं। प्रतिबिम्बकल्प अर्थ को जिसमें परमार्थत: कोई भेद न हो केवल वाक्य रचना ही भिन्न प्रकार की हो—ग्रहण करना अभ्यासी कवि के लिए भी उचित नहीं है। निह्नुतयोनि अर्थ को सिद्ध तथा उत्कृष्ट कोटि के कवि भी अपनाते हैं—जिनमें अर्थ केवल सदृश सा होता है, वहीं नहीं। इस प्रकार अर्थग्रहण के उपायों से अभ्यासी कवि केवल आलेख्यप्रख्य, तुल्यदेहितुल्य और परपुरप्रवेशसदृश

---

1. अर्थो द्विविधोऽयोनिरन्यच्छायायोनिश्च।
   अयोनि: अकारण: अवधानमात्रकारण इत्यर्थ।
   अन्यस्य काव्यस्य छाया तद्योनि: (3/2/7) (काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति - वामन)

अर्थों को ही अपना सकता है—प्रतिबिम्बकल्प को अपनाना निकृष्टकार्य है, क्योंकि उसमें अर्थ बिल्कुल वही होता है, किञ्चित् परिवर्तित नहीं।

जो अर्थ दूसरे कवियों की रचनाओं से ग्रहण किए जाते हैं उनमें दो रूप सामने आते हैं, एक जिसका बिल्कुल पूर्व अर्थ के रूप में ही ग्रहण किया जाता है—तथा दूसरा जिसका किञ्चित् संस्कार के साथ ग्रहण किया जाता है—इनमें से प्रथम प्रतिबिम्ब कल्प अर्थ कहलाता है और दूसरा आलेख्य प्रख्य।

प्रतिबिम्बकल्प :-

प्रतिबिम्बकल्प अर्थ में पश्चात् कवि की रचना में पूर्व कवि के समस्त भाव उसी रूप में विद्यमान होते हैं—केवल वाक्य-विन्यास में भिन्नता होती है।[1] जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित होने वाला चेहरा वही होता है, उसी रूप में दिखाई देता है किञ्चित् भिन्न रूप में नहीं—उसी प्रकार जब किसी कवि के अर्थ को कोई अन्य कवि केवल वाक्यविन्यास में भेद करके उसी रूप में ग्रहण करता है तो बाद में निबद्ध किया गया अर्थ पूर्व अर्थ के रूप में ही सहृदयों को प्रतीत होता है—नवीन रूप में उसे स्वीकार करना सम्भव नहीं होता। पूर्व अर्थ का दूसरा अर्थ प्रतिबिम्ब मात्र होता है—जैसे प्रतिबिम्ब वस्तु से भिन्न प्रकार का न होकर वस्तु जैसा ही होता है, उसी प्रकार बिल्कुल वही अर्थ निबद्ध किए जाने पर पूर्वनिबद्ध अर्थ रूप में ही स्वीकार किया जाता है। इस कारण किसी कवि के काव्य के बिल्कुल उसी अर्थ को लेकर उसे केवल भिन्न प्रकार के वाक्य में निबद्ध करके प्रस्तुत करने का कवि के लिए औचित्य नहीं है।[2]

अर्थग्रहण का यह प्रकार कवियों के लिए ग्राह्य नहीं है, फिर भी इस प्रकार का अर्थ ग्रहण किस-किस प्रकार से किया जाता है यह निर्देश राजशेखर ने अर्थहरण के इस प्रकार के भेदों सहित किया है—अभ्यासी कवियों को इस प्रकार के अर्थहरण की अनुपादेयता बतलाना ही यहाँ पर उद्देश्य है।

---

1. अर्थः स एव सर्वो वाक्यान्तरविरचनापरं यत्र तदपरमार्थविभेदं काव्यं प्रतिम्बिकल्पं स्यात्।

(काव्यमीमांसा - द्वादश अध्याय)

2. सोऽयं कवेरकवित्वदायी सर्वथा प्रतिबिम्बकल्पः परिहरणीयः यतः—
"पृथक्त्वेन न गृह्णन्ति वस्तु काव्यान्तरस्थितम्। पृथक्त्वेन न गृह्णन्ति स्ववपुः प्रतिबिम्बितम्।"

काव्यमीमांसा - (द्वादश अध्याय)

प्रतिबिम्बकल्प के आठ भेद—व्यस्तक, खण्ड, तैलबिन्दु, नटनेपथ्य, छन्दोविनिमय, हेतुव्यत्यय, सङ्क्रान्त और सम्पुट है—जिन्हें भली भाँति जानकर त्याग देना ही सर्वथा उचित है।

व्यस्तक :-

किसी कवि की रचना के किसी अर्थ को लेकर उसका क्रम बदल देना अर्थात् जो बात पहले कही गई है उसे बाद में तथा जो बाद में कही गई है उसे पहले कहना व्यस्तक नामक भेद है।[1]

खण्ड :-

किसी कवि की रचना में पूर्णरूप में वर्णित किसी अर्थ के केवल अंश को ही लेकर उसका वर्णन करना खण्ड कहलाता है।[2]

तैलबिन्दु :-

किसी संक्षेप में वर्णित अर्थ का विस्तार से वर्णन करना तैलबिन्दु भेद है।[3]

नटनेपथ्य :-

किसी भाषा के अर्थ को लेकर उसे किसी अन्य भाषा में वर्णित करना नटनेपथ्य नामक भेद है।[4] यहाँ केवल भाषा में परिवर्तन होता है, अर्थ में तात्विक भेद नहीं किया जाता।

छन्दोविनिमय :-

केवल छन्द का परिवर्तन छन्दोविनिमय कहलाता है।[5] एक भाषा का कवि जिस छन्द में रचना करता हो, दूसरा कवि उससे भिन्न छन्द में रचना करता है, किन्तु अर्थ बिल्कुल वही होता है।

---

1. 'स एवार्थः पौर्वापर्यविपर्यासाद् व्यस्तकः'
2. 'बृहतोऽर्थस्यार्द्धप्रणयनं खण्डम्'
3. 'संक्षिप्तार्थविस्तरेण तैलबिन्दुः'
4. 'अन्यतमभाषानिबद्धं भाषान्तरेण परिवर्त्यत नटनेपथ्यम्'
5. 'छन्दसा परिवृत्तिश्छन्दोविनिमयः'

—— काव्यमीमांसा - (द्वादश अध्याय) में सभी का उल्लेख।

हेतुव्यत्ययः :-

किसी कवि ने एक अर्थ को जिस कारण से ग्रहण किया है,बिल्कुल उसी अर्थ को किसी अन्य कारण से ग्रहण करना हेतुव्यत्यय है।[1]

सङ्क्रान्त :-

कहीं देखे गए किसी अर्थ को कहीं दूसरे स्थान पर लागू कर देना,[2] कहीं देखी गई बिल्कुल उसी अर्थ रूप वस्तु को कहीं दूसरे स्थान में सङ्क्रमित कर देना सङ्क्रान्त नामक भेद है।

सम्पुट :-

जहाँ दो रचनाओं के भिन्न-भिन्न भावों को मिलाकर साथ ही एक रचना में बिल्कुल उसी रूप में ग्रहण किया जाता है[3] उस अर्थहरण प्रकार को सम्पुट कहते हैं।

प्रतिबिम्ब कल्प अर्थ के इन सभी भेदों में अर्थ दूसरों से लिया जाता है, बिल्कुल उसी रूप में अर्थ को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेना इस हरण की विशेषता है—कवि अर्थ में किञ्चित् भी परिवर्तन या संस्कार तो नहीं करता, केवल वाक्यविन्यास अपना करता है। कवि की वही रचना काव्य कही जा सकती है जिसमें कवि की रचना चमत्कारकारी रूप में प्रतिभासित हुई हो। इस प्रकार के भेद में ऐसा कुछ भी नहीं होता। इस आधार पर अर्थ लेकर रचना करने वाला कवि नहीं कहला सकता। केवल वाक्यविन्यास सीखने की प्रारम्भिक कवि की अवस्था में इस भेद से सम्भवतः कुछ सहायता मिल सकती हो, अन्यथा अर्थहरण का यह प्रकार त्याज्य है।

आलेख्यप्रख्य :-

दूसरे कवि द्वारा निबद्ध अर्थ के ग्रहण रूप अन्ययोनि अर्थ का द्वितीय भेद आलेख्यप्रख्य कहलाता है। प्राचीन भाव लेकर ही उसका इस प्रकार संस्कार किया जाए कि वह प्राचीन भाव से भिन्न प्रतीत होने लगे—इस प्रकार के अर्थग्रहण को आलेख्यप्रख्य कहते हैं।[4] जिस प्रकार किसी वस्तु का

---

1 कारणपरावृत्या हेतुव्यत्ययः

2 दृष्टस्य वस्तुनोऽन्यत्र सङ्क्रमितिः सङ्क्रान्तम्

3 उभयवाक्यार्थोपादानं सम्पुटः

4 कियताऽपि यत्र संस्कारकर्मणा वस्तु भिन्नवद्भाति।
तत्कथितमर्थचतुरैरालेख्यप्रख्यमिति काव्यम्॥

काव्यमीमांसा - (द्वादश अध्याय) में सभी का उल्लेख।

आलेखन या चित्र उसकी अपेक्षा कुछ अधिक आकर्षक या संस्कृत होता है, वैसे ही यह अर्थ भी पूर्व अर्थ की अपेक्षा कुछ अधिक संस्कृत होने से अधिक प्रभावशाली होता है। दूसरों के भावों का भी स्वकृत संस्कार सहित ग्रहण होने से यह हरण कवियों के लिए ग्राह्य है। जिस प्रकार एक ही नट भिन्न-भिन्न रूप में संस्कार करके भिन्न-भिन्न पात्रों के रूप में प्रतीत होता है, उसी प्रकार एक ही अर्थ विभिन्न प्रकार से संस्कार करने से विभिन्न प्रतीत हो सकता है। पूर्व निबद्ध अर्थ यदि उसी रूप में न ग्रहण किए जाकर कवि की प्रतिभा द्वारा संस्कृत रूप में ग्रहण किए जाते हैं तो सहृदय हृदय को चमत्कृत भी करते हैं। इस कारण पूर्व अर्थों को भी ग्रहण किया जा सकता है, किन्तु संस्कार के साथ ही। पूर्णत: उसी रूप में अर्थग्रहण करना दोष है। संस्कृत होने पर यदि उसकी भिन्न रूप में प्रतीति हो तो उसका दोषत्व नहीं है। उक्तिवैचित्र्य के कारण कोई भी अर्थ वही होने पर भी अन्यथा प्रतीत होता है—कवि के उक्तिवैचित्र्य का यही वैशिष्ट्य है। विभिन्न कवियों की अपनी-अपनी विभिन्न प्रकार की प्रतिभा होने से एक ही अर्थ भिन्न-भिन्न कवियों के काव्य में एक होते हुए भी भिन्न प्रतीत होता है—तथा कवि के वर्णन स्तर की दृष्टि से ही कहीं अधिक प्रभावशाली तथा चमत्कारयुक्त होता है और कहीं कम। इस प्रकार पूर्वनिबद्ध अर्थ भी यदि पश्चाद्वर्ती कवि के अपने प्रभाव से भिन्न रूप में निबद्ध हो तो चमत्कार का कारण होगा और चमत्कारी होने से इस प्रकार का अर्थहरण कवियों के लिए ग्राह्य है।

पूर्व अर्थों का आलेख्यप्रख्य रूप ऐसा संस्कार कि वह किञ्चित् भिन्न प्रतीत हो आठ प्रकार से किया जा सकता है—समक्रम, विभूषणमोष, व्युत्क्रम, विशेषोक्ति, उत्तंस, नटनेपथ्य, (नवनेपथ्य) एकपरिकार्य, प्रत्यापत्ति।

समक्रम :-

जहाँ एक समान अर्थ का ही सङ्क्रमण किया जाए वह समक्रम नामक भेद है।[1]

विभूषणमोष :-

पूर्वरचना में अलङ्कारसहित रूप में वर्णित किसी अर्थ को ही दूसरी रचना में अलङ्कार रहित रूप में वर्णन करना विभूषणमोष कहलाता है।[2]

---

1. 'सदृशसञ्चारणं समक्रम:'
2 'अलङ्कृतमनलङ्कृत्याभिधीयत इति विभूषणमोष:' काव्यमीमांसा - (त्रयोदश अध्याय) में सभी

व्युत्क्रम :-

जो अर्थ किसी एक क्रम से किसी रचना में वर्णित हो उसका उसी के विपरीत क्रम से वर्णन व्युत्क्रम है।[1]

विशेषोक्ति :-

किसी सामान्य अर्थ को उसी प्रकार से ग्रहण करके उसका किञ्चित् विशेष रूप से वर्णन विशेषोक्ति कहलाता है।[2]

उत्तंस :-

पूर्व रचना में जो अर्थ गौड़ रूप में वर्णित हो उसी का परवर्ती रचना में मुख्य अर्थ के रूप में वर्णन करना उत्तंस है।[3]

नटनेपथ्य :-

किसी रचना में वर्णित किसी एक अर्थ को कथन भेद से विपरीत कर देना अर्थात् वह भिन्न प्रतीत होने लगे ऐसा बना देना नटनेपथ्य है।[4] जैसे एक ही नट दूसरे-दूसरे रूप में सामने आता है—वैसे एक ही वस्तु कथन भेद से भिन्न-भिन्न रूप में सामने आती है।

अर्थहरण के आलेख्यप्रख्य नामक भेद के आठ अवान्तर भेदों में से यह एक विशिष्ट भेद माना गया है, किन्तु अन्य अवान्तर भेदों में अपना जो भिन्न-भिन्न वैशिष्ट्य है, उस प्रकार का इसमें कोई वैंशिष्ट्य दृष्टिगत नहीं होता। इसमें केवल आलेख्यप्रख्य की सामान्य विशिष्टता 'भणितिवैचित्र्य से किसी अर्थ का भिन्न प्रतीत होना' ही दिखलाई देती है।

एकपरिकार्य :-

जहाँ एक ही अर्थ हो और अलङ्कार भी दोनों रचनाओं में एक ही हों केवल दोनों रचनाओं की अलङ्कार्य वस्तु ही भिन्न-भिन्न हो वह एक-परिकार्य नामक भेद है।[5]

---

1 क्रमेणाभिहितस्यार्थस्य विपरीताभिधानं व्युत्क्रमः'
2 सामान्यनिबन्धे विशेषाभिधानं विशेषोक्तिः
3 उपसर्जनस्यार्थस्य प्रधानतायामुत्तंसः
4. तदेव वस्तूक्तिवशादन्यथा क्रियत इति नटनेपथ्यम्
5. परिकरसाम्ये सत्यपि परिकार्यस्यान्यथात्वादेकपरिकार्यः

———काव्यमीमांसा - (त्रयोदश अध्याय) में सभी

प्रत्यापत्ति :-

विकृत अर्थ को उसके प्रकृत रूप में पहुँचा देना अर्थात् एक ही वस्तु जो पूर्व रचना में विकार के साथ (अपने विकृत रूप में) वर्णित हो उसका उसके स्वाभाविक रूप में वर्णन करना प्रत्यापत्ति कहलाता है।[1]

इन सभी भेदों का वैशिष्ट्य है पूर्व अर्थ का किञ्चित् संस्कार सहित ग्रहण।

कभी-कभी काव्य में ऐसे अर्थ भी निबद्ध किए जाते हैं जिनके विषय में यह ज्ञात नहीं होता कि उनका उद्‌भावक कवि कौन है—कोई पूर्व कवि अथवा काव्य निर्माता कवि स्वयम्। इस प्रकार का अर्थ निह्नुतयोनि अर्थ कहलाता है। इसके दो भेद हैं तुल्यदेहितुल्य तथा परपुरप्रवेशसदृश। तुल्यदेहितुल्य में अर्थ किसी पूर्व अर्थ से मिलता जुलता तो होता है किन्तु उससे पूर्णतः भिन्न भी, वही नहीं। परपुरप्रवेशसदृश में केवल मूल वस्तु ही किसी पूर्व अर्थ की वस्तु के समान होती है किन्तु उसका वर्णन बिल्कुल भिन्न होता है। इन दोनों भेदों के इस प्रकार के स्वरूप के कारण इनके विषय में यह निश्चय नहीं हो पाता कि यह हरण किए गए अर्थ हैं अथवा स्वयम् उद्‌भावित अर्थ।

इन अर्थों को हरण रूप में भी स्वीकार किया जा सकता है और कवि की अपनी उद्‌भावना रूप में भी। अपनी इस दोरङ्गी स्थिति के कारण यदि यह हरण हों तो भी उत्कृष्ट कवियों के लिए भी ग्राह्य हैं।

तुल्यदेहितुल्य :-

तुल्यदेहितुल्य भेद की यह विशेषता है कि अर्थ में वस्तुतः पूर्व अर्थ से भिन्नता होने पर भी अत्यन्त सादृश्य उसे पूर्व अर्थ से अभिन्न ही प्रतीत कराता है।[2] तुल्यदेहितुल्य का अर्थ है किसी शरीर के समान ही शरीर वाला, किन्तु वही नहीं, कोई अन्य। प्रतिबिम्बकल्प में उसी शरीर का दूसरा अर्थ प्रतिबिम्ब मात्र था, किन्तु तुल्यदेहितुल्य में दो भिन्न-भिन्न किन्तु सदृश से दिखने वाले शरीरों के समान

---

1 विकृतेः प्रकृतिप्रापणं प्रत्यापत्तिः — काव्यमीमांसा - (त्रयोदश अध्याय)

2. विषयस्य यत्र भेदेऽप्यभेदबुद्धिर्नितान्तसादृश्यात् तत्तुल्यदेहितुल्यं काव्यं बध्नन्ति सुधियोऽपि। — काव्यमीमांसा - (द्वादश अध्याय)

दो भिन्न-भिन्न अर्थ हैं जो केवल सादृश्य के कारण अभिन्न न होने पर भी अभिन्न से प्रतीत होते हैं। किसी पूर्व कवि की रचना के अत्यन्त सदृश किन्तु वस्तुत: भिन्न अर्थ वाली रचना अच्छे कवि भी प्राय: करते हैं—अत: अर्थहरण का यह प्रकार सभी कवियों के लिए ग्राह्य भी है।

यह तुल्यदेहितुल्य अर्थ भी आठ प्रकार का है—विषयपरिवर्त, द्वन्द्वविच्छित्ति, रत्नमाला, संख्योल्लेख, चूलिका, विधानापहार, माणिक्यपुञ्ज, कन्द।

विषय परिवर्त: :-

एक ही वस्तु की दूसरे विषय से योजना करने पर उसके दूसरे रूप की प्राप्ति होना विषय परिवर्त नामक भेद है।[1]

द्वन्द्वविच्छित्ति :-

जो विषय दो रूपों में वर्णित हो उसे एक निश्चित विषय या वस्तु का रूप दे देना द्वन्द्वविच्छित्ति है।[2]

रत्नमाला :-

पूर्वकवि द्वारा वर्णित किसी अर्थ को दूसरे अर्थों से व्यवहित या युक्त कर देना रत्नमाला है।[3]

संख्योल्लेख :-

एक रचना में किसी वस्तु की जो संख्या कही गई है उस वस्तु की उससे विपरीत संख्या का उल्लेख यदि कोई करता है तो संख्योल्लेख नामक भेद है।[4]

चूलिका :-

किसी पूर्व कवि द्वारा कहे गए अर्थ को कहकर उसकी अपेक्षा कुछ विशेष अर्थ का भी उल्लेख करना चूलिका नामक भेद है।[5] यह समान और असमान दो प्रकार की होने से संवादिनी और

---

1 तस्यैव वस्तुनो विषयान्तरयोजनादन्यरूपापत्तिर्विषयपरिवर्त:
2 द्विरूपस्य वस्तुनोऽन्यतमरूपोपादानं द्वन्द्वविच्छित्ति:
3 पूर्वार्थानामर्थान्तरैरन्तरणं रत्नमाला
4 सङ्ख्यावैषम्येणार्थप्रणयनं सङ्ख्योल्लेख:
5 सममभिधायाधिकस्योपन्यासश्चूलिका

——— काव्यमीमांसा - (त्रयोदश अध्याय)

विसंवादिनी दो प्रकार की कहलाती है। उसी अर्थ में अतिरिक्त समान वैशिष्ट्य जोड़ना संवादिनी चूलिका है और उसी अर्थ में अतिरिक्त विपरीत वैशिष्ट्य जोड़ना विसंवादिनी चूलिका है।

विधानापहार :-

जिस बात का किसी कवि ने निषेध रूप से निबन्धन किया हो उसी अर्थ का विधान रूप से उल्लेख विधानापहार नामक भेद है।[1]

माणिक्यपुञ्ज :-

बहुत सी रचनाओं के अर्थों को जहाँ एक ही रचना में ग्रहण किया जाए वह माणिक्यपुञ्ज है।[2]

कन्द :-

एक अर्थ को उसके अङ्कुर रूप विशेष प्रकारों से चित्रित करना कन्द है।[3]

तुल्यदेहितुल्य अर्थ में मूल अर्थवस्तु में भेद होने पर भी पूर्व अर्थ में अत्यन्त सदृश वर्णन उसे पूर्व अर्थ जैसा ही प्रतीत कराता है। किसी पूर्व कवि की रचना से अत्यन्त वर्णन सादृश्य होने पर भी परवर्ती कवि का प्रतिभा द्वारा किया गया संस्कार तथा प्रतिभोत्पन्न चमत्कार उसमें अवश्य उपस्थित होता है—इसी कारण यह तुल्यदेहितुल्य अर्थहरण भेद उल्लेखनीय है तथा इसी कारण सर्वथा ग्राह्य और स्वीकार्य भी।

तुल्यदेहितुल्य अर्थ में पूर्व अर्थ ही ग्रहण नहीं किया जाता बल्कि पूर्व अर्थ से अत्यन्त सदृश अर्थ ग्रहण किया जाता है—अत: इसे अर्थहरण भेद मानने की अपेक्षा आनन्दवर्धन द्वारा मान्य अर्थसादृश्य भेद मानने का ही अधिक औचित्य है। किन्तु राजशेखर द्वारा उसके अर्थहरण रूप में मान्य होने की समीचीनता इस दृष्टि से है कि यद्यपि इसमें पूर्व अर्थ ग्रहण नहीं किया जाता फिर भी पूर्व अर्थ का किञ्चित् भाव अवश्य ग्रहण किया जाता है। इस कारण इसे अर्थसादृश्य तथा अर्थहरण दोनों के ही भेद रूप में स्वीकार करने का औचित्य है। फिर भी इसे अर्थहरण का भेद न कहकर भावहरण का भेद

---

1 निषेधस्य विधिना निबन्धो विधानापहार:

2 बहूनामर्थानामेकत्रोपसंहारो माणिक्यपुञ्ज:

3 कन्दभूतोऽर्थ: कन्दलायमानैर्विशेषैरभिधीयत इति कन्द:।

काव्यमीमांसा - (त्रयोदश अध्याय) मे सभी

कहा जाए यही अधिक उचित है क्योंकि इसमें पूर्वरचना के अर्थों का नहीं, केवल भावों का हरण किया जाता है।

परपुरप्रवेशसदृश :-

निह्नुतयोनि अर्थ का द्वितीय भेद—जहाँ मूल में एकता हो किन्तु रचना में सर्वथा भेद हो परपुरप्रवेशसदृश कहलाता है।[1] रचना में भेद का तात्पर्य यहाँ वाक्य विन्यास से नहीं है—किन्तु भिन्न प्रकार के वर्णन से है। इस प्रकार जहाँ एक ही मूल वस्तु का भिन्न प्रकार से वर्णन किया जाए वह परपुरप्रवेशसदृश अर्थहरण है—जैसे दोनों रचनाओं में वर्षाकालीन कदम्ब पुष्पों का वर्णन हो किन्तु भिन्न प्रकार से, भिन्न दृष्टि से। मूल वर्णनीय वस्तु वही होने पर भी उसका भिन्न प्रकार से वर्णित होना इस प्रकार के अर्थहरण को ग्राह्य बना देता है। यहाँ केवल मूल अर्थ ही समान होता है, सम्पूर्ण अर्थ नहीं। एक मूल वस्तु लेकर उसका भिन्न रूप में वर्णन उच्च कोटि के कवि भी करते हैं।

इस प्रकार के अर्थहरण के भी आठ भेद हैं—हुडयुद्ध, प्रतिकञ्चुक, वस्तुसञ्चार, धातुवाद, सत्कार, जीवञ्जीवक, भावमुद्रा, तद्विरोधी।

हुडयुद्ध :-

किसी प्राचीन कवि द्वारा वर्णित अर्थ को किसी युक्ति से परिवर्तित कर देना हुडयुद्ध नामक भेद है।[2]

प्रतिकञ्चुक :-

किसी कवि की रचना में जो वस्तु एक प्रकार से वर्णित हो उसका अन्य प्रकार से वर्णन करना प्रतिकञ्चुक कहलाता है।[3]

---

1 मूलैक्यं यत्र भवेत्परिकरबन्धस्तु दूरतोऽनेकः तत्परपुरप्रवेशप्रतिमं काव्यं सुकविभाव्यम्

काव्यमीमांसा - (द्वादश अध्याय)

2 उपनिबद्धस्य वस्तुनो युक्तिमती परिवृत्तिर्हुडयुद्धम्। काव्यमीमांसा (त्रयोदश अध्याय)

3 'प्रकारान्तरेण विसदृशं यद्वस्तु तस्य निबन्धः प्रतिकञ्चुकम्' काव्यमीमांसा - (त्रयोदश अध्याय)

वस्तुसञ्चार :-

पूर्व कवि ने किसी वस्तु के लिए जिन उपमानों का प्रयोग किया हो उनके स्थान पर उसी वस्तु के लिए दूसरे उपमानों का प्रयोग वस्तुसञ्चार है।[1]

धातुवाद :-

जिस वस्तु का वर्णन किसी कवि ने शब्दालङ्कारों का प्रयोग करके किया हो उसी का वर्णन अर्थालङ्कारों का प्रयोग करते हुए करना धातुवाद है।[2]

सत्कार :-

किसी कवि ने जिस सामान्य वस्तु का वर्णन किया हो उसी का विशेष रचना द्वारा विशेष रूप में वर्णन सत्कार है।[3]

जीवञ्जीवक :-

काव्यरचना के प्रारम्भ में पूर्वकवि की रचना के समान अर्थ का वर्णन किन्तु बाद में अर्थात् उपसंहार में भिन्न अर्थ का वर्णन जीवञ्जीवक है।[4]

भावमुद्रा :-

प्राचीन कवि के भाव या अभिप्राय का चित्रण भावमुद्रा नामक भेद है।[5]

तद्विरोधी :-

पूर्व कवि की काव्यरचना के भाव के विरूद्ध काव्यरचना तद्विरोधी नामक भेद है।[6]

अर्थहरण के इस परपुरप्रवेश सदृश नामक भेद में सम्पूर्ण अर्थ की नहीं, किन्तु केवल मूल वस्तु की एकता होती है। साथ ही रचना या वर्णन प्रकार में भेद होता है। एक ही मूल वस्तु को कवि अपने-अपने ढंग से भिन्न रूप में वर्णन करें तो वे भिन्न ही हो जाती है। मूल वस्तु की एकता रूप होने पर भी

---

1. 'उपमानस्योपमानान्तरपरिवृत्तिर्वस्तुसञ्चार:'
2. शब्दालङ्कारस्यार्थालङ्कारेणान्यथात्वं धातुवाद:
3. तस्यैव वस्तुन उत्कर्षेणान्यथाकरणं सत्कार:
4. पूर्वसदृश: पश्चाद्भिन्नो जीवञ्जीवक:
5. प्राक्तनवाक्याभिप्रायनिबन्धो भावमुद्रा
6. पूर्वार्थपरिपन्थिनी वस्तुरचना तद्विरोधी

वर्णन प्रकार की भिन्नता से यह भेद उच्चकोटि के कवियों द्वारा भी ग्रहण किया जाता है। अतः सभी कवियों के लिए स्वीकार्य है।

कवि के लिए अर्थहरण के 32 उपायों को उनकी उपादेयता, अनुपादेयता सहित जानना आवश्यक हो जाता है। किन्तु यह आवश्यकता प्रारम्भिक अभ्यासी, काव्यशिक्षा के इच्छुक कवि के लिए ही अधिक है।

अर्थहरण के विभिन्न अवान्तर भेदों का परस्पर तुलनीय स्वरूप :-

आचार्य राजशेखर द्वारा किए गए अर्थहरण के 32 अवान्तर भेदों में से अनेक अर्थभेद अपने स्वरूप की दृष्टि से परस्पर समान से हैं। अर्थहरण के चार प्रमुख भेद हैं—उन चारों की अपनी-अपनी सामान्य विशेषता उनके अपने-अपने अवान्तर भेदों में अवश्य है, फिर भी अनेक अवान्तर भेदो के अपने विशेष रूप अनेक अन्य अवान्तर भेदों के विशेष रूप से समानता रखते हैं।

विभिन्न अवान्तर भेद अपने विशिष्ट रूप में भले ही अन्य विशिष्ट भेदों से समानता रखते हों किन्तु इनका सामान्य रूप भिन्न अवश्य है। प्रत्येक अर्थहरण भेद का सामान्य वैशिष्ट्य उसके अवान्तर भेदों में अवश्य रहता है। अतः अवान्तर भेदों के परस्पर समान विशिष्ट स्वरूप के आधार पर उनकी तुलना तो की जा सकती है किन्तु अपने-अपने सामान्य स्वरूप की भिन्नता के कारण उन्हें एक ही नहीं कहा जा सकता। अर्थहरण का विशिष्ट अवान्तर भेदों के रूप में विभाजन आचार्य राजशेखर की मौलिक उद्भावना है—और उसका अपना विशिष्ट महत्व है। उनकी आलोचना केवल उनकी तुलना करने के रूप में की जा सकती है। उनकी वास्तविक विभिन्नता के कारण उन्हें एक कहना तो नहीं, किन्तु कुछ अंशों में समान कहना सम्भव है।

व्यस्तक एवं व्युत्क्रम :-

प्रतिबिम्ब कल्प अर्थहरण का व्यस्तक भेद तथा आलेख्यप्रख्य का व्युत्क्रम भेद परस्पर समान से हैं।[1] व्यस्तक में किसी रचना में वर्णित पूर्व अर्थ को पर कर देते हैं और पर अर्थ को पूर्व, अर्थात् एक

---

1 'स एवार्थः पौर्वापर्यविपर्यासाद् व्यस्तकः' काव्यमीमांसा (द्वादश अध्याय)
'क्रमेणाभिहितस्यार्थस्य विपरीताभिधानं व्युत्क्रमः' काव्यमीमांसा (त्रयोदश अध्याय)

रचना में वर्णित अर्थ को दूसरी रचना में आगे पीछे कर देते हैं— व्युत्क्रम में पूर्वरचना में किसी वस्तु का जिस क्रम से वर्णन किया गया था, दूसरी रचना में उसी क्रम को विपरीत कर देते हैं। क्रम परिवर्तन दोनों की समान विशेषता है। व्यस्तक में पूर्वरचना में कही गई बात को दूसरी रचना में उसी ढंग से केवल ऊपर नीचे कर देते हैं, किन्तु व्युत्क्रम में पूर्वरचना में किसी वस्तु का जिस क्रम से वर्णन किया गया था उसी वस्तु का दूसरे क्रम से वर्णन करते हुए रचना करते हैं। यहाँ पूर्व रचना में कही गई बात को ऊपर नीचे नहीं किया जाता, बल्कि पूर्व रचना में वर्णित उस वस्तु के क्रम को बदल दिया जाता है। क्रम परिवर्तन दोनों ही भेदों में किया जाता है किन्तु द्वितीय में संस्कार के साथ, यही उनका भेद है। प्रथम में वाक्यरचना का क्रम परिवर्तित किया जाता है, द्वितीय में वर्ण्य वस्तु का क्रम।

तैलबिन्दु, चूलिका एवं कन्द :—

प्रतिबिम्बकल्प अर्थहरण का तैलबिन्दु नामक भेद भी अन्य कई अर्थहरण भेदों से समानता रखता है—जैसे तुल्यदेहितुल्य के चूलिका तथा कन्द नामक भेद से। किसी काव्यरचना में वर्णित संक्षिप्त अर्थ का दूसरी रचना में विस्तारपूर्वक वर्णन करना प्रतिबिम्बकल्प का तैलबिन्दु भेद है। तुल्यदेहितुल्य का चूलिका भेद समान अर्थ को कहकर उसकी अपेक्षा कुछ विशेष अर्थ को कहने से सम्बन्ध रखता है और तुल्यदेहितुल्य का ही एक भेद कन्द एक अर्थ को उसके अंकुर रूप विशेष प्रकारों से चित्रित करने से सम्बद्ध है। यह तीनों भेद पूर्व रचना की अपेक्षा परवर्ती रचना में वर्णन के कुछ व्यापक रूप से सम्बन्ध रखते हैं।[1] तैलबिन्दु में दूसरी रचना में उसी अर्थ का केवल विस्तृत रूप में वर्णन कर दिया जाता है। चूलिका में पूर्व रचना के समान ही अर्थ का वर्णन होता है किन्तु उसमें कुछ विशेषता का सम्बन्ध और जोड़ दिया जाता है। कन्द में एक ही अर्थ को लेकर उसके अङ्कुर रूप विशेष प्रकारों से चित्रित किया जाता है। वह भी एक संक्षिप्त अर्थ के विभिन्न प्रकार से वर्णन रूप विस्तार से सम्बद्ध है। उसी अर्थ का विस्तार तैलबिन्दु की विशेषता है। उसी अर्थ का नहीं, किन्तु समान अर्थ का कथन और उसमें कुछ

---

1. **संक्षिप्तार्थविस्तरेण तैलबिन्दुः** काव्यमीमांसा - (द्वादश अध्याय)
सममभिधायाधिकस्योपन्यासश्चूलिका । कन्दभूतोऽर्थः कन्दलायमानैर्विशेषैरभिधीयत इति कन्दः
काव्यमीमांसा - (त्रयोदश अध्याय)

अतिरिक्त विशिष्टता का आधान कर देना चूलिका की तथा एक ही अर्थ का विशेष प्रकारों से वर्णन कन्द की विशेषता है। तैलबिन्दु में एक ही अर्थ उसी रूप में विस्तृत होता है। चूलिका में पूर्व अर्थ का सदृश अर्थ कुछ विशिष्टता के भी सहित तथा कन्द में कन्द या बीजभूत एक संक्षिप्त अर्थ अपने अनेक विशेष प्रकारों से वर्णित होता है। इस प्रकार अर्थ का किसी न किसी रूप में विस्तृत होना इन तीनों ही भेदों की विशेषता है। किन्तु जिन अर्थहरणों के यह भेद हैं उनकी परस्पर भिन्न मूलभूत विशेषताएं इनके विशिष्ट रूप के समान होने पर भी इन्हें परस्पर पृथक् करती रहती हैं।

सङ्क्रान्तक एवं समक्रम :-

प्रतिबिम्बकल्प अर्थहरण का कहीं देखी गई वस्तु का सङ्क्रमण रूप सङ्क्रान्तक नामक भेद और आलेख्यप्रख्य का समान अर्थ का सङ्क्रमण रूप समक्रम नामक भेद परस्पर पर्याप्त रूप में समान हैं।

समक्रम और सङ्क्रान्तक दोनों भेदों का सम्बन्ध एक समान ही प्रकार के अर्थवर्णन से है। एक स्थान का अर्थ दोनों में ही दूसरे स्थान में सङ्क्रमित हो जाता है, किन्तु सङ्क्रान्तक में यह सङ्क्रमण बिल्कुल उसी रूप में तथा समक्रम में उसी रूप में नहीं बल्कि कुछ पृथक् रूप में होता है। समान अर्थ की ही दूसरे स्थान पर नियोजना होना रूप एक समान वैशिष्ट्य दोनों में है।[1] इन भेदों का आधार समान अर्थ का दूसरे स्थान पर सङ्क्रमण अथवा दूसरे विषय से सम्बद्ध हो जाना है। सङ्क्रान्तक में वही अर्थ पूर्व रचना में जिस स्थान पर वर्णित था दूसरी रचना में उससे भिन्न स्थान में वर्णित होता है, किन्तु उसी रूप में। समक्रम में वही समान अर्थ ही कहीं दूसरे वस्तु, विषय या स्थान से सम्बन्धित हो जाता है किन्तु अल्प संस्कार के साथ। समान अर्थ का सङ्क्रमण होना इन भेदों का समान वैशिष्ट्य है।

सम्पुट एवं माणिक्यपुञ्ज :-

प्रतिबिम्बकल्प का दो भिन्न-भिन्न रचनाओं के भावों का एक ही स्थान पर ग्रहण करने वाला सम्पुट नामक भेद और तुल्यदेहितुल्य का बहुत से अर्थों का एक स्थान पर उपसंहार करने वाला

---

1 दृष्टस्य वस्तुनोऽन्यत्र सङ्क्रमितः सङ्क्रान्तम् — काव्यमीमांसा (द्वादश अध्याय)
सदृशसञ्चारणं समक्रमः — काव्यमीमांसा - (त्रयोदश अध्याय)

माणिक्यपुञ्ज नामक भेद पर्याप्त रूप में समान लगते हैं।[1] प्रथम में दो रचनाओं के भाव ग्रहण किए जाते हैं, किन्तु द्वितीय में अनेक रचनाओं के भाव एक स्थान पर ग्रहण किए जाते हैं। प्रतिबिम्बकल्प के भेद सम्पुट में दो भिन्न-भिन्न रचनाओं के भाव एक स्थान पर बिल्कुल उसी रूप में ग्रहण किए जाते हैं तथा माणिक्यपुञ्ज में भिन्न-भिन्न रचनाओं के भावों को एक स्थान पर भिन्न रूप में ग्रहण किया जाता है—वे सदृश होने के कारण एक से लगते हैं—इस प्रकार कई रचनाओं के भावों को एक रचना में ग्रहण करना रूप विशिष्ट समानता दोनों में है। उनका सामान्य रूप अर्थ को उसी रूप में ग्रहण करने तथा अन्य रूप में ग्रहण करने की दृष्टि से भिन्न है।

नटनेपथ्य एवं समक्रम :-

आलेख्यप्रख्य के नटनेपथ्य एवं समक्रम भेद में भी परस्पर किञ्चित् समानता है।[2] किसी रचना में वर्णित एक ही अर्थ को उक्तिवश अन्यथा कर देना आलेख्यप्रख्य का नटनेपथ्य नामक भेद है। आलेख्यप्रख्य अर्थहरण का ही समान अर्थ का सङ्क्रमण रूप समक्रम भेद भी कुछ ऐसा ही है। नटनेपथ्य में एक ही अर्थ कुछ दूसरी उक्ति से सम्बन्धित होकर दूसरा हो जाता है और समक्रम में समान अर्थ का दूसरे स्थान पर सङ्क्रमण होता है।

विशेषोक्ति एवं सत्कार :-

आलेख्यप्रख्य का सामान्य अर्थ का विशेष रूप से वर्णन रूप विशेषोक्ति तथा परपुरप्रवेशसदृश का सामान्य अर्थ का विशेष रूप में उत्कर्ष करते हुए दूसरे प्रकार से वर्णन रूप सत्कार नामक भेद पर्याप्त सदृश से हैं।[3] विशेषोक्ति में सामान्य अर्थ का ही कुछ अतिरिक्त विशेषता का आधान करते हुए वर्णन किया जाता है तथा सत्कार में सामान्य अर्थ को ही अधिक उत्कृष्ट करने की दृष्टि से उसका किञ्चित् विशेष रूप से वर्णन किया जाता है। सामान्य अर्थ का ही दूसरी रचना में वर्णन रूप समानता दोनों में है

---

1 उभयवाक्यार्थोपादानं सम्पुट: — काव्यमीमांसा - (द्वादश अध्याय)
बहूनामर्थानामेकत्रोपसंहारो माणिक्यपुञ्ज: — काव्यमीमांसा - (त्रयोदश अध्याय)

2 'तदेववस्तूक्तिवशादन्यथा क्रियत इति नटनेपथ्यम्'। सदृशसञ्चारणं समक्रम: — काव्यमीमांसा - (त्रयोदश अध्याय)

3 सामान्यनिबन्धे विशेषाभिधानं विशेषोक्ति:। तस्यैव वस्तुन उत्कर्षेणान्यथाकरणं सत्कार:
काव्यमीमांसा - (त्रयोदश अध्याय)

तथा विशिष्टता का आधान भी दोनों में किया जाता है। एक में किसी अतिरिक्त विशेपता का भी उल्लेख करते हुए तथा द्वितीय में सामान्य बात का किसी विशेप वस्तु का व्यक्ति से सम्बन्ध जोड़ते हुए, क्योंकि इस प्रकार से सामान्य अर्थ और भी उत्कृष्ट हो जाता है। आलेख्यप्रख्य के भेद विशेपोक्ति में वही अर्थ विशेषता के उल्लेख रूप किञ्चित् संस्कार के साथ वर्णित होता है तथा सत्कार में सामान्य अर्थ का मूल रूप अपने उत्कर्प हेतु किसी विशेप से सम्बद्ध हो जाता है। अत: अपने विशिष्ट रूप में पूर्ण नहीं, कुछ समानता, किन्तु अपने सामान्य रूप में पर्याप्त भिन्नता इन भेदों की विशेपता है।

हुडयुद्ध एवं तद्विरोधी :-

परपुरप्रवेशसदृश अर्थहरण के हुडयुद्ध तथा तद्विरोधी भेद काफी अंशों में मिलते जुलते हैं।[1] हुडयुद्ध में प्राचीन कवि की रचना का दूसरी रचना में कवि कुछ युक्ति देते हुए परिवर्तन कर देता हैं—तथा तद्विरोधी में पूर्वकवि द्वारा वर्णित वस्तु से विरुद्ध वस्तु का वर्णन किया जाता है। विरूद्ध वस्तु या विषय का वर्णन दोनों स्थानों पर समान है। हुडयुद्ध में विरूद्ध वस्तु या विषय का वर्णन युक्ति द्वारा किया जाता है किन्तु तद्विरोधी में केवल पूर्वरचना के किसी विरोधी भाव का वर्णन किया जाता है, युक्ति देने की न आवश्यकता होती हें और न युक्ति दी ही जाती है। यह दोनों भेद एक प्रमुख प्रकार के अर्थहरण के अङ्ग हैं, अत: इनमें सामान्य विशेषता भी एक सी है—मूल वस्तु का समान होना, वर्णन प्रकार का भिन्न होना। यह अपने विशिष्ट रूप में कुछ समान भी हैं, कुछ भिन्न भी।

हरणकर्ता कवियों के भेद :-

अर्थहरणों के चार प्रकार के आधार पर आचार्य राजशेखर ने कवियों के भी चार प्रकार के विभाग किए हैं। ये कवि हैं—भ्रामक, चुम्बक, कर्षक तथा द्रावक। इन कवियों को उन्होंने लौकिक कवियों की संज्ञा दी है—इस दृष्टि से यह कवि साधारण हैं। इन कवियों के अतिरिक्त कुछ कवि अर्थहरण से पूर्णत: पृथक रहते हैं—ऐसे अदृष्टपूर्व अर्थ के निर्माण में कुशल कवि आचार्य राजशेखर की दृष्टि में अलौकिक चिन्तामणि कवि हैं—

---

1 उपनिबद्धस्य वस्तुनो युक्तिमती परिवृत्तिर्हुडयुद्धम्। पूर्वार्थपरिपन्थिनी वस्तुरचना तद्विरोधी
काव्यमीमांसा - (त्रयोदश अध्याय)

इन कवियों को अलौकिक कहने का तात्पर्य उन्हें असाधारण कवियों की कोटि में रखना ही हैं।

अर्थहरणकर्ता कवियों में से प्रथम भ्रामक कवि किसी प्राचीन रचना को अपनी बताकर प्रसिद्ध करता है। अपने इस कार्य में वह पूर्व कवि की अप्रसिद्धि आदि कारणों से सफल होता है।[1] यद्यपि रचना पूर्णतः किसी पूर्व कवि की है फिर भी वह लोगों को भ्रम में डाल देता है। यद्यपि इस अर्थकरणकर्ता कवि का आचार्य के कथानुसार प्रतिबिम्बकल्प अर्थहरण से सम्बन्ध माना जाना चाहिए किन्तु प्रतिबिम्ब कल्प अर्थ वह है जिसमें पूर्व रचना का सम्पूर्ण अर्थ होने पर भी केवल शब्द विन्यास की भिन्नता हो। परन्तु भ्रामक कवि तो पूर्व रचना को ही पूर्व कवि के अप्रसिद्धि आदि कारणों से अपनी नवीन रचना बताकर प्रचारित करता है। इस कवि की रचना में तो पूर्व रचना से वाक्यविन्यास की भी भिन्नता नहीं है। अतः इस भ्रामक कवि को उसकी परिचायक परिभाषा को दृष्टि में रखते हुए प्रतिबिम्बकल्प से सम्बद्ध मानना समीचीन नहीं है।

द्वितीय प्रकार के अर्थहरण आलेख्यप्रख्य में प्राचीन रचना की ही वस्तु (अर्थ) कुछ संस्कार कर दिए जाने से प्राचीन से भिन्न प्रतीत होने लगती है। इस दृष्टि से अर्थहरणकर्ता कवियों में चुम्बक कवि—इस आलेख्यप्रख्य अर्थ से सम्बद्ध माना जा सकता है क्योंकि चुम्बक कवि का वैशिष्ट्य है दूसरे कवि के अर्थ को अपने मनोहारी वाक्य के द्वारा कुछ अतिरिक्त शोभा से युक्त करते हुए प्रस्तुत करना।[2]

तृतीय प्रकार के तुल्यदेहितुल्य अर्थ भेद में पूर्व रचना से अर्थ का वस्तुतः भेद होने पर भी किसी अत्यन्त सादृश्य के कारण अभेद की प्रतीति होती है। अर्थहरणकर्ता कवियों का भेद अर्थहरण भेदों के आधार पर ही है। इस दृष्टि से कवि के तृतीय प्रकार कर्षक को तुल्यदेहितुल्य भेद से सम्बद्ध होना चाहिए—किन्तु कर्षक कवि का वैशिष्ट्य है—दूसरे के वाक्यार्थ को लेकर उसका अपनी रचना में

---

1 तन्वानोऽनन्यदृष्टत्वं पुराणस्यापि वस्तुनः।
योऽप्रसिद्ध्यादिभिर्भ्राम्यत्यसौ स्याद् भ्रामकः कविः॥ काव्यमीमांसा - (द्वादश अध्याय)

2 यश्चुम्बति परस्यार्थं वाक्येन स्वेन हारिणा।
स्तोकार्पितनवच्छायं चुम्बकः स कविर्मतः॥ काव्यमीमांसा - (द्वादश अध्याय)

किञ्चित् विशिष्ट उल्लेख सहित निवेश करना।[1] तुल्यदेहितुल्य का वैशिष्ट्य है—पूर्वरचना से भिन्न अर्थ, जो केवल अत्यन्त सादृश्य के कारण अभिन्न प्रतीत होता है। किन्तु कर्षक कवि तो पूर्व रचना के ही अर्थ को किञ्चित् विशिष्ट उल्लेख सहित अपनी रचना में अपनाता है, भिन्न अर्थ को नहीं—अतः इस कवि के अर्थ में तुल्यदेहितुल्य अर्थ का वैशिष्ट्य न मिलने के कारण उसे उससे सम्बद्ध नहीं माना जा सकता।

चुम्बक तथा कर्षक दो विभिन्न कवि प्रकार स्वीकार किए गए हैं किन्तु उनमें विशिष्ट अन्तर नहीं है। दोनों ही पूर्व रचना के अर्थ को अपनी वाक्य रचना में अपनाते हैं। चुम्बक कवि पूर्व अर्थ को कुछ अतिरिक्त शोभा प्रदान करता है तथा कर्षक कवि अतिरिक्त विशिष्ट उल्लेख से पूर्व रचना के भाव को युक्त करता है।

चतुर्थ कवि प्रकार द्रावक का वैशिष्ट्य है—किसी पूर्व रचना के मूल अर्थ को अपनी रचना में नवीन रूप में इस प्रकार प्रस्तुत करना कि मूल अर्थ किसी पूर्व रचना का है यह भी ज्ञात न हो।[2] यह कवि अर्थहरण के चतुर्थ प्रकार परपुरप्रवेशसदृश से पूर्णतः सम्बद्ध प्रतीत होता है क्योंकि मूल वस्तु का ऐक्य तथा रचना में सर्वथा भेद परपुरप्रवेशसदृश अर्थहरण भेद का वैशिष्ट्य है। इस प्रकार इन कवियों को पृथक् रूप से एक एक अर्थहरण से सम्बद्ध करना सम्भव नहीं है, क्योंकि परिभाषा की दृष्टि से आलेख्यप्रख्य तथा परपुरप्रवेशसदृश अर्थ से चुम्बक तथा द्रावक कवि तो सम्बद्ध किए जा सकते हैं, किन्तु भ्रामक तथा कर्षक कवि राजशेखर द्वारा दी गई उनकी परिभाषा को दृष्टि में रखते हुए प्रतिबिम्बकल्प तथा तुल्यदेहितुल्य अर्थ से सम्बद्ध नहीं किए जा सकते।

आचार्य राजशेखर ने हरण की ही दृष्टि से कवि विभाग करते हुए कवियों को कुछ अन्य नाम भी दिए हैं—उत्पादक, परिवर्तक, आच्छादक तथा संवर्गक।[3] उत्पादक कवि अपने प्रतिभा गुण के

---

1 परवाक्यार्थमाकृष्य यः स्ववाचि निवेशयेत्।
सम्मुलेखेन केनापि स स्मृतः कर्षकः कविः॥ काव्यमीमांसा - (द्वादश अध्याय)

2 अप्रत्यभिज्ञेयतया स्ववाक्ये नवतां नयेत्।
यो द्रावयित्वा मूलार्थं द्रावकः स भवेत्कविः॥ काव्यमीमांसा - (द्वादश अध्याय)

3 उत्पादकः कवि कश्चित्कश्चिच्च परिवर्तकः।
आच्छादकस्तथा चान्यस्तथा संवर्गकोऽपरः॥ काव्यमीमांसा - (एकादश अध्याय)

कारण पूर्णतः मौलिक रचना करने में समर्थ हैं। परिवर्तक कवि दूसरों के ही अर्थों को उलट पुलट कर अपने शब्दों में परिवर्तित करते हैं। आच्छादक कवि दूसरों की रचनाओं से हरण करके भी उसे छिपाने में समर्थ होते हैं तथा संवर्गक कवि दूसरे का अर्थहरण करके अपने शब्दों में रखने में समर्थ होते हैं। इन चार कवियों का आचार्य राजशेखर ने नाम मात्र से उल्लेख किया है। इनका वैशिष्ट्य क्या है यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया है। इनका शब्दहरण के अध्याय में उल्लेख होने से केवल शब्दहरण से ही उन्हें सम्बद्ध मानने का उनका तात्पर्य रहा हो यह भी सम्भव है, किन्तु यह पूर्णत स्पष्ट नहीं है। फिर भी इनके नाम की दृष्टि से उत्पादक कवि का मौलिक रचना करने वाले चिन्तामणि कवि से, दूसरों के अर्थों को उलट पलट कर अपनी रचना में परिवर्तित करने वाले परिवर्तक कवि का दूसरों के अर्थों को विशिष्ट उल्लेख से युक्त करके अपने शब्दों में प्रस्तुत करने वाले कर्षक कवि से, दूसरों की रचनाओं में से किए गए हरण को छिपाने में समर्थ आच्छादक कवि का पूर्वरचना की मूल वस्तु लेकर अपने शब्दों में प्रस्तुत करने वाले द्रावक कवि से तथा दूसरों का अर्थहरण करके अपने शब्दों में प्रस्तुत करने वाले संवर्गक कवि का दूसरों के अर्थों को अपनी रचना में किञ्चित् शोभा से युक्त रूप में प्रस्तुत करने वाले चुम्बक कवि से ऐक्य स्वीकार किया जा सकता है। इसमें से उत्पादक कवि के सम्बन्ध में बाणभट्ट का विचार है कि इस प्रकार के कवि दुर्लभ हैं।[1]

अर्थहरण प्रकारों की दृष्टि से परिवर्तक कवि को आलेख्यप्रख्य अर्थहरण से, आच्छादक कवि को परपुरप्रवेशसदृश अर्थहरण से तथा संवर्गक कवि को प्रतिबिम्बकल्प अर्थहरण से सम्बद्ध माना जा सकता है।

मौलिकता :-

कवि की मौलिकता को उसके सर्वाधिक उत्कृष्ट गुण के रूप में प्रायः सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। काव्य में जो अर्थ वर्णनीय है वे प्राचीन हैं या नवीन यह मौलिकता या नवीनता का क्षेत्र नहीं है। मौलिकता केवल इसी बात से सम्बद्ध है कि वर्णन करने वाला कवि किसी भी अर्थ को कितने

---

1 सन्ति श्वान इवासंख्या जातिभाजो गृहे गृहे उत्पादका न बहवः कवयश्शरभा इव ।6।
हर्षचरित (बाणभट्ट) प्रथम उच्छ्वास

अधिक से अधिक नवीन रूप में अन्यों से विलक्षण रूप में प्रस्तुत कर सकता है। इस प्रकार काव्य की मौलिकता का सम्बन्ध काव्य का विषय कितना मौलिक तथा नवीन है इस बात से कम, किन्तु विषय का प्रस्तुतीकरण कितने नवीन ढंग से कितने मौलिक रूप में हुआ है इस बात से अधिक है। सर्वथा विलक्षण सर्वथा नवीन एवं अतिशय प्रभावशाली रूप में प्रस्तुतीकरण का कारण कवि प्रतिभा ही है और इस रूप में प्रस्तुतीकरण पूर्ववर्णित किसी भी अर्थ का सम्भव है। नवीन तथा मौलिक विषय का तो सम्भव ही है। मौलिक वस्तु या विषय वे हैं जो अपने पूर्व की वस्तुओं से विलक्षण हों, यह विलक्षणता जिस किसी भी काव्य में हो उसे मौलिक कहा जा सकता है।

आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार व्यञ्जकता तथा गुणीभूतव्यञ्जकता काव्य मौलिकता के सबसे बड़े प्रमाण हैं। अर्थ में व्यञ्जकता के स्पर्श से नवीनता तथा मौलिकता आ ही आती है।[1] प्राचीन कवियों द्वारा स्पष्ट पूर्ववर्णित अर्थ भी ध्वनि के किसी भेद के स्पर्श से रमणीय तथा नवीन प्रतीत होता है तथा रस ध्वनि के स्पर्श से उसे सर्वाधिक रमणीयता तथा नवीनता प्राप्त होती है। आचार्य आनन्दवर्धन की दृष्टि में इसी एक कारण से अर्थों में नवीनता तथा मौलिकता आती है। यही एक कारण है कि सङ्ग्राम वर्णन रूप अर्थ ही रामायण तथा महाभारत आदि में पुनः-पुनः दिखाई देते हैं किन्तु रस स्पर्श के कारण उनकी प्रतीति नवीन रूप में ही होती है।

कवियों की रचनाओं में सदा अर्थ मौलिकता होने पर भी कभी-कभी दो कवियों की रचनाओं में एक से अर्थ ही देखे जाते हैं। इस विषय का कारण आचार्य आनन्दवर्धन की दृष्टि में महाकवियों का बुद्धि साम्य है। कवियों का बुद्धि साम्य ही यद्यपि अर्थसाम्य का कारण होता है, किन्तु फिर भी कुछ साम्य ऐसे होते हैं कि उनको पूर्व मानकर ही ग्रहण किया जाता है। बिम्ब तथा चित्रवत् साम्य ऐसे ही हैं। इस प्रकार के समान अर्थों में केवल देहतुल्य साम्य ही उपादेय हैं। सम्भवतः न्यून प्रतिभागुण से युक्त कवियों के ध्वनि के स्पर्श से रहित काव्यों में ही बिम्बवत् तथा चित्रवत् साम्य आ जाता है, किन्तु

---

1. ध्वनेर्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याध्वा प्रदर्शितः
अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः ।1।
अतो ह्यन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता
वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वयवत्यपि ।2। (ध्वन्यालोक - चतुर्थ उद्योत)

जो कवि ध्वनि से युक्त काव्य रचना करते हैं, उनमें भावसाम्य होने पर भी नवीनता तथा मौलिकता अवश्य होगी। इनके काव्य में किसी से बिम्ब तथा चित्रवत् साम्य आ ही नहीं सकता, क्योंकि ध्वनि का स्पर्श ही अर्थों को नवीन बना देता है—उसी रूप में नहीं रहने देता। यदि ध्वनि के स्थल में कवि का किसी अन्य कवि से भावसाम्य होगा तो केवल देहवत् ही, अन्यथा उसके द्वारा वर्णित अर्थ अपूर्व तथा मौलिक ही होगा। कवियों की बुद्धि सादृश्य के कारण उनमें भाव साम्य आ जाना तो सामान्य सी बात है, किन्तु उस भाव साम्य का निकृष्ट रूप तब उपस्थित हो जाता है जब कवि के काव्य में व्यङ्ग्यार्थ का संस्पर्श न हो। भाव साम्य का यह निकृष्ट रूप किसी पूर्व अर्थ के प्रतिबिम्ब रूप में अथवा चित्र रूप में प्रस्तुत होता है। अतः भावसाम्य आने पर भी उसके निकृष्ट रूपों का—बिम्ब तथा चित्र का—निवारण केवल अर्थ में व्यङ्ग्यार्थ की योजना से ही सम्भव है।

अधिकतर अर्थ वाल्मीकि, व्यास आदि पूर्व महाकवियों द्वारा वर्णित हो ही चुके हैं, फिर उनके नवीनत्व का कारण केवल उनका ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य के भेद रूप किसी अर्थ के रूप में वर्णित होना ही हो सकता है। सभी अर्थ किसी न किसी कवि द्वारा वर्णित हो ही चुके हैं—इस कारण काव्यार्थ का क्षेत्र सीमित है किन्तु इन परिमित अर्थों का भी क्षेत्र रसादि के परिवेश में विस्तृत हो सकता है—ऐसी आनन्दवर्धन की धारणा है। जिस प्रकार मधुमास में पुराने वृक्ष भी नवीन शोभा धारण करते हैं, उसी प्रकार रसपरिपोष सभी काव्यार्थों को नवीन बना देता है।[1]

सभी अर्थ पूर्वस्पृष्ट ही होते हैं उनकी नवीनता तथा मौलिकता व्यङ्ग्य के स्पर्श से सम्भव है किन्तु पूर्व स्पृष्ट अर्थ कभी-कभी वाच्यार्थ रूप में भी जब कि उनमें देश, काल, अवस्था, अथवा स्वरूप आदि का भेद हो अनन्त तथा नवीन हो सकते हैं। इस प्रकार मूल अर्थों का ऐक्य होने पर भी अर्थ बाह्य भेदों से विभिन्न हो सकते हैं।

काव्य तथा काव्यार्थ की नवीनता तथा मौलिकता का प्रमाण है सहृदयों को नवीन सूझ तथा नवीन स्फुरण से युक्त रूप में उसकी प्रतीति होना। जिस वस्तु के विषय में सहृदयों को यह अनुभूति हो

---

1. दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात् सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः ॥ 4 ॥

(ध्वन्यालोक - चतुर्थ उद्योत)

जाए कि यह कवि की नवीन सूझ एवं नवीन कल्पना है वह वस्तु या अर्थ पूर्व कवि द्वारा वर्णित हो चुका हो अथवा नहीं, नवीन तथा रमणीय ही है। इस प्रकार सहृदय ही काव्य की मौलिकता तथा रमणीयता के प्रमाण हैं।

नवीनता तथा मौलिकता का सर्वत्र स्थान है—आनन्दवर्धन के इस विचार पर पूर्वपक्ष को शङ्का है—कवि जिन सुखादि तथा सुखादि के साधन स्रक्, चन्दन, वनितादि का नायकादि में आरोप करके वर्णन करता है वे समस्त अनुभवकर्ताओं के लिए एक रूप हैं और इस प्रकार सभी वर्णनीय पदार्थ अपने समान रूप में ही वर्णित होते हैं और वे परिमितता के कारण अब नवीन नहीं रह गए हैं—वरन् पूर्व कवियों को सभी अर्थ ज्ञात हो चुके हैं। ऐसी स्थिति में नवीनता तथा मौलिकता की बात करना व्यर्थ है। जो अर्थ को नवीन तथा मौलिक कहते हैं वे केवल अभिमान करते हैं। अर्थ में मौलिकता तथा नवीनता नहीं होती, केवल उक्तिवैचित्र्य ही होता है।

इस विषय में यही कहा जा सकता है कि अर्थ का प्राचीन तथा पूर्ववर्णित होना तो आनन्दवर्धन स्वयं ही स्वीकार कर चुके हैं—फिर भी ध्वनि का स्पर्श इन प्राचीन अर्थों को ही नवीन बना देता है। अर्थ नवीन तथा मौलिक न हो तो भी वे कवि के महत्त्वपूर्ण वर्णन द्वारा नवीन तथा मौलिक हो जाते हैं—आचार्य आनन्दवर्धन को यह भी स्वीकार नहीं है कि केवल वस्तु के सामान्य रूप का ही वर्णन होता है। उनकी धारणा है कि सामान्य रूप का भी जो वर्णन होता है भले ही वह सभी अनुभव कर्ताओं के लिए समान हो किन्तु उसमें कवि के अनुभव का अपना विशेष रूप भी सम्मिलित रहता है, इस प्रकार जो भी वर्णन किया जाता है कवि के अपने अनुभव के वैशिष्ट्य सहित ही। प्रत्येक कवि की प्रतिभा के वैचित्र्य से उसके द्वारा वर्णित अर्थ में भी वैचित्र्य तथा नवीनता आ ही जाती है इस प्रकार अर्थ कभी भी परिमित नहीं हो सकते। यदि कवियों में प्रतिभागुण है तो अर्थों में अनन्तता अवश्य होगी, वे कभी भी ससीम नहीं हो सकते।[1] इसके साथ ही वचन का वैचित्र्ययुक्त होना उक्तिवैचित्र्य है और शब्द, अर्थ का, वाच्य तथा वचन का अविनाभाव सम्बन्ध होने से वचन का वैचित्र्य वाच्य के वैचित्र्य को

---

1 ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च समाश्रयात् न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात्प्रतिभागुणः ॥ 6 ॥

ध्वन्यालोक - (चतुर्थ उद्योत)

भी सिद्ध करता है। यदि वचन तथा उक्ति विचित्र हैं तो उनके द्वारा प्रतिपादित वाच्य का भी वैचित्र्ययुक्त होना सिद्ध होता है तथा वाच्य में वैचित्र्य होना उसकी नवीनता तथा मौलिकता को सिद्ध करता है।

कवि के काव्य की मौलिकता का प्रधान कारण कवि की प्रतिभा ही है। प्रत्येक कवि जो वस्तुत: कवित्वशक्ति से युक्त है, मौलिक अर्थ का ही वर्णन करता है। प्रतिभा सम्पन्न कवि के लिए अर्थों की कोई सीमा नहीं होती। सभी विषयों पर पहले काव्यरचना हो चुकी हो फिर भी उसको नवीन विषय मिल ही जाते हैं। आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार प्रतिभा से प्रतिस्फुरित ध्वनि रूप अलौकिक अपूर्व अर्थ का महाकवियों से ही सम्बन्ध है। यदि काव्यों की अनन्तता सभी अर्थों के समाप्त हो जाने का सङ्केत करे तो भी वे सभी अर्थ प्रतिभा द्वारा उद्भावित ध्वनि के रूप में परिवर्तित होकर असंख्य तथा नवीन हो जाते हैं। मूल वस्तु की एकता होने पर भी पूर्ववर्णित अर्थ परवर्ती रचना में ध्वनिरूप की भिन्नता के कारण पूर्व नहीं, किन्तु नवीन ही अर्थ के रूप में प्रतीत होते हैं।

प्रतिभा के द्वारा पूर्व अर्थों का भी नवीन रूप में उन्मेष सम्भव है, किन्तु प्रतिभा के न होने पर नवीन अर्थों की उद्भावना नहीं हो सकती। जब बाल्मीकि, व्यास जैसे पूर्व कवि हो चुके हैं तो किसी भी अर्थ का काव्यार्थ बनने से शेष रह जाना सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में जिन कवियों में प्रतिभा है वे तो पूर्ववस्तु को भी ध्वनि भेदों के स्पर्श से चमत्कारयुक्त अपूर्व वस्तु के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। किन्तु जो प्रतिभागुण से हीन होने पर भी कवि बनने का प्रयत्न करते हैं वे पूर्व अर्थों का उसी रूप में वर्णन करते हुए काव्यरचना करते हैं।

बाल्मीकि आदि पूर्व कवियों द्वारा सभी अर्थों के वर्णित किए जाने पर भी प्रतिभागुण केवल उन्हीं आदि पूर्व कवियों तक ही सीमित नहीं हो गया है। अन्य कवि भी प्रतिभा सम्पन्न होते हैं और अपने इसी गुण से प्राचीन अर्थों को नवीन बना लेते हैं।

आचार्य कुन्तक का सुकुमार मार्ग नवशब्दार्थ से मनोहारी है—[1] किन्तु इसके अतिरिक्त उनका विचित्र मार्ग भी है—जिसके अनुसार महाकवि की प्रतिभा के प्रभाव से अनूतनोल्लेख का भी मनोहारी

---

1. अम्लानप्रतिभोद्भिन्ननवशब्दार्थबन्धुर: अयत्नविहितस्वल्पमनोहारिविभूषण: । 25। प्रथम उन्मेष
वक्रोक्तिजीवित (कुन्तक)

रूप उपस्थित होता है। पूर्व अर्थ का भी मौलिक रूप में अपूर्व शैली से वर्णन कर सकना आचार्य कुन्तक स्वीकार करते हैं।[1] जो पदार्थ पहले प्रतीत हो चुके हैं उनके प्रतिनिधि रूप दूसरे पदार्थ की प्राप्ति न हो सकना भी सम्भव हो सकता है। ऐसी स्थिति में कवि अत्यधिक सुकुमार अनिर्वचनीय अपूर्व शैली से सम्भवत: उसी पदार्थ का वर्णन करके काव्यरचना करते हैं।

प्रत्येक कवि के काव्य में उसकी अपनी विशिष्ट प्रतिभा से उत्पन्न वैचित्र्य होता है। अत: अर्थ के एक या एक समान होने पर भी उक्तिवैचित्र्य सभी अर्थों को नवीन बना देता है। किसी भी अर्थ के वर्णन में कवि की अपनी प्रतिभा का प्रभाव अवश्य होता है तथा प्रतिभा की विशेषता है नवनवोन्मेष—इसलिए नवनवोन्मेपशालिनी प्रतिभा के प्रभाव से रचे गए काव्य में वैचित्र्य तथा नवीनता अवश्य होते हैं। पूर्वजन्म के संस्कार से प्राप्त प्रतिभा के कारण कवि के मानस में अर्थ की उद्‌भावना स्वयं ही होती है, विशेष प्रयत्न पूर्वक उसका उल्लास नहीं होता।

आचार्य अभिनवगुप्त की धारणा है कि प्रतिभा के प्रभाव से विचित्र तथा अपूर्व अर्थ का निर्माण कर सकने वाला कवि ही प्रजापति के समान सृष्टि करने के महत्व को प्राप्त करता है।

महाकवि कभी भी दूसरों से शब्द, अर्थ लेने का प्रयास नहीं करते, उनके मानस में नवीन तथा अभिवाञ्छित अर्थ सरस्वती द्वारा स्वयं उद्‌बुद्ध होते रहते हैं। वाक्पतिराज आदि आचार्यो के अनुसार सरस्वती का भण्डार कभी खाली नहीं होता। नवीन विषयों का परिस्फुरण कवियों के मानस में सदा ही होता रहता है, कवि मानस का यही वैशिष्ट्य है। यदि मानस में नवीन विषयों का परिस्फुरण होता है तो कवि उन्हें अपने मौलिक ढंग से काव्य में आबद्ध करने में भी समर्थ होता है। जहाँ तक अर्थ मौलिकता का प्रश्न है कवि का ज्ञानमय चक्षु कौन से अर्थ मौलिक है और कौन से प्राचीन इसका निर्णय करने में स्वयं ही समर्थ होते हैं। दूसरों के द्वारा निबद्ध किए अर्थो में महाकवि अन्धे के समान होते हैं तथा नवीन विषयों की प्राप्ति उन्हें दिव्य दृष्टि से हो जाती है। कवियों के मानस में सारा विश्व ही

---

1 यदप्यनूतनोल्लेखं वस्तु यत्र तदप्यलम् उक्तिवैचित्र्यमात्रेण काष्ठां कामपि नीयते । 38। प्रथम उन्मेष
वक्रोक्तिजीवित - (कुन्तक)

प्रतिबिम्बित होता रहता है। वे किसी भी विषय को लेकर अपनी प्रतिभा से उसमें चमत्कार का सन्निवेश करके काव्य रचना कर सकते हैं। नवीन शब्द, अर्थ महाकवियों के काव्य में स्थान पाने के लिए स्वयं ही प्रतिस्पर्धा करने लगते हैं।[1]

जब प्रारम्भिक अभ्यासी कवि महाकवित्व के श्रेष्ठ स्तर तक पहुँच जाता है, तब उसके लिए नवीन तथा पूर्वनियोजित अर्थो का विभाग स्वयं ही स्पष्ट हो जाता है और दिव्यदृष्टि से उसे नवीन मौलिक अर्थ स्वयं ही मिलते रहते हैं।

नवीन मौलिक अर्थ की श्रेष्ठ अर्थ के रूप में स्वीकृति सर्वत्र है। हर्षचरित के रचयिता बाणभट्ट की दृष्टि में कहीं से अर्थ चुराने वाला कवि हेय है। उनका विचार है कि मौलिक, अलौकिक तथा नवीन अर्थ की उद्‌भावना करने वाले कम पाए जाते हैं किन्तु फिर भी श्रेष्ठता उन्हीं की है। सहृदय अपने प्रतिभागुण के प्रभाव से काव्यार्थ को मौलिकता तथा अमौलिकता की कसौटी पर कस लेते हैं। वे अर्थ की गहराई तथा उसके पूर्ववर्णित अथवा मौलिक होने के वैशिष्ट्य को देख ही लेते हैं।

अग्निपुराण में तो अयोनिज अर्थ से युक्त होना काव्य का वैशिष्ट्य बतलाया गया है।[2] अभ्यास की दृष्टि से उपजीवन का महत्व स्वीकार करते हुए भी काव्यशिक्षा विषयक ग्रन्थ के रचयिता परवर्ती आचार्य विनयचन्द्र कवि के वैशिष्ट्य का सम्बन्ध उसके नवीन अर्थ का अभिलाषी होने से ही जोड़ते हैं।

उपजीवन को स्वीकार करते हुए भी आचार्य भोजराज रस के परिपोष में नवीन तथा मौलिक अर्थ को ही कारण मानते हैं। इसी प्रकार कविशिक्षा के सम्बन्ध में अभ्यास हेतु उपजीवन की शिक्षा

---

1 सुप्तस्यापि महाकवेः शब्दार्थौ सरस्वती दर्शयति तदितरस्य तत्र जाग्रतोऽप्यन्धं चक्षुः। अन्यदृष्टचरे ह्यर्थे महाकवयो जात्यन्धास्तद्विपरीते तु दिव्यदृशः। न तत् त्र्यक्षः सहस्राक्षो वा यच्चर्मचक्षुषोऽपि कवयः पश्यन्ति। मतिदर्पणे कवीनां विश्वं प्रतिफलति। कथं नु वयं दृश्यामह इति महात्मनामहंपूर्विकयैव शब्दार्थाः पुरो धावन्ति। यत्सिद्धप्रणिधाना योगिनः पश्यन्ति, तत्र वाचा विचरन्ति कवय इत्यनन्ता महाकविषु सूक्तयः। 'समस्तमस्ति' इति यायावरीयः।

काव्यमीमांसा - (एकादश अध्याय)

2 काव्यं स्फुरदलङ्कारं गुणवद्दोषवर्जितम् योनिर्वेदश्च लोकश्च सिद्धमर्थादयोनिजम् ।7। (प्रथम अध्याय)

अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग

देकर भी कविशिक्षा के ही संदर्भ में नवीन वस्तु के उत्पादन का प्रयत्न आचार्य क्षेमेन्द्र ने आवश्यक वतलाया है। उनका विचार है कि जो दूसरों से कुछ ग्रहण किए बिना अपने ही उन्मेष से कवि बन सके उसे अन्य किसी के उपजीवन की आवश्यकता नहीं होती। वह तो स्वयं ही सबका उपजीव्य बन जाता है। आचार्य विश्वेश्वर की साहित्यमीमांसा ग्रन्थ में कवि अपने दर्शन गुण के कारण ऋषियों के समान ही द्रष्टा कहा गया है—क्योंकि वह नवीन अर्थ तथा बन्ध का दर्शन करके उनका मनस् में उद्‌भावन करके काव्यरचना करता है।

पंडितराज जगन्नाथ भी काव्य में अर्थमौलिकता तथा अर्थोपजीवन दोनों को ही स्वीकार करते हैं—इस विषय से सम्बद्ध उनका समाधिगुण अपनी ही विशेषता रखता है।[1] इस समाधिगुण का उन्होंने काव्य में वर्णित अर्थ से सम्बन्ध माना है। समाधिगुण के दो पक्षों में से एक का सम्बन्ध—'यह अर्थ जिसका मैं वर्णन करने जा रहा हूँ, पहले किसी के द्वारा वर्णित नहीं हुआ है' कवि के इस विचार रूप अर्थ मौलिकता से जोड़ा जा सकता है तथा द्वितीय पक्ष का सम्बन्ध उपजीवन से।

शब्दों, अर्थों, उक्तियों में नवीन-नवीन देखना तथा कुछ मौलिक उल्लेख करने में समर्थ होना महाकवित्व या श्रेष्ठ कवित्व का वैशिष्ट्य है। इस प्रकार आचार्य राजशेखर की दृष्टि में भी महाकवित्व या श्रेष्ठ कवित्व की कसौटी कवि की रचना में उसकी प्रतिभा के प्रकर्ष से प्रतीत होने वाली नवीनता तथा मौलिकता है। भले ही वह किसी मौलिक भाव अथवा विषय पर रची गई रचना हो अथवा दूसरे से शब्द अर्थ लेकर उसमें स्वप्रयत्न से नवीनता तथा मौलिकता का समावेश करते हुए रचित कविता। पूर्ववर्णित अर्थ केवल अभ्यासी कवि के काव्य में ही नहीं, किन्तु महाकवियों के काव्यों में भी प्राय: पाए जाते हैं, किन्तु उनकी महानता इसी में है कि वे प्राचीन शब्दों, अर्थों में भी नवीनता लाते हैं और उन्हें मौलिक बनाकर अपनी ही रचना के रूप में प्रदर्शित करने में समर्थ होते हैं। रचना का भाव अथवा अर्थ कहीं और से लिया गया हो फिर भी रचना नवीन तथा मौलिक हो यह कवि की सामर्थ्य का ही

---

1. '**अवर्णितपूर्वोऽयमर्थः** पूर्ववर्णितच्छायो वेति कवेरालोचनं समाधिः।' (प्रथमानन)
रसगङ्गाधर (पण्डितराज जगन्नाथ)

प्रतीक है। इसी कारण आचार्य राजशेखर का कथन है कि बहुत से अर्थहरण के उपाय ऐसे हैं जिन्हें महाकवि भी अपनाते हैं। नवीनता तथा मौलिकता जो कि श्रेष्ठ काव्य का जीवन है हरण किए गए स्थलों में भी होनी चाहिए ऐसा ही आचार्य राजशेखर का विचार है।

इसके अतिरिक्त उच्चकोटि के कवियों का दूसरों के अर्थग्रहण से ग्रहण से कोई सम्बन्ध नहीं हैं। वे प्रतिभा प्रसूत अर्थों की ही रचना करते हैं और उनकी रचना मौलिकतापूर्ण ही होती है यह भी स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि आचार्य राजशेखर की दृष्टि में विद्वान् तथा उत्कृष्ट कोटि के कवियों का सम्बन्ध केवल दो ही प्रकार के अर्थहरणों से है—तुल्यदेहितुल्य तथा परपुरप्रवेशसदृश। उनमें से प्रथम में अर्थभिन्न होने पर भी सादृश्य के कारण अभिन्न प्रतीत होते हैं—ऐसी सदृश रचना करने वालों को दूसरे का अर्थग्रहण करने वाला कहना औचित्यपूर्ण नहीं है—क्योंकि वे केवल सदृश रचना करते हैं वही अर्थ लेकर रचना नहीं करते। परपुरप्रवेशसदृश में मूल वस्तु का ऐक्य होने पर भी काव्य रचना में भेद होता है—यहाँ भी सादृश्य ही क्रियाशील है, तद्वस्तु नहीं। इसलिए उत्कृष्ट कोटि के कवियों का मौलिकता से नित्य सम्बन्ध आचार्य राजशेखर की दृष्टि से भी माना जा सकता है।[1]

कवि चोर अवश्य होता है आचार्य के इस कथन का सम्बन्ध प्रत्येक कवि के अपने काव्यनिर्माण में किसी पूर्व कवि से प्रभावित होने से ही माना जा सकता है। प्रत्येक कवि दूसरों का अर्थ भी अवश्य ग्रहण करता ही है यह कहना समीचीन नहीं है। यह बात और है कि सहृदयों को किसी कवि के काव्य में सदृशता के कारण किसी पूर्व कवि की रचना से अभिन्नता सी प्रतीत होने लगे। उत्कृष्ट कवियों का अर्थहरण से सम्बन्ध नहीं है। आधार की समानता उनके द्वारा वर्णित अर्थो में हो सकती है—किन्तु वही अर्थ वर्णित नहीं होता। यदि होता भी है तो नवीन तथा मौलिक रूप में, नवीन ढंग से।

---

1 शब्दार्थशासनविदः कतिनो कवन्ते यद्वाङ्मयं श्रुतिधनस्य चकास्ति चक्षुः।
किन्त्वस्ति यद्वचसि वस्तु नवं सदुक्ति सन्दर्भिणां स धुरि तस्य गिरः पवित्राः॥

काव्यमीमांसा - (एकादश अध्याय)

मौलिकता को ही कविगुणों में आचार्य राजशेखर ने विशेष स्थान दिया है—यह बात उनके विभिन्न कविभेदों से स्पष्ट हैं। अर्थहरण कर्ता चार प्रकार के कवियों के अतिरिक्त कवियों का उनका पाँचवां प्रकार महाकवियों का है।[1] अर्थहरणकर्ता कवि अपने काव्यनिर्माण हेतु कहीं न कहीं पर निर्भर रहते हैं और पाँचवें प्रकार के कवियों के मानस में सरस्वती स्वयं उन्मिषित होती है—तथा उनके मानस में अलौकिक, नवीन, सर्वथा मौलिक शब्दों, अर्थों की उद्‌भावना कराती है। उन्हें अपने काव्यनिर्माण के लिए किसी और पर आश्रित रहने की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि उनके लिए शब्द तथा अर्थ का द्रारिद्रय कभी नहीं होता। इन महाकवियों के काव्यार्थ अयोनि होते हैं अर्थात् वे अपने अर्थो को कहीं और से न लेकर उनका स्वयं ही आविर्भाव करते हैं। वे अर्थ जिन्हें वे उद्‌भावित करते हैं लौकिक (लोक से सम्बन्ध रखने वाले), अलौकिक (दिव्य तथा लोक से भिन्न वस्तुओं से सम्बन्ध रखने वाले) तथा लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार की वस्तुओं से सम्बन्ध रखने वाले इस प्रकार तीन प्रकार के होते हैं। इन अयोनि अर्थों का काव्य में सन्निवेश करने वाले कवियों का मौलिकता से विशेष सम्बन्ध है। यह मौलिक अर्थों का उद्‌भावक कवि राजशेखर के अनुसार चिन्तामणि कवि है। ऐसा ही कवि असाधारण कवि की कोटि में आता है। रस, अलङ्कारों के साथ वह ऐसे अपूर्व अर्थ की योजना करता है जिसका पूर्व कवि अपने काव्य में नियोजन नहीं कर सके थे। ऐसा ही काव्य सहृदयों को रसास्वाद कराता है।[2]

इस प्रकार अभ्यासी कवि तथा अन्यों के सदृश अर्थग्रहण कर्ता उच्चकोटि के कवियों के अतिरिक्त कुछ और भी कवि होते हैं जो केवल मौलिक अर्थों की उद्‌भावना करके काव्य रचना करते

---

1. भ्रामकश्चुम्बकः किञ्च कर्षको द्रावकश्च सः। स कविर्लौकिकोऽन्यस्तु चिन्तामणिरलौकिकः ॥

काव्यमीमांसा - (द्वादश अध्याय)

2 चिन्तासमं यस्य रसैकसूतिरुदेति चित्राकृतिरर्थसार्थः।
अदृष्टपूर्वो निपुणैः पुराणैः कविः स चिन्तामणिरद्वितीयः॥ काव्यमीमांसा - (द्वादश अध्याय)

हैं। वस्तुतः उत्कृष्ट कवि तथा कवित्व के चरम स्तर को प्राप्त करने वाले वे ही कवि हैं। इस प्रकार श्रेष्ठ कवित्व की कसौटी काव्य में निबद्ध अर्थ की नवीनता तथा मौलिकता है।

वस्तुतः श्रेष्ठ कवियों का सम्बन्ध नवीन वस्तु, विषय से है। शब्दार्थ के सम्बन्ध को जानकर कविता तो अनेक कवि करते हैं किन्तु जब तक उनके काव्य में अलौकिकता तथा नवीनता न हो वे श्रेष्ठ कवि नहीं हो सकते और जिन कवियों की रचनाओं में नवीनता तथा मौलिकता हो उन ही कवियों के वचन सम्मानित तथा पूजित होते हैं।

षष्ठ अध्याय

(क) काव्यमीमांसा में वर्णित कवि तथा भावक

काव्यमामांसा में कवि :-

कवित्व से सम्बद्ध विषय विवेचना की दृष्टि से आचार्य राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' पूर्णत: मौलिक ग्रन्थ है। कवि के व्यक्तित्व तथा काव्यशैली के विकास के लिए उचित मार्गदर्शक तथा काव्यकौशल की अभिवृद्धि हेतु सम्यक् निर्देशक कवि शिक्षासम्प्रदाय से सम्बद्ध यह ग्रन्थ श्रेष्ठ कवि बनने तक की प्रक्रिया की विशद, व्यापक विवेचना प्रस्तुत करता है। कवियों के आचार तथा दैनिक व्यवहारादि आचार्य राजशेखर के सूक्ष्म निरीक्षण तथा पाण्डित्य के परिचायक के रूप में इस ग्रन्थ में दृष्टिगत होते हैं। 'काव्यमीमांसा' कवियों के लिए ही रचित भी है।[1]

काव्यमीमांसा में कवि शब्द की सिद्धि 'कवृ वर्णे' धातु से हुई है।[2] इस दृष्टि से वर्णनाशक्ति की प्रमुखता स्वीकार करते हुए सभी वर्णयिता कवि हैं। 'कविर्मनीषी परिभू: स्वयंभू:' रूप में वेदार्थवर्णयिता सर्वज्ञ परमात्मा कवि हैं। वर्णयिता के रुप में शुक्राचार्य उशना की भी 'कवि' संज्ञा है। लौकिक भाषा में रामचरित्र के वर्णयिता बाल्मीकि आदि कवि हैं तथा महाभारत के रचयिता वेदव्यास भी वर्णयिता होने के कारण ही कवि हैं। हलायुधकोष में सर्वज्ञाता सर्ववर्णयिता कवि है। अमरकोष में कविपद का अर्थ पण्डित है।[3]

---

1 यायावरीय: संङ्क्षिप्य मुनीनां मतविस्तरम् व्याकरोत्काव्यमीमांसा कविभ्यो राजशेखर:॥

(काव्य मीमांसा - प्रथम अध्याय)

2. कविशब्दश्च 'कवृ वर्णे' इत्यस्य धातो: काव्यकर्मणो रूपम्। (काव्यमीमांसा - तृतीय अध्याय)

3 कवते सर्वं जानाति,सर्वं वर्णयति, सर्वं सर्वतो गच्छति वा। कव् इन् यद्वा कुशब्दे 'अच इ: इति इ। (हलायुधकोष)

संख्यावान् पण्डित: कवि : (अमरकोष)

आचार्य राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में उशना तथा बाल्मीकि की कविसंज्ञा निर्धारण की काल्पनिक कथा प्रस्तुत की है।[1] सरस्वती द्वारा छोड़ा गया सरस्वतीपुत्र जब उशना द्वारा अपने आश्रम में ले जाया गया तब उसने आश्रम के वातावरण से आश्वस्त होकर मुनि के हृदय में छन्दोबद्ध वाणी की प्रेरणा की। मुनि उशना अकस्मात् बोल उठे

'या दुग्धाऽपि न दुग्धेव

कविदोग्धृभिरन्वहम् । हृदि नः

सन्निधतां सा सूक्तिधेनुः सरस्वती।

तभी से संसार में उशना ऋषि कवि नाम से प्रसिद्ध हो गए और उन्हीं के कारण सभी छन्दोबद्ध रचना करने वाले कवि कहलाने लगे। काव्यमय होने के कारण सरस्वती के उस पुत्र को भी लाक्षणिक रूप से काव्यपुरुष कहा जाने लगा।[2] स्नान से लौटी सरस्वती को महामुनि बाल्मीकि ने महामुनि उशना के आश्रम का मार्ग बताया। प्रसन्न सरस्वती ने उन्हें भी छन्दोबद्ध रचना के लिए वरदान दिया। वे क्रौञ्चमिथुन के शोक से विह्वल होकर श्लोकमय वाणी में बोले—

'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाःयत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।' सरस्वती ने बाल्मीकि के मुख से निःसृत श्लोक को प्रथमतः पढ़ने वाले को सारस्वत कवि बनने का वरदान दिया।[3]

यह सभी स्वीकार करते हैं कि काव्यजगत् के विकासक्रम में समयान्तर से कवि की परिभाषा 'वर्णयिता' में परिवर्तन हुआ। केवल वर्णन नहीं, बल्कि चमत्कृतिपूर्ण वर्णन कवि की श्रेष्ठता की कसौटी बना। आचार्य राजशेखर ने अपनी मौलिक उद्भावनाओं के रूप में दो प्रकार की प्रतिभाओं

---

1 (काव्यमीमांसा - तृतीय अध्याय)

2 ततः प्रभृति तमुशनसं सन्तः कविरित्याचक्षते। तदुपचाराच्च कवयः कवय इति लोकयात्रा .... काव्यैकरूपत्वाच्च सारस्वतेयेऽपि काव्यपुरुष इति भक्त्या प्रयुञ्जते। (काव्यमीमांसा - तृतीय अध्याय)

3 ततो दिव्यदृष्टिर्देवी तस्मा अपि श्लोकाय वरमदात्, यदुतान्यदनधीयानो यः प्रथममेनमध्येष्यते स सारस्वतः कविः सम्पत्स्यत इति। (काव्यमीमांसा — तृतीय अध्याय)

कारयित्री तथा भावयित्री को प्रस्तुत किया है। कवि की कारयित्री प्रतिभा कवि के हृदय में शब्दों, अर्थों, अलङ्कारों, उक्तियों आदि का प्रतिभास कराती है।[1] कवि की काव्यमयी वाणी का प्रसार ही उसका सारस्वत लोक (सरस्वती के लोक) में स्थान बनाता है तथा आनन्द भी प्रदान करता है।[2] इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए ही कवि की अन्तर्चक्षु वस्तुओं के विशिष्ट रुपों का साक्षात्कार करती है, इस कार्य में कवि की प्रतिभा तथा त्रिकालदर्शिनी बुद्धि स्मृति, मति तथा प्रज्ञा नामों से कवि का महान् उपकार करती हैं।[3] तभी कवि प्रकृति तथा मानव जीवन की वस्तुओं को व्यवस्थित, सुन्दरतम, सहृदयहृदयाह्लादकारी रुप में प्रस्तुत करता है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुए रस को काव्य में परम स्थान प्रदान किया है। व्यङ्ग्यार्थ की छाया को महाकवियों का भूषण स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा हैं कि श्रेष्ठ कवियों के मुख्य व्यापारविषय रसादि हैं, अतः उनका रस निबन्धन में प्रमाद रहित होना अनिवार्य है। रसादि विषय से वाच्य तथा वाचक का औचित्यपूर्ण नियोजन महाकवि का मुख्य कर्म है।[4] आचार्य राजशेखर इस दृष्टि से आचार्य आनन्दवर्धन के समर्थक हैं, क्योंकि वह स्वीकार करते हैं कि सरस वर्णन तथा सहृदयहृदयहारी काव्यरचना श्रेष्ठ कवि के वैशिष्ट्य हैं। कवि का मुख्य कर्म है

---

1. या शब्दग्राममर्थसार्थमलङ्कारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयम् प्रतिभासयति सा प्रतिभा।
(काव्यमीमांसा - चतुर्थ अध्याय)

2 "काव्यमय्यो गिरो यावच्चरन्ति विशदा भुवि तावत्सारस्वतं स्थानं कविरासाद्य मोदते॥"
(काव्यमीमांसा - षष्ठ अध्याय)

3 त्रिधा च सा स्मृतिर्मतिः प्रज्ञेति अतिक्रान्तस्यार्थस्य स्मर्त्री स्मृतिः। वर्तमानस्य मन्त्री मतिः अनागतस्य प्रज्ञात्री प्रज्ञेति। सा त्रिप्रकाराऽपि कवीमामुपकर्त्री। (काव्यमीमांसा — चतुर्थ अध्याय)

4 मुख्या व्यापारविषयाः सुकवीनाम् रसादयः। तेषां निबन्धने भाव्यं तैः सदैवाप्रमादिभिः। नीरसस्तु प्रबन्धो यः सोऽपशब्दो महान् कवेः ....
वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम् रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः । 32।
मुख्या महाकविगिरामलङ्कृतिभृतामपि प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम् । 38।
(ध्वन्यालोक—तृतीय उद्योत)

वास्तविक वस्तुओं का अलौकिकता से मंडित स्वरूप प्रस्तुत करना। कविसंज्ञा उस विशिष्ट वर्णयिता की ही हो सकती है जिसके चमत्कारमय वर्णन से सहृदयों के मानस में परमानन्द हिलारें लेने लगता है।

कवि में साधारण शब्दों को भी योजना कौशल से असाधारण बनाकर प्रस्तुत करने की क्षमता होती है, क्योंकि कवि का लौकिक अनुभव उसके प्रतिभा के प्रभाव से अलौकिक स्वरूप में उपस्थित होकर काव्य के सौन्दर्य का मूल कारण बनता है। काव्य में सौन्दर्य सरसता के कारण होता है और इसी कारण काव्य सहृदयहृदयहारी भी होता है। आचार्य राजशेखर के श्रेष्ठ, अद्वितीय चिन्तामणि कवि का वैशिष्ट्य उसके काव्य की सरसता ही है। 'चिन्तामणि' कवि के श्लोक का अर्थ समझ में आते ही सहृदयों को रस से ओत प्रोत कर देता है। उसकी कविता में विभिन्न कल्पनाओं का वह अलौकिक स्फुरण होता है, जो पुराने कवियों की दृष्टि से भी बाहर है।[1]

आचार्य मम्मट का कविकर्म भी 'लोकोत्तरवर्णनानिपुण' ही है। महिमभट्ट कवि के व्यापार को सामान्य व्यापार नहीं मानते। वह विभावादिघटनास्वभाव वाला होने के कारण रसापेक्षी होता है।[2] आचार्य विश्वेश्वर के अनुसार भी विभावादिसमर्पक, रसाविनाभूत कवि का विशिष्ट गुम्फ रस का प्रतिपादक है।[3] अतः कविकर्म तथा वचन असाधारण हैं। उसके वचनों में नवीन वस्तु और नवीन उक्ति की अलौकिक छटा होती है। महाकवियों पर सरस्वती की अमूल्य कृपा और कवित्वशक्ति की महत्ता सिद्ध करती हुई अनेक सूक्तियाँ आचार्य राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' में उपलब्ध हैं। कवित्वशक्ति से युक्त कवि की सुषुप्ति अवस्था में भी काव्यानुकूल शब्द, अर्थ का ज्ञान सरस्वती करा देती है। कवियों का सारस्वत चक्षु (ज्ञानमय चक्षु) वाणी और मन से अगोचर समाधि के द्वारा स्वयं स्पृष्ट, अस्पृष्ट विषयों का निश्चय कर लेता है। दूसरों द्वारा दृष्ट या उच्छिष्ट विषय के सम्बन्ध में

---

1 चिन्तासमं यस्य रसैकसूतिरुदेति चित्राकृतिरर्थसार्थः । अदृष्टपूर्वो निपुणैः पुराणैः कविः स चिन्तामणिरद्वितीयः॥

(काव्यमीमांसा - द्वादश अध्याय)

2 कविव्यापारश्च न सामान्येन किन्तु विभावादिघटनास्वभावः। अतएव नियमेन रसापेक्षी।

(प्रथम विमर्श) व्यक्तिविवेक (महिमभट्ट)

3 तत्तद्रसाविनाभूतविभावादिसमर्पकः विशिष्टो हि कवेर्गुम्फो रसस्य प्रतिपादकः॥

(षष्ठ प्रकरण) (साहित्यमामांसा-विश्वेश्वर)

महाकवि अन्धे होते हैं।[1] उनकी दिव्यदृष्टि सर्वथा नवीन, दूसरों से अदृष्ट विषयों को ही देखती है। महाकवियों के बुद्धिदर्पण में समूचा विश्व प्रतिबिम्बित होता है। उन महान् आत्माओं के सामने शब्द औरअर्थ पहले पहुँचने की होड़ लगाकर दौड़ते रहते हैं।

महाकवि कोमलतम भावनाओं की अभिव्यक्ति करते हैं। किन्तु यदि वे तर्ककर्कश अर्थों का वर्णन भी अपनी सूक्तियों से करते हैं, तो वे कठोर अर्थ भी इस प्रकार कोमल और रमणीय हो जाते हैं, जिस प्रकार सूर्य की सन्तापदायिनी किरणें चन्द्रमा के रूप में परिणत होकर शीतल, कोमल और सन्तापहारिणी हो जाती हैं।[2] अत: 'काव्यमीमांसा' से स्पष्ट है कि महाकवियों के प्रतिभाप्रसूत वचनों की आत्मा रस है। महाकवियों की वाणी से निकले वचनों की सहृदयहृदयहारिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता और सहृदयहृदयहरणक्षमता सरस वचनों में ही होती है।

आचार्य राजशेखर ने कविशिक्षक के रूप में काव्यमीमांसा में यह भी स्पष्ट किया है कि कवि के वचन प्रथमत: ही सरस नहीं होते। महाकवि के वचनों की सरसता के परोक्ष में उसकी महती तपस्या भी होती है। मनुष्य यदि जन्म से ही कवित्वशक्ति सम्पन्न होता है तो भी संसार के समक्ष कवि रूप में उसकी उपस्थिति व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से प्राप्त कौशल के बिना नहीं होती। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए आचार्य राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में व्युत्पत्ति तथा अभ्यास की भी विशिष्ट महत्ता प्रतिपादित की है। कवित्वशक्ति के अभिवर्धन तथा विकास के लिए कवि को निरन्तर प्रयत्न करना

---

1 सारस्वतं चक्षुरवाङ्मनसगोचरेण प्रणिधानेन दृष्टमदृष्टंचार्थजातं स्वयं विभजति तदाहु:-
सुप्तस्यापि महाकवे: शब्दार्थौ सरस्वती दर्शयति तदितरस्य तत्र जाग्रतोऽप्यन्धं चक्षु:। अन्यदृष्टचरे ह्यर्थे महाकवयो जात्यन्धास्तद्विपरीते तु दिव्यदृश:। (काव्यमीमांसा - द्वादश अध्याय)

2 शब्दार्थशासनविद: कतिनो कवन्ते यद्वाङ्मयं श्रुतिधनस्य चकास्ति चक्षु:। किन्त्वस्ति यद्वचसि वस्तु नवं सदुक्ति सन्दर्भिणां स धुरि तस्य गिर: पवित्रा:॥ (काव्यमीमांसा - त्रयोदश अध्याय)
मतिदर्पणे कवीनां विश्वं प्रतिफलति। कथं नु वयं दृश्यामह इति महात्मानामहंपूर्विकयैवशब्दार्था: पुरो धावन्ति। (काव्यमीमांसा - द्वादश अध्याय)
यांस्तर्ककर्कशानर्थान्सूक्तिष्वाद्रियते कवि: सूर्यांशव इवेन्दौ तेकाञ्चिदर्चन्ति कान्तताम्॥ (काव्यमीमांसा - अष्टम अध्याय)

पड़ता है। कवि की कवित्वशक्ति, कारयित्री प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास परस्पर सापेक्ष हैं। काव्य के सुन्दरतम रूप के प्रस्तुतीकरण में कवि के आन्तरिक तथा बाह्यगुण प्रतिभा, शास्त्रज्ञान, सांसारिक विषयों का सूक्ष्म निरीक्षण, छन्दों इत्यादि का ज्ञान, अभ्यास प्राप्त कुशलता सभी कारण बनते हैं। यद्यपि कवि की व्युत्पत्ति तथा अभ्यासप्राप्त कुशलता आदि को सक्रिय बनाने में उसकी कवित्वशक्ति तथा कारयित्री प्रतिभा की ही प्रधानता होती है।

प्राथमिक अवस्था में कवि को अपने भाव तथा भाषा को अन्तिम स्वरूप देने के लिए पुनः पुनः प्रयत्नशील होना पड़ता है, क्योंकि वह शब्दों, वाक्यों, अलङ्कारों, बिम्बों आदि में संशोधन करते हुए भी पूर्णतः सन्तुष्ट नहीं हो पाता। काव्य के शब्दादि में परिवर्तन की इच्छा करने वाला कवि संसार के समक्ष श्रेष्ठ कवि के रूप में उपस्थित नहीं होता क्योंकि सहृदयजनों के समक्ष उसका प्रयास ही प्रतिबिम्बित होता है, सुन्दरतम भाव तथा भाषा नहीं। पुनः पुनः अभ्यास से कवि की काव्यरचना के प्रति आकर्षण की अभिवृद्धि होती जाती है और उसकी रचना का भी परिष्कार और परिमार्जन होता जाता है।[1] उसकी काव्यवस्तु भाषा, भाव आदि की दृष्टि से सुन्दर से सुन्दरतम तक पहुँच जाती है। अभ्यास तथा व्युत्पत्ति रूप बाह्य उपकरणों से पूर्णतः प्रकट कवि की जन्मसिद्ध प्रतिभा ही कवि को सफलता की चरमसीमा पर पहुँचाती है।— इस तथ्य को पूर्णतः स्वीकार करने वाले आचार्य राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में अभ्यासी कवियों के लिए ही 'हरण' तथा 'कविचर्या' विषयक विवेचन प्रस्तुत किए हैं। आचार्य राजशेखर कवि बनने के प्रयत्न को उस समय विडम्बना ही समझते थे, जब स्वाभाविक काव्यरचना शक्ति न हो, शास्त्रों में परिपक्वता तथा अभ्यासजन्यकुशलता भी न हो।[2] ऐसी स्थिति में तो कवि बनना तभी संभव है जब सरस्वती के तन्त्र, मन्त्र के प्रयोग से कवित्वसिद्धि प्राप्त की गई हो। अतः

---

1 यथा यथाभियोगश्च संस्कारश्च भवेत्कवेः। तथा तथा निबन्धानां तारतम्येन रम्यता॥ .... लीढाभिधोपनिषदां सविधे बुधानामभ्यस्यतः प्रतिदिनं बहुदृश्वनोऽपि। किञ्चित्कदाचन कथञ्चन सूक्तिपाकाद्वाक्तत्त्व-मुन्मिषति कस्यचिदेव पुंसः॥ सिद्धिः सूक्तिषु सा तस्य जायते जगदुत्तरामूल्यच्छायां न जानाति यस्याः सोऽपि गिरा गुरूः (काव्यमीमांसा — दशम अध्याय)

2 न निसर्गकविः शास्त्रे न क्षुण्णः कवते च यः। विडम्बयति सात्मानमाग्रहग्रहिलः किल॥ (काव्यमीमांसा—चतुर्थ अध्याय)

यह निश्चित है कि कवि के सभी सुन्दरतम वचन उसकी प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यासजन्य कौशल के ही परिणाम होते हैं और कवि प्रतिभा और व्युत्पत्ति से सम्पन्न, अभ्यास द्वारा शिल्पचातुर्य तथा वाग्विदग्धता प्राप्त करने वाला सरस वर्णन में निपुण व्यक्ति होता है। अनन्य मनोवृति से काव्यरचना करते हुए कवि सरस्वती की कृपा से अपनी सूक्तियों में अलौकिक सिद्धि प्राप्त करता है।[1]

कवि की सर्वगुणसम्पन्नता को स्वीकार करते हुए 'काव्यशिक्षा' नामक ग्रन्थ में आचार्य विनयचन्द्र ने उसे विविध विशेषणों से अलङ्कृत किया है। उनका कवि शब्दार्थवादी, तत्वज्ञ, माधुर्योजप्रसाधक, दक्ष, वाग्मी, नवीन अर्थ की उत्पत्ति में रुचियुक्त, शब्दार्थवाक्य के दोषों का ज्ञाता चित्रकृत, कविमार्गवित्, सभी अलङ्कारों का ज्ञाता, रसवेत्ता, बन्धसौष्ठवी, षड् भाषाविधिनिष्णात, षड्दर्शनविचारविद् नित्याभ्यासी, लोकज्ञाता तथा छन्दशास्त्र का ज्ञाता है।[2]

संसार में कवि और उसके कवित्व की महत्ता सर्वमान्य है। आचार्य राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' में वर्णित 'कविचर्या' तत्कालीन कवियों के जीवन के उच्चस्तर तथा उनकी सम्भ्रान्तता को प्रकट करती है। कवि साधारणजन जैसे नहीं थे। ज्ञानगरिमा से परिपूर्ण कवि राजाओं के तथा समाज के श्रद्धेय थे। इसी कारण वे अपने आश्रयदाता राजा तथा जनता की रूचियों का पर्याप्त ध्यान रखते थे और उन्हीं के अनुरूप विषय तथा भाषा में काव्यरचना करते थे। आचार्य राजशेखर ने कवि को यह भी निर्देश दिया कि लोकरुचि तथा राजरूचि का ध्यान रखने की प्रक्रिया में वह कभी भी आत्मा का तिरस्कार न करे[3], क्योंकि सर्वथा किसी के वशीभूत होकर की गई काव्यरचना की श्रेष्ठता में संदेह हो सकता है। इसके लिए कवि को आत्मनिरीक्षण अवश्य करना चाहिए, क्योंकि कवि को लोक के समक्ष

---

1. इत्यनन्यमनोवृत्तेर्निशेषेऽस्य, क्रियाक्रमे। एकपत्नीव्रतं धत्ते कवेर्देवी सरस्वती॥ (काव्यमीमांसा-दशम अध्याय)

2 कविः — शब्दार्थवादी, तत्वज्ञो, माधुर्योजप्रसादकः दक्षो, वाग्मी नवार्थानामुत्पत्तिप्रियकारकः ॥ 153 ॥
शब्दार्थवाक्यदोषज्ञश्चित्रकृत् कविमार्गवित् ज्ञातालङ्कारसर्वस्वो रसविद् बन्धसौष्ठवी ॥ 154 ॥
षड्भाषाविधिनिष्णातः षड्दर्शनविचारविद् नित्याभ्यासी च लोकज्ञश्छन्दः शास्त्रपठिष्ठधीः । 155 ।
(चतुर्थ परिच्छेद) काव्यशिक्षा (विनयचन्द्रसूरि)।

3. जानीयाल्लोकसाम्मत्यं कविः कुत्र ममेति च। असम्मतं परिहरेन्मतेऽभिनिविशेत च॥ जनापवादमात्रेण न जुगुप्सेत चात्मनि। जानीयात्स्वयमात्मानं यतो लोको निरङ्कुशः॥ (काव्यमीमांसा - दशम अध्याय)

आदर्श प्रस्तुत करना होता है, और कवियों के आदेशानुसार किए गए लोकव्यवहार मानव के लिए कल्याणकारी होते हैं।[1]

संसार में सुन्दरतम का प्रसार भी कविवाणी से ही होता है। आचार्य राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में स्वीकार किया है कि प्राचीन राजाओं के प्रभावशाली चरित्र, देवताओं की प्रभुत्वलीला और ऋषियों तथा तपस्वियों के अलौकिक प्रभाव-ये सभी कुछ कवियों की वाणी से ही प्रसूत तथा प्रसिद्ध हुए हैं।[2] इस प्रकार कविवचन संसार का महान् उपकार करते हैं।

आचार्य राजशेखर ने भिन्न भिन्न आधार ग्रहण करते हुए 'काव्यमीमांसा' में कवियों के विभिन्न भेदोपभेद प्रस्तुत किए हैं। यह कविवर्गीकरण राजशेखर की मौलिकता तथा सूक्ष्म निरीक्षण को सिद्ध करते हैं। कविभेदों का विस्तृत विवेचन विशिष्ट संदर्भ में भिन्न भिन्न स्थानों पर किया गया है।

काव्यमीमांसा में काव्यपरीक्षक भावक :-

कवि की कारयित्री प्रतिभा के साथ-साथ भावक की भावयित्री प्रतिभा की विवेचना करके आचार्य राजशेखर ने अपनी मौलिकता प्रमाणित की है। कारयित्री प्रतिभा कवि के हृदय में शब्दों, अर्थों, अलङ्कारों, उक्तियों आदि का प्रतिभास कराती है तथा भावयित्री प्रतिभा भावक के हृदय में।[3] कविहृदय के साथ साधारणीकरण के लिए भावक को भी ऐसे ही प्रतिभास की आवश्यकता है।

भावक काव्यनिर्माता नहीं हैं। उसकी स्थिति कवि से भिन्न है तथा उसकी भावयित्री प्रतिभा कवि की कारयित्री प्रतिभा की अपेक्षा कम सक्रिय है। कवि की कारयित्री प्रतिभा काव्यरचना के लिए

---

1 किञ्च कविवचनायत्ता लोकयात्रा। सा च निःश्रेयसमूलम् इति महर्षयः। (काव्यमीमांसा-षष्ठ अध्याय)

2. किञ्च— श्रीमन्ति राज्ञां चरितानि यानि प्रभुत्वलीलाश्च सुधाशिनां याः। ये च प्रभावास्तपसामृषीणां ताः सत्कविभ्यः श्रुतयः प्रसूताः॥" (काव्यमीमांसा—षष्ठ अध्याय)

3 या शब्दग्राममर्थसार्थमलङ्कारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा।........ ....
सा च द्विधा कारयित्री भावयित्री च। कवेरुपकुर्वाणा कारयित्री...
भावकस्योपकुर्वाणा भावयित्री। स हि कवेः श्रममभिप्रायं च भावयति। तया खलु फलितः कवेर्व्यापारतरुरन्यथा सोऽवकेशी स्यात्। (काव्यमीमांसा-चतुर्थ अध्याय)

सामग्री के संधान, चयन आदि में सहायक बनकर काव्यनिर्माण कराती है, किन्तु भावक भावयित्री प्रतिभा की सहायता से कवि द्वारा भोगे गए, शब्दों में अभिव्यक्त किए गए अपने सम्मुख प्रस्तुत अनुभव का पुनरनुभव करके रसास्वाद करता है। कवि के शब्दों, अर्थों से पूर्णत: भिन्न नवीन शब्दों, अर्थों आदि के प्रतिभास की उसे आवश्यकता नहीं होती।

कवि की कारयित्री प्रतिभा के कारण लौकिक विषय काव्य के क्षेत्र में आते ही अलौकिक बन जाते हैं। उनकी इस अलौकिकता को, काव्य की मूलवर्ती प्रेरणा को भावक अपने हृदय में अनुभव करता है। अपनी प्रतिभा द्वारा भावक कवि की ही कल्पना से साक्षात्कार करता है। कवि की प्रतिभा नवनवोन्मेषकारयित्री है, भावक की प्रतिभा नवनवोन्मेषभावयित्री। प्रतिभा दोनों के लिए परमावश्यक है।

भावक की भावयित्री प्रतिभा उसे काव्यरचना में कम, काव्य की कसौटी में अधिक सक्षम बनाती है। वह अर्थतत्व, भावतत्व, सभी गुणदोषों का, रसतत्व तथा अलङ्कार तत्व आदि का विश्लेषण करके कवि के काव्य को उत्कृष्टता, अपकृष्टता की कसौटी पर कसता है और अपने सौन्दर्यबोध से काव्य को महिमामंडित भी करता है।

काव्यनिर्माण समालोचना के अभाव में व्यर्थ होता है। अत: कवि के साथ भावक की उपस्थिति अनिवार्य है। कविव्यापार भावक द्वारा ही फलित होता है, क्योंकि यदि काव्य का प्रचार, प्रसार न हो तो उसका अस्तित्व ही समाप्त हो सकता है। कवि संसार के लिए काव्यरचना करता है तो भावक उसको संसार में उसके गुणदोषमय रूप में प्रचारित करता है। इस प्रकार वह कवि के अभिप्राय का भावन करके उसके श्रम को सफल बनाता है। भावक की परीक्षा के बाद ही काव्य की महिमा का प्रचार होता है तथा कवि को सम्मान की प्राप्ति होती है।

एक पक्ष यह स्वीकार करने वाला भी मिलता है कि कवि में भी भावयित्री प्रतिभा होनी चाहिये, क्योंकि कवि अपने काव्य की आलोचना में सक्षम हो, तभी उसका काव्यनिर्माणकार्य पूर्णता को प्राप्त करता है। किन्तु आचार्य राजशेखर ने महाकवि कालिदास का मत उद्धृत करते हुए स्वीकार किया है कि कवित्व तथा भावकत्व स्वरूप भेद तथा विषयभेद के कारण पृथक् हैं। एक पत्थर सुवर्ण उत्पन्न

करता है, दूसरा कसौटी पत्थर उसकी परीक्षा करता है।[1] एक में अनेक गुणों का समन्वय कठिन है। एक व्यक्ति एक ही कार्य को पूर्णता से कर सकता है। इस विचार का आधार सम्भवत: यह लिया गया है कि कवि ईर्ष्या की भावना के कारण दूसरों के काव्य का सम्यक् आस्वादन नहीं कर पाता। अत: काव्य-समीक्षा का कार्य भावक का है।

'सरस्वत्यास्तत्वं कविसहृदयाख्यम् विजयते' इस रूप में कवि और सहृदय एक ही सारस्वततत्व के दो पक्ष हैं। काव्य का चरम उद्येश्य रसास्वाद है। कवि तथा सहृदय को एक ही अनुभूति से अनुप्राणित होना चाहिए। कविकर्म रूपी वह व्यापार जो कवि से आरम्भ होकर रसिक के रसास्वाद में पर्यवसित होता है, काव्य है। काव्यगत शब्दार्थसाहित्य न केवल कविगत व्यापार है न केवल रसिकगत। वह कविसहृदयगत अखण्डानुभवरूप व्यापार है। इसी प्रकार रस काव्यगत भी है, सहृदयगत भी। काव्यगत रस भिन्न-भिन्न स्वभावों के पात्रों के चरित्र से उत्पन्न होता है, तथा सहृदयगत रस इन चरित्रों के पठन, श्रवण तथा दर्शन से सहृदयों के मन में जागृत होता है।

रसास्वाद की योग्यता व्याकरण अथवा तर्कज्ञान से नहीं प्राप्त होती। इसके लिए रसिक को निर्मल प्रतिभाशाली होना चाहिए।[2] इस तथ्य को सभी स्वीकार करते हैं। प्रज्ञा की विमलता तथा वैदग्घ्य से ही हृदयसंवाद्य होकर काव्य आस्वाद्य होता है। तभी सहृदय को काव्य के सामान्य ज्ञान से अधिक रसात्मक व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है—आचार्य आनन्दवर्धन ने इसी तथ्य का प्रतिपादन किया

---

1 'क: पुनरनयोर्भेदो यत्कविर्भावयति भावकश्च कवि:' इत्याचार्या: ....
'न' इति कालिदास:। पृथगेव हि कवित्वाद्भावकत्वं, भावकत्वाच्च कवित्वम्, स्वरूपभेदाद्विषयभेदाच्च यदाहु:-
''कश्चिद्वाचं रययितुमलं श्रोतुमेवापरस्ताम् कल्याणी ते मतिरुभयथा विस्मयं नस्तनोति नह्येकस्मिन्नतिशयवतां सन्निपातो गुणानामेक: सूते कनकमुपलस्तत्परीक्षाक्षमोऽन्य:॥'' (काव्यमीमांसा - चतुर्थ अध्याय)

2 'अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशाली सहृदय:' — अभिनवभारती (अभिनवगुप्त)

है।[1] काव्य के चारुत्व, अचारुत्व का निश्चय सहृदय ही करते हैं। इसलिए आचार्य महिमभट्ट उन्हें काव्यरुपी मणि का पारखी कहते हैं।[2] आचार्य मम्मट का सहृदय भी 'प्रतिभाजुष्' है।

सहृदयहृदयहरणक्षमता श्रेष्ठ काव्य की अनिवार्यता है। सहृदय की अपनी प्रतिभा ही उसे काव्यभावना में सक्षम बनाकर उसका मन: प्रसादन करती है। उक्ति का केवल विचित्र तथा लोक शास्त्र में प्रयुक्त शब्द अर्थ के उपनिबन्धन से भिन्न होना ही पर्याप्त नहीं है, कवि कौशल पर आश्रित होना भी अन्तिम प्रमाण नहीं है। सहृदय के मन: प्रसादन की क्षमता से युक्त काव्योक्ति ही सार्थक है।[3] आचार्य विश्वेश्वर ने श्रेष्ठ काव्य के भावक रसिक को परमसुखी माना है।[4] दोषत्याग, गुणाधान, अलङ्कार और रसान्वय इन चार प्रकारों से परिष्कृत तथा कविकल्पित साहित्य का भावक रसिक संसार में सुख प्राप्त करता है। कवि की ख्याति, अपख्याति करता हुआ भावक कवि का सर्वस्व है।[5] भावक तथा उसकी प्रतिभा का महत्व आचार्य राजशेखर के पूर्ववर्ती तथा पश्चाद्वर्ती सभी आचार्य स्वीकार करते थे किन्तु अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ में इन दोनों को विशिष्ट स्थान आचार्य राजशेखर ने दिया।

साहित्यशास्त्र में सामाजिक और रसिक पर्याय हैं। समाज के विशिष्ट सत्पुरुष काव्य के प्रारम्भ के समय से ही काव्य की उत्कृष्टता, अपकृष्टता का विवेक करते थे। महाकवि कालिदास के काव्य परीक्षण के अधिकारी सन्त थे। वात्स्यायन के विदग्ध नागरक प्रतिमास या प्रतिपक्ष नियत दिन छोटा सा

---

1. सर्वथा नास्त्येव सहृदयहृदयहारिण: काव्यस्य स प्रकारोयत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शेन सौभाग्यम् तदिदं काव्यरहस्यं परमिति सूरिभिर्विभावनीयम् ।37। (ध्वन्यालोक) (तृतीय उद्योत)
2 चारूत्वाचारुत्वनिश्चये च काव्यतत्वविद: प्रमाणम्' (प्रथम विमर्श)
व्यक्तिविवेक (महिमभट्ट)
---------------काव्यमाणिक्यवैकटिकानां सचेतसाम् द्वितीय विमर्श - व्यक्तिविवेक (महिमभट्ट)
3 शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि। वक्रोक्तिजीवित (कुन्तक) (प्रथम उन्मेष)
4 ईदृशं भावयन् काव्यं रसिक: परमं सुखम् प्राप्नोति कालवैषम्याद् गुणतस्त्रिविधोऽपि सन्। (अष्टम प्रकरण) (साहित्यमीमांसा - विश्वेश्वर)
5 कवे: ख्यातिरपख्यातिर्भावकादेव जायते तस्मात् स एव सर्वस्वं तस्य प्राज्ञै: प्रकीर्तित: ।19। (साहित्यमीमांसा - द्वितीय प्रकरण) (विश्वेश्वर)

सम्मेलन करते थे। वह सम्मेलन समाज था तथा उसमें भाग लेने वाले सामाजिक थे।[1] काव्यमीमांसा में सन्त का उल्लेख है, जिन्होंने उशना की छन्दोबद्ध वाणी सुनकर उन्हें कविसंज्ञा प्रदान की। तभी से लोक में छन्दरचना करने वाले कवि कहकर पुकारे जाने लगे।[2] बाद में सम्भवत: यही सन्त काव्य के परीक्षक भावक बनकर काव्य के अर्थतत्व, भावतत्व, गुणदोषादि का विश्लेषण करते हुए काव्यशास्त्र के निर्माता भी बन गए होंगे।

सरस काव्य के मर्मज्ञ सहृदय भी कहलाते थे। आलोचक सहृदय होने पर ही हृदय की गहराई से काव्यानुभूति करते हुए काव्य की यथार्थ समालोचना कर सकता है। काव्य के अन्तस्तल तक पहुँचने की क्षमता ही भावक का वैशिष्ट्य है। आचार्य कुन्तक की धारणा है कि काव्य के अमृतरस से सहृदयों के हृदय में जो चमत्कार उत्पन्न होता है वह उन्हें चतुर्वर्ग की प्राप्ति से भी अधिक आनन्द देता है।[3]

सौन्दर्यबोध मानवमात्र का गुण है, किन्तु कवि और आलोचक में सौन्दर्यबोध की पराकाष्ठा होनी चाहिए तभी कवि वस्तुओं के सुन्दरतम रूप को काव्य में प्रस्तुत करता है तथा सहृदय काव्य में वर्णित वस्तु के उस सुन्दरतम रूप को हृदय से अनुभव कर उसका मूल्याङ्कित स्वरूप जगत् के समक्ष उपस्थित करता है। सहृदय, साहित्यानुभव से युक्त, काव्यों के रहस्यान्वेषण में सतत प्रयत्नशील रहने वाला, निष्पक्ष तथा व्यक्तिगत राग द्वेष से रहित व्यक्ति ही काव्य की व्याख्या तथा मूल्याङ्कन में समर्थ होकर श्रेष्ठ समालोचक बन सकता है। सहृदय काव्य की रसानुभूति काव्य को पढ़ने अथवा सुनने से ही

---

1 पक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञातेऽहनि सरस्वत्या भवने नियुक्तानां नित्यं समाज: । (1/4/27)

कामसूत्र (वात्स्यायन)

इसकी जयमङ्गला टीका—

'सरस्वती च नागरकाणां विद्याकलासु अधिदेवता, तस्या आयतने नियुक्तानाम् नामकेन पूजोपचारकत्वे प्रतिपक्षं प्रतिमासं च ये नियुक्ता: नागरकनटाद्यो नतितुं, तेषां समाज: स्वव्यापारानुष्ठानेन मिलनं यस्मिन् प्रवृत्ते नागरका: सामाजिका: भवन्ति।'

2. तत: प्रभृति तमुशनसं सन्त: कविरित्याचक्षते। तदुपचाराच्च कवय: कवय इति लोकयात्रा।

काव्यमीमांसा - (तृतीय अध्याय)

3 चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्। काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ।5। प्रथम उन्मेष

वक्रोक्तिजीवित (कुन्तक)

तुरन्त कर लेता है, क्योंकि उसके विमल हृदय में काव्य की मौलिक अनुभूति अपने आप को उसी क्षण प्रतिबिम्बित करती है। लौकिक पदार्थों के कवि की प्रतिभा द्वारा प्रस्तुत सुन्दरतम स्वरूप को रसिक अपनी प्रतिभाबल से ही ग्रहण करते हुए रसानुभूति करता है।

आचार्य आनन्दवर्धन का सहृदयत्व का तात्पर्य रसज्ञता है। वह श्रेष्ठ काव्य का, काव्य की चारुता का, सत्कवि तथा सहृदय का सम्बन्ध ध्वनिकाव्य से ही मानते हैं।[1] उनका विचार है कि व्यङ्ग्यार्थ में ही सहृदयहृदयहरणक्षमता होती है। आचार्य कुन्तक के अनुसार भी काव्य का अर्थ सहृदयहृदयाह्लादकारित्व रूप वैशिष्ट्य से युक्त होता है।[2] आचार्य मङ्खक तो साहित्यविद् के अभाव में कवि के गुणों का प्रसार असम्भव मानते हैं। तैलबिन्दु केवल जल में ही तत्काल विस्तार पाता है, अन्यत्र नहीं।[3]

काव्यमीमांसा में 'भावक' तथा समालोचना को पर्याप्त महत्व तथा विस्तार प्राप्त हुआ। श्रेष्ठकवित्व तथा श्रेष्ठ भावकत्व दोनों एक ही व्यक्ति में होना कठिन है। ऐसी प्रतिभाएँ दुर्लभ होती हैं। किन्तु आचार्य राजशेखर यह स्वीकार करते हैं कि श्रेष्ठ कवि में अपने काव्य की यथार्थ समालोचना का गुण होना चाहिए क्योंकि रसावेश में रचित काव्य का पुनः परीक्षण उसकी पूर्णशुद्धि के लिए आवश्यक

---

1 द्वितीयस्मिंस्तु पक्षे रसज्ञतैव सहृदयत्वमिति। तथाविधैः सहृदयैः संवेद्यो रसादिसमर्पणसामर्थ्यमेव नैसर्गिकं शब्दानां विशेष इति व्यञ्जकत्वाश्रय्येव तेषां मुख्यं चारुत्वम्।

-----------ध्वनिनिरूपणनिपुणा हि सत्कवयः सहृदयाश्च नियतमेव काव्यविषये परां प्रकर्षपदवीमासादयन्ति।

(ध्वन्यालोक—तृतीय उद्योत)

2 शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः। 9।

(वक्रोक्तिजीवित - (कुन्तक) (प्रथम उन्मेष)

3 बिना न साहित्यविदा परत्र गुणः कथञ्चित् प्रथते कवीनाम् आलम्बते तत्क्षणमम्भसीव विस्तारमन्यत्र न तैलबिन्दुः

(मङ्खक)

('रसगङ्गाधर' की भूमिका से उद्धृत))

है। इसके लिए कवि को पक्षपात तथा अभिमान आदि दुर्गुणों से दूर रहना चाहिए। पक्षपाती अपने काव्य के दोषों को गुणों के रूप में तथा दूसरों के काव्य के गुणों को दोषरूप में देखता है।[1]

'काव्यमीमांसा' से कवि को अपने काव्य की सुरक्षा हेतु महत्वपूर्ण निर्देश प्राप्त होते हैं, वे काव्य की यथार्थ समालोचना से ही अधिकांशत: सम्बद्ध हैं। जो यथार्थ समालोचक न हों, उनके समक्ष अपने काव्य का विवेचन हानिकर ही है। अत: काव्यरचना के पश्चात् ही समसामयिक साधनों द्वारा उसके प्रचार, प्रसार की आवश्यकता सभी युगों में होती है। अकेले किसी व्यक्ति के समक्ष अथवा कविमानी के समक्ष काव्य प्रस्तुत करना—काव्य के अस्तित्व के लिए ही हानिकर है। आचार्य राजशेखर निष्पक्ष काव्यसमालोचना हेतु कवि द्वारा स्वयं अपने काव्य की विवेकपूर्ण परीक्षा के पश्चात् भी दूसरों से काव्यपरीक्षा कराना आवश्यक मानते थे।[2] तत्कालीन समाज में काव्यगोष्ठियाँ काव्यप्रचार का विशिष्ट साधन थीं जिनमें प्रवेश कर कवि श्रेष्ठ समालोचकों द्वारा काव्य की परीक्षा कराते थे तथा उसकी सुरक्षा भी सुनिश्चित करते थे।

प्रत्येक युग के समान आचार्य राजशेखर के काल में भी यथार्थ समालोचकों की संख्या कम ही थी। अत: कभी-कभी कवि के सत्काव्य को महती क्षति पहुँचाने वाले काव्यालोचक उपलब्ध हो जाते थे, जो सत्काव्य में भी दोष ही दोष देखते थे तथा स्वयम् अपने शब्दों, अर्थों द्वारा कवि के काव्य को परिवर्तित भी कर देते थे।[3] कवि के मित्र, सम्बन्धियों द्वारा प्रचार के लिए काव्य का पाठ तथा प्रशंसा की तो जाती थी, किन्तु यह सम्यक् समालोचना नहीं थी।

---

1. न च स्वकृतिं बहु मन्येत, पक्षपातो हि गुणदोषौ विपर्यासयति। न च दृप्येत्। दर्पलवोऽपि सर्वसंस्कारानुच्छिनत्ति।
काव्यमीमांसा - (दशम अध्याय)
2. न नवीनमेकाकिन: पुरत:। स हि स्वीयं ब्रुवाण: कतरेण साक्षिणा जीयेत।---परैश्च परीक्षयेत्। यदुदासीन: पश्यति न तदनुष्ठातेति प्रायो वाद:।
काव्यमीमांसा - (दशम अध्याय)
3. इदं हि वैदग्ध्यरहस्यमुत्तमं पठेन्न सूक्तिं कविमानिन: पुर:। न केवलं तां न विभावयत्यसौ स्वकाव्यबन्धेन विनाशयत्यपि।
काव्यमीमांसा - (दशम अध्याय)

आचार्य राजशेखर का यह उल्लेख कि अधिकांश कवियों को मृत्यु प्राप्ति के बाद ही प्रशंसा मिलती है[1] इस बात का द्योतक है कि आचार्य राजशेखर ने तत्कालीन समाज में काव्य की समुचित समालोचना की उपलब्धता में निश्चय ही विलम्ब का अनुभव किया था। काव्य की सुरक्षा कठिन कार्य था।

राजशेखर यह भी स्वीकार करते थे कि श्रेष्ठ कवि निन्दा अथवा प्रशंसा से उद्विग्न नहीं होते थे क्योंकि जब यथार्थ समालोचक अल्पसंख्या में ही उपलब्ध थे तो कवि को लोकनिन्दा के भय से आत्मा के तिरस्कार की क्या आवश्यकता है?[2] अपनी रुचि के अनुकूल काव्यरचना ही उसे आनन्द दे सकती हैं।

भावक प्रकार :-

काव्यमीमांसा से स्पष्ट होता है कि कवि और भावक अन्योऽन्याश्रयी हैं। काव्य के वास्तविक मूल्याङ्कन के लिए कवि को भावक की आवश्यकता है और अपने हृदय को अलौकिक आनन्द प्रदान करने के लिए भावक को श्रेष्ठ कवि के उत्तम काव्य की आवश्यकता है।[3] भावक के हृदय पट पर अङ्कित काव्यों की संख्या कम ही होती है[4] यह आचार्य राजशेखर ने स्वीकार किया है। उन्हें यथार्थ समालोचक अवश्य ही अल्प संख्या में दृष्टिगत हुए थे, किन्तु काव्यरचना होते ही उसकी आलोचना करने वाले अधिक संख्या में प्राप्त हो ही जाते थे। तभी तो आचार्य राजशेखर उस कवि के काव्य पर

---

1. पितुर्गुरोर्नरेन्द्रस्य सुतशिष्यपदातयः अविविच्यैव काव्यानि स्तुवन्ति च पठन्ति च। ....
गीतसूक्तिरतिक्रान्ते स्तोता देशान्तरस्थिते। प्रत्यक्षे तु कवौलोकः सावज्ञः सुमहत्यपि। प्रत्यक्षकविकाव्य च रूपं च कुलयोषितः। गृहवैद्यस्य विद्या च कस्मैचिद्यदि रोचते॥ काव्यमीमांसा - (दशम अध्याय)
2. जनापवादमात्रेण न जुगुप्सेत चात्मनि जानीयात्स्वयमात्मानं यतो लोको निरङ्कुशः काव्यमीमांसा - (दशम अध्याय)
3. सत्काव्ये विक्रियाः काश्चिद् भावकस्योल्लसन्ति ताः। सर्वाभिनयनिर्णीतौदृष्टा नाट्यसृजा न याः॥
काव्यमीमांसा - (दशम अध्याय)
4. सन्ति पुस्तकविन्यस्ताः काव्यबन्धा गृहे गृहे द्वित्रास्तु भावकमनः शिलापट्टनिकुट्टिताः॥
काव्यमीमांसा - (दशम अध्याय)

आश्चर्य करते हैं जिसके आलोचक उस कवि के स्वामी, मित्र, मन्त्री, शिष्य और गुरू न हों।[1] इस प्रकार तत्कालीन समाज में काव्यप्रेमी अधिकांश लोग थे और कवि के निकटवर्ती सभी उसके काव्य के आलोचक बन जाते थे। इस कारण आचार्य राजशेखर को आलोचकों के विविध प्रकार काव्य जगत् में उपलब्ध हुए जिनका उन्होंने काव्यमीमांसा में विशद विवेचन किया है।

काव्य का भावन करने के पश्चात् भावक उसके प्रति अपने विचार प्रकट करने के लिए अपने-अपने स्तर के अनुसार अनेक विधियाँ अपनाते थे। कुछ वाणी के द्वारा अपने भाव प्रकट करते थे। कुछ केवल हृदय में ही काव्य भावन करके रह जाते थे। कुछ भावक अपने विचारों को मानसिक, शारीरिक चेष्टाओं के द्वारा अभिव्यक्त करते थे। किन्तु कवि तो अपने उन्हीं काव्यों से लाभान्वित होते थे, जिनका प्रचार भावक चतुर्दिक् करते थे।[2] संसार के लिए तो केवल अपने हृदय में भावन करने वाले काव्यभावक व्यर्थ हैं। भावकों द्वारा किए गए प्रचार से ही जगत् बाल्मीकि, व्यास, कालिदासादि आदि महाकवियों की रचनाओं से लाभान्वित हुआ।

विभिन्न प्रकार के आलोचकों की आचार्य राजशेखर ने क्रमिक श्रेणियां निर्धारित कीं क्योंकि जो आलोचक समाज में उपलब्ध होते थे उनमें कुछ काव्य के केवल गुण ग्रहण करते थे, कुछ की दृष्टि काव्य के केवल दोषों पर ही जाती थी। इस अविवेक का आधार व्यक्तिगत कारण भी होते थे। कुछ श्रेष्ठ समालोचक गुण, दोष दोनों को छोड़कर रसास्वादन मात्र करने वाले भी होते थे।[3]

इन सभी आधारों को ग्रहण करते हुए आचार्य राजशेखर ने काव्यमीमांसा में भावकों के चार प्रकार प्रस्तुत किए हैं—

---

1 स्वामी मित्रं च मन्त्री च शिष्यश्चाचार्य एव च। कवेर्भवति हि चित्रं किं हि तद्यन्न भावक:॥

काव्यमीमांसा - (चतुर्थ अध्याय)

2. वाग्भावको भवेत्कश्चिद्धृदयभावक:। सात्विकैराङ्गिकैः कश्चिदनुभावैश्च भावक:॥
काव्येन किं कवेस्तस्य तन्मनोमात्रवृत्तिना। नीयन्ते भावकैर्यस्य न निबन्धा दिशो दश॥

काव्यमीमांसा - (दशम अध्याय)

3 गुणादानपर : कश्चिद्दोषादानपरोऽपर:। गुणदोषाहृतित्यागपर: कश्चन भावक:॥ काव्यमीमांसा - (चतुर्थ अध्याय)

(क) अरोचकी, (ख) सतृणाभ्यवहारी, (ग) मत्सरी, (घ) तत्वाभिनिवेशी।

आचार्य राजशेखर द्वारा उल्लिखित प्रथम दो अरोचकी तथा सतृणाभ्यवहारी भावकों के नाम ही आचार्य वामन के कवियों के नाम हैं। अरोचकी विवेकी होने के कारण काव्यविद्या के अधिकारी शिष्य हैं किन्तु अविवेकयुक्त सतृणाभ्यवहारी कवि काव्यविद्या के शिष्य बनने का अधिकार नहीं प्राप्त करते।[1] आचार्य वामन के कवि तथा आचार्य राजशेखर के भावकों के नाम की समानता का आधार उनका विवेक और अविवेक ही है।

काव्यमीमांसा में वर्णित **अरोचकी भावकों** के नाम से स्पष्ट है कि उन्हें कोई भी रचना शीघ्र रुचिकर नहीं लगती। अरोचकता दो प्रकार की होती है[2]—(क) नैसर्गिकी अरोचकता :—यह स्वाभाविक अरुचि सैकड़ों संस्कारों से दूर नहीं हो सकती। जैसे रांगा सैकड़ों बार संस्कार किए जाने पर भी अपनी कालिमा नहीं छोड़ता। (ख) ज्ञानजन्य अरोचकता :—यदि भावक की अरुचि ज्ञानजन्य है तो किसी विशिष्ट, अलौकिक रचना के वास्तविक गुणों को देखकर वह उसकी श्रेष्ठता स्वीकार करने में तत्पर भी हो सकता है।

सतृणाभ्यवहारी भावक :-

यह सम्भवतः समाज के सर्वसाधारण जन हैं। यह नवीन आलोचक उत्सुकतावश सभी रचनाओं पर कुछ न कुछ कहते रहते हैं।[3] इन आलोचकों की विवेक रहित प्रतिभा गुण, दोष की परख करने में असमर्थ होती है। इसी कारण यह अपनी आलोचना को सर्वाङ्गीण नहीं बना पाते, रचना का कुछ न कुछ गुण, दोष इनकी दृष्टि से छूट ही जाता है।

---

1. अरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्च कवयः। (1/2/1) पूर्वे शिष्याः विवेकित्वात् (1/2/2) नेतरे तद्विपर्ययात् (1/2/3)
काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति (वामन)
2. ''अरोचकिता हि तेषां नैसर्गिकी ज्ञानयोनिर्वा। नैसर्गिकी हि संस्कारशतेनाऽपि रङ्गमिव कालिकां ते न जहति। ज्ञानयोनौ तु तस्यां विशिष्टज्ञेयवतिवचसि रोचकितावृत्तिरेव'' इति यायावरीयः काव्यमीमांसा - (चतुर्थ अध्याय)
3. किञ्चं सतृणाभ्यवहारिता सर्वसाधारणी तथाहि व्युत्पित्सोः कौतुकिनः सर्वस्य सर्वत्र प्रथमं सा। प्रतिभाविवेकविकलता हि न गुणागुणयोर्विभागसूत्रं पातयति। ततो बहु त्यजति बहु च गृह्णाति----------काव्यमीमांसा (चतुर्थ अध्याय)

मत्सरी भावक :-

जैसा कि इनके नामसे ही स्पष्ट है यह अपने हृदय की ईर्ष्याभावना से कभी भी उबर नहीं पाते थे। सदैव काव्य के दोषदर्शन में ही प्रयत्नशील रहते थे। दूसरों के काव्य के गुणों के वर्णन में वे मौन रहने की ही इच्छा रखते थे।[1] व्यक्तिगत कारणों से यह काव्य की अन्यायपूर्ण आलोचना ही करते थे। इन आलोचकों की उपस्थिति समाज तथा सत्कवि दोनों को दुःखी करती थी। कुछ कवि तो इनके कारण काव्यनिर्माण ही त्याग देते थे। ऐसे ही एक दुःखी कवि का आचार्य राजशेखर ने उल्लेख किया है।[2]

तत्वाभिनिवेशी भावक :-

आचार्य राजशेखर का तत्वाभिनिवेशी भावक श्रेष्ठ समालोचक के सभी गुणों को अपने अन्दर समेटे हुए है। यह काव्य के तत्व के वास्तविक अन्वेषक हैं। किन्तु यह समाज में हजारों में एक की संख्या में ही उपलब्ध होते हैं। किसी कवि को बड़े ही पुण्य प्रभाव से उसके रचनाश्रम को समझने वाला विद्वान्, निष्पक्ष तथा यथार्थ समालोचक मिलता है। यह समालोचक काव्य के शब्दों की रचनाविधि का सम्यक् विवेचन करते हैं, कवि की सूक्तियों तथा अलौकिक विचारों से आनन्दित होते हैं। काव्य के सघन रसामृत का पान करते हैं।[3] काव्य के तत्व के भीतर प्रवेश करके काव्यरचना के गूढ़ तात्पर्य का अन्वेषण कर लेते हैं। काव्य के अन्तर्निहित छिपे हुए गुण, दोषों को भी समझकर उचित

---

1. मत्सरिणस्तु प्रतिभातमपि न प्रतिभातं, परगुणेषु वाचंयमत्वात्। स पुनरमत्सरी ज्ञाता च विरलः।

   काव्यमीमांसा - (चतुर्थ अध्याय)

2. कस्त्वं भोः कविरस्मि काप्यभिनवा सूक्तिः सखे पठ्यतां, त्यक्ता काव्यकथैव सम्प्रति मया कस्मादिदं श्रूयताम् यः सम्यग्विविनक्ति दोषगुणयोः सारं स्वयं सत्कविः सोऽस्मिन्भावक एव नास्त्यथ भवेद्दैवान्न निर्मत्सरः॥

   काव्यमीमांसा - (चतुर्थ अध्याय)

3. तत्त्वाभिनिवेशी तु मध्येसहस्त्रं यद्येकस्तदुक्तम्
   शब्दानां विविनक्ति गुम्फनविधिनामोदते सूक्तिभिः सान्द्रं लेढि रसामृतं विचिनुते तात्पर्यमुद्रां च यः। पुण्यैः सङ्घटते विवेक्तृविरहादन्तर्मुखं ताम्यताम् केषामेव कदाचिदेव सुधियां काव्यश्रमज्ञो जनः॥

   काव्यमीमांसा - (चतुर्थ अध्याय)

शब्दों में अभिव्यक्त करते हुए समाज के सम्मुख सत्कवि के काव्य की श्रेष्ठ समालोचना प्रस्तुत करते हुए कवि तथा काव्यजगत् का महान् उपकार करते हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ के 'रसगङ्गाधर' की भूमिका में इन श्रेष्ठ समालोचकों का ही औचित्य बताया गया है। आलोचना नवनवोन्मेष जननी है किन्तु इसके लिए विज्ञ आलोचक ही होना चाहिए। रचना में केवल दोष देखने वाले आलोचक की तुलना व्रणमात्रगवेषिका मक्षिका से की गई है।[1]

आचार्य विश्वेश्वर को साहित्यमीमांसा में सत्व, रज तथा तम इन तीन गुणों से युक्त उत्तम, मध्यम तथा अधम तीन प्रकार के रसिक वर्णित हैं।[2]

---

1 आलोचकान् प्रति—नवप्रकाशितस्य मौलिकग्रन्थस्य व्याख्याग्रन्थस्य वा समालोचनम् कर्तव्यमेव विज्ञैरालोचकैः यत् आलोचनैव नवनवरहस्योन्मेषजननी। परन्तु समालोचकैर्दोषैकदृग्भिर्नभाव्यम्। गुणानपश्यन्तः पश्यन्तोऽपि गवेषिकाभिर्मक्षिकाभिरेवोपमीयन्ते। अतो गुणदोषप्रकटनपरैः पक्षपातरहितैः स्वयं कृतकृतिभिः राजशेखराभिनन्दितकोटिकैस्तत्त्वाभिनिवेशिभिरालोचकैर्भवितव्यम्।

('रसगङ्गाधर' की भूमिका से उद्धृत)

2. उत्तमाधममध्यत्वात् त्रिविधो रसिकः स्मृतः। साहित्यमीमांसा (विश्वेश्वर) (प्रथम प्रकरण)

अत्र सत्वं रजस्तम इति गुणाः। तद्योगात् सात्विको राजसस्तामस इति त्रिविधो रसिकः। यथाक्रममुत्तमो मध्यमोऽधमश्च। (अष्टम प्रकरण) साहित्यमीमांसा (विश्वेश्वर)

(ख) 'काव्यमीमांसा' में वर्णित विदग्धगोष्ठी तथा राजचर्या

प्राचीन काल से ही विदग्धगोष्ठी काव्य विवेचन का महत्वपूर्ण केन्द्र तथा काव्य प्रचार का सबसे बड़ा साधन थीं। काव्यगोष्ठी में काव्य के आस्वादन का आनन्द विदग्ध नागरक प्राप्त करते थे। विदग्ध नागरकों की उपस्थिति के कारण ही ज्ञान, विज्ञान, मनोविनोद तथा विभिन्न कलाओं से सम्बद्ध यह सभाएँ विदग्धगोष्ठी नाम से प्रसिद्ध थीं। काव्य की पाठशाला के समकक्ष इन विदग्धगोष्ठियों में कवि प्रचार हेतु अपनी काव्य कला को रसिकों के समक्ष प्रस्तुत करते थे। अत: कवियों को यत्नपूर्वक काव्य की शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती थी। विदग्धगोष्ठियों की महत्ता बढ़ने के साथ ही कविशिक्षा की आवश्यकता बढ़ने लगी। कवि बनने के लिए काव्यशास्त्र और काव्य की विद्याओं, उपविद्याओं का अनुशीलन एवम् काव्यविद्यागुरू से उसका अभ्यास आवश्यक माना गया। काव्यशास्त्र का पठन काव्यगोष्ठी में प्रवृत्ति की योग्यता के रूप में स्वीकृत था। यदि कोई कवि न हो अथवा उसमें काव्यविषयक पाण्डित्य न हो तो उसका विदग्धगोष्ठियों में प्रवेश असम्भव था। अत: कविशिक्षक के रूप में प्रतिष्ठित आचार्य राजशेखर ने इनमें प्रवेश की योग्यता प्राप्ति हेतु कवि को निपुण बनने के निर्देश दिए हैं।

आचार्य राजशेखर के पूर्व भी विदग्धगोष्ठी का वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में उल्लेख है। विदग्ध नागरक प्रतिमास अथवा प्रतिपक्ष निश्चित दिन सम्मेलन आयोजित करते थे। यह सम्मेलन 'समाज' तथा इसमें भाग लेने वाले 'सामाजिक' नाम से प्रसिद्ध थे।[1] आचार्य दण्डी भी स्वीकार करते थे कि कवि उत्कृष्ट कवित्व न होने पर भी काव्यशास्त्र के अध्ययन से व्युत्पन्न होकर परिश्रम करते हुए विदग्ध

---

1. 'पक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञातेऽहनि सरस्वत्या भवने नियुक्तानां नित्यं समाज: कामसूत्र (वात्स्यायन) (1/4/27)

सरस्वती च नागरकाणां विद्याकलासु अधिदेवता, तस्या आयतने नियुक्तानाम् नामकेन पूजोपचारकत्वे प्रतिपक्षं प्रतिमासम् च ये नियुक्ता: नागरकनटाद्यो नर्तितुम् तेषां समाज: स्वव्यापारानुष्ठानेन मिलनम् यस्मिन् प्रवृत्ते नागरिका: सामाजिका: भवन्ति।

(जयमङ्गला टीका)

गोष्ठियों में विहार करने योग्य बन ही जाते थे।[1] इस प्रकार काव्यगोष्ठीविवेचन से साहित्यक्षेत्र राजशेखर से पूर्व भी परिचित था, किन्तु उनकी 'काव्यमीमांसा' में तो विदग्धगोष्ठियों का संदर्भ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। आचार्य राजशेखर कवि के लिए विदग्धगोष्ठी की अनिवार्यता स्वीकार करते थे, क्योंकि विदग्धगोष्ठियों में विभिन्न प्रकार के काव्यों के श्रवण, पठन द्वारा ही कवियों के काव्य का समाज में प्रचार होता था। इसी कारण कवि की परिचेय वस्तुओं-देशों के व्यवहार, विद्वानों की सूक्तियों, सांसारिक व्यवहार तथा प्राचीन कवियों के निबन्ध के अतिरिक्त आचार्य राजशेखर ने सज्जनों के आश्रित कवियों के सत्सङ्ग का तथा विदग्धगोष्ठी का काव्य की माताओं के रूप में उल्लेख किया है।[2]

काव्य के प्रचारक साधन रूप में प्रचलित विदग्धगोष्ठियों में कवि तथा भावक दोनों ही उपस्थित होते थे। भावक काव्यालोचन करके किसी श्रेष्ठ काव्य को सुयश प्रदान करते थे तो कोई सदोषकाव्य उनके भावन तथा आलोचन द्वारा अपयश का भाजन बनता था। आचार्य राजशेखर के युग में काव्यसिद्धान्त के विषय काव्यगोष्ठियों की चर्चा के विषय बनते थे। इन चर्चाओं से समय समय पर काव्यशास्त्र के अनेक नवीन सिद्धान्तों का उद्‌गम होता था। कवि और भावक इन नवीन मान्यताओं का प्रयोग तथा परीक्षण करते हुये इन गोष्ठियों में ही उन्हें स्थिरता प्रदान करते थे।

आचार्य राजशेखर की काव्यमीमांसा से प्रतीत होता है। कि तत्कालीन समाज में साधारण स्तर की काव्यगोष्ठियाँ भी प्रचलित थीं और उच्च स्तर की भी। कवि की दिनचर्या में काव्यगोष्ठियों में प्रवृत्ति का विशेष स्थान था। कवि के लिए प्रतिदिन गोष्ठियों में काव्यचर्चा करना तथा उसके विविध अङ्गों पर अभ्यास करते हुए अपनी रचनाओं के स्तर में सुधार करना अनिवार्य था। यह साधारण स्तर की काव्यगोष्ठियाँ थीं, जिनमें कवि की मित्रमण्डली के लोग सम्मिलित होते थे। प्राय: यह गोष्ठियाँ कवि के आवास पर ही नित्य एक निश्चित समय पर, प्राय: दिन में भोजनोपरान्त आयोजित होती थीं।

---

1. तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः। कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमाः विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते। (105) प्रथम परिच्छेद — काव्यादर्श (दण्डी)

2. सुजनोपजीव्यकविसन्निधिः देशवार्ता, विदग्धवादो, लोकयात्रा, विद्वद्‌गोष्ठयश्च काव्यमातरः पुरातनकविनिबन्धाश्च। (काव्यमीमांसा — दशम अध्याय)

इस अवसर पर कविगण प्रश्नोत्तरों के माध्यम से काव्यविषयक चर्चा करते थे।[1] बाणभट्ट के समय में गोष्ठियों में बहुत गूढ़ काव्यप्रहेलिकाओं की रचना होती थी।[2] भोजराज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में विदग्धगोष्ठी में प्रयुक्त प्रश्नोत्तर तथा प्रहेलिका का स्वरूप विवेचन किया है तथा प्रहेलिका को क्रीडागोष्ठी के विनोद में उपयोगी बताया है।[3]

'काव्यमीमांसा' में विवेचित कवि की दिनचर्या को चतुर्थ प्रहर में भी कवि के कुछ निश्चित मित्रों की उपस्थिति में कवि द्वारा प्रात:काल की गई रचनाओं का समीक्षण होता था। काव्य के गुण दोष की विवेचना की जाती थी।[4] आचार्य राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' में स्वीकार किया गया है कि कवि के लिए आत्मनिरीक्षण आवश्यक है, तभी वह काव्यगोष्ठी में सफल हो सकता है। कवि जिस काव्यगोष्ठी में काव्यपठन करे उसके सम्यजनों के संस्कारों से कवि के काव्य, भाषा तथा संस्कारों में समानता होनी चाहिये। परन्तु यह नियम स्वतन्त्र कवि के लिये नहीं है।[5]

राजा और राजकवियों की उच्चस्तर की गोष्ठियाँ प्राय: राजभवनों में आयोजित होती थीं। इन राज्यस्तर की विद्वद्गोष्ठियों में यद्यपि महाकवियों की ही उपस्थिति रहती होगी, किन्तु प्रारम्भिक कवियों को भी अपने काव्य के प्रचार, प्रसार के लिये काव्य के स्तर के अनुसार ही क्रमशः छोटी बड़ी काव्यगोष्ठियों में अपना स्थान बनाना अनिवार्य था। इसके अतिरिक्त प्रारम्भिक कवि उच्चस्तर की

---

1. भोजनान्ते काव्यगोष्ठीं प्रवर्त्तयेत । कदाचिच्च प्रश्नोत्तराणि भिन्दीत। (काव्यमीमांसा - दशम अध्याय)
2. सरस्वतीपुत्रोत्पत्तिप्रकरण में—विद्याविसंवादकृताश्च तेषां तत्रान्योन्यस्य विवादा: प्रादुर्भवन्—प्रथम उच्छ्वास—हर्षचरित—बाणभट्ट
3. क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रणे परव्यामोहने चापि सोपयोगा: प्रहेलिका: । 150।
   यस्तु पर्य्यनुयोगस्य निर्भेद: क्रियते पदै:। विदग्धगोष्ठ्यां वाक्यैर्वा तं हि प्रश्नोत्तरं विदु: । 152।
   (सरस्वतीकण्ठाभरण (भोजराज) द्वितीय परिच्छेद)
4. चतुर्थ एकाकिन: परिमितपरिषदो वा पूर्वाह्णभागविहितस्य काव्यस्य परीक्षा। (काव्यमीमांसा - दशम अध्याय)
5. ''कवि : प्रथममात्मानमेव कल्पयेत्। कियान्मे संस्कार:, क्व भाषाविषये शक्तोऽस्मि, किंरुचिर्लोक: परिवृढो वा, कीदृशि गोष्ठ्यां विनीत: क्वास्य वा चेत: संसजत इति बुद्ध्वा भाषाविशेषमाश्रयेत ''इति आचार्या:। 'एकदेशकवेरियं नियमतन्त्रणा स्वतन्त्रस्य पुनरेकभाषावत्सर्वा अपि भाषा: स्यु: इति यायावरीय:। (काव्यामीमांसा - दशम अध्याय)

काव्यगोष्ठियों में उपस्थित होकर विशेष रूप से लाभान्वित होते थे। इन गोष्ठियों में प्रारम्भिक कवि महाकवियों के काव्यों के श्रवण का तथा उनसे शिक्षा ग्रहण करने का अवसर भी प्राप्त करते थे। सज्जनों अथवा राजाओं के आश्रित श्रेष्ठ कवियों के सत्सङ्ग को कवि के लिए अनिवार्य कहने वाले आचार्य राजशेखर स्वीकार करते थे कि काव्यसम्बन्धी दुर्लभ ज्ञान तथा काव्यनिर्माण सम्बन्धी अभ्यासप्राप्ति महाकवियों के संसर्ग से ही संभव है। काव्याभ्यास करते समय नवीन कवि के काव्य में दोषों की संभावना भी रहती है। किन्तु क्रमशः यह दोष महाकवियों के संसर्ग में अभ्यास करते हुए दूर हो जाते हैं। 'काव्यमीमांसा' में कवि की दिनचर्या में काव्यगोष्ठी में प्रवृत्ति तथा काव्याभ्यास को विशेष महत्व देते हुये आचार्य राजशेखर ने प्रारम्भिक कवियों का महान् उपकार किया है तथा उन्हें गोष्ठियों के अभ्यास के प्रारम्भिक सोपान से श्रेष्ठता के लक्ष्य तक पहुँचाने में कविशिक्षक का महत्वपूर्ण दायित्व निभाया है। आधुनिक युग में भी काव्यप्रचार के विभिन्न साधन होने पर भी कवियों के लिए कविसम्मेलनों तथा काव्यगोष्ठियों का महत्व कम नहीं हुआ है।

राजचर्या :-

स्वतन्त्र रूप से आयोजित काव्यगोष्ठियों और कविसम्मेलनों के उल्लेख के अतिरिक्त 'काव्यमीमांसा' में 'राजचर्या' तथा राजाओं द्वारा काव्यसभाओं के आयोजनों के विस्तृत उल्लेख मिलते हैं। तत्कालीन युग में राजा काव्यप्रेमी तथा कलाप्रेमी अवश्य थे, क्योंकि राजदरबारों में कवियों का विशेष सम्मान था। राजा का प्रभाव प्रजा तथा समाज पर भी था, जनता भी कवियों के प्रति आदर भाव रखती थी। राजशेखर के युग में कवि की श्रेष्ठता की सिद्धि सम्भवतः राज्यसभा में कवि की उपस्थिति से होती थी। कवि और राजा परस्पर सापेक्ष थे। कवि राजा का कीर्तिगान करते थे, राजा कवि तथा उसके काव्य को सम्मानित करते थे। अधिकांश राजा उत्कृष्ट कवियों तथा विद्वानों के संरक्षक रूप में गर्व का अनुभव करते थे। राजा का आश्रय कवि को सभी सुविधाएँ प्रदान करने में सहायक था। राज्याश्रित कवि चिन्तामुक्त होकर उत्कृष्ट साहित्यिक वातावरण में उत्कृष्ट काव्य रचना भी करते थे। आचार्य

राजशेखर का कविचर्याप्रकरण राज्याश्रित कवियों की ऐश्वर्यसम्पन्नता का स्वरूप प्रस्तुत करता है। उनके निवासस्थान बाग बगीचों, फव्वारों, सुन्दर सरोवरों, वापियों आदि से शोभित रहते थे। उनमें विविध प्रकार के पशु पक्षी, कृत्रिम पर्वत, विविध पुष्पवृक्ष एवम् लता मण्डप आदि रहते थे।[1] इन समृद्ध कवियों के काव्यबन्ध यशस्वी राजाओं की कीर्ति को सुरक्षित करते थे तथा यथार्थ इतिहास का ज्ञान भी कराते थे। राज्याश्रय से कभी-कभी कवि को कुछ हानि भी होती रही होगी। चाहे अल्पमात्रा में ही क्यों न हो राज्याश्रय से कवि की स्वतन्त्रता में बाधा भी उत्पन्न होती रही होगी। कुछ कवि अर्थलोभ से राज्यसभाओं में प्रवेश करके राजाओं का झूठा यशगान तथा काव्यकला का दुरूपयोग भी करते थे। कभी-कभी कविगण अपने आश्रदाता राजा तथा उसकी प्रजा की रूचियों को देखते हुए उन्हीं के अनुकूल भाषा तथा विषय में काव्यरचना करते थे। यद्यपि आचार्य राजशेखर ने काव्यमीमांसा में कवि के लिए दोनों पक्ष स्वीकार किए हैं। (क) कवि को अपने स्वामी अथवा राजा की रूचि का ध्यान अवश्य रखना होगा।[2] राजा अपनी रूचिसम्बद्ध रचनाओं के आधार पर ही कवि को आश्रय देते रहे होंगे। (ख) कवि को लोकरूचि तथा राजा की रूचि के साथ ही अपनी रूचि का भी ध्यान अवश्य रखना चाहिये।[3] आत्मतिरस्कार कवि के काव्य की श्रेष्ठता के लिये श्रेयस्कर नहीं है। इस आधार पर 'काव्यमीमांसा' से तत्कालीन राज्याश्रित दो प्रकार के कवियों का स्वरूप स्पष्ट होता है—कुछ कवि पूर्णतः राजा की रूचि पर आश्रित रहे होंगे। किन्तु कुछ ने राज्याश्रित होकर भी अपनी प्रतिभा के बल पर आत्मस्वतन्त्र्य को सुरक्षित रखा होगा।

---

1 तस्य भवनं सुसंमृष्टं, ऋतुषट्कोचितविविधस्थानम् अनेकतरूमूलकल्पितापाश्रयवृक्षवाटिकं, सक्रीडापर्वतकं, सदीर्घिकापुष्करिणीकं, ससरित्समुद्रावर्त्तकं, सकुल्याप्रवाहम् सवर्हिणहरिणहारीतं ससारसचक्रवाकहंसम् सचकोरक्रौञ्चकुररशुकसारिकं, घर्मक्लान्तिचौरं, सभूमिधारागृहयन्त्रलतामण्डपकं, सदोलाप्रेङ्खं च स्यात्।
(काव्यमीमांसा - दशम अध्याय)

2 ''किं रूचिर्लोकः परिगृह्णो वा .... (काव्यमीमांसा - दशम अध्याय)

3. जनापवादमात्रेण न जुगुप्सेत चात्मनि। जानीयात्स्वयमात्मानं यतो लोको निरङ्कुशः॥ (काव्यमीमांसा - दशम अध्याय)

सामान्यत: 'राजचर्या' के अन्तर्गत 'राजसभा' से सम्बन्धित राजा के कार्यकलापों का अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है किन्तु कवि शिक्षासम्बन्धी ग्रन्थ में इस विषय के विवेचन का कारण राजशेखरकाल का राज्याश्रित कवियों से अपेक्षाकृत अधिक सम्बद्ध होना है। 'काव्यमीमांसा' में वर्णित 'राजचर्या' राजा की दिनचर्या से नहीं, किन्तु उसकी काव्यसभाओं की गतिविधियों से सम्बद्ध है। कवि के काव्य के प्रचार प्रसार में तथा कवि को प्रोत्साहन देने में प्रत्येक युग में राज्यव्यवस्था महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं, इस प्रकार साहित्यिक उन्नति भी अधिकांशत: राज्यव्यवस्था पर कुछ अंशों में निर्भर रहती है।

आचार्य राजशेखर के काल में साहित्य तथा शास्त्र में रूचि रखने वाले, कविगुणों से युक्त विद्वान् राजाओं ने अपने राज्य में महती काव्यसभाओं के रूप में 'कविसमाज' की स्थापना की। इन काव्यसभाओं में काव्य की उत्कृष्टता की परख का महान् कार्य सम्पन्न किया जाता था। आचार्य राजशेखर ने स्वीकार किया था कि राजा को कविसमाज की स्थापना करनी चाहिये, क्योंकि यदि राजा कवि हो तो उसकी प्रजा भी कवि बन जाती है।[1] समय-समय पर काव्यगोष्ठियों का आयोजन कराना राजा का कर्तव्य था। राज्य में आयोजित काव्यगोष्ठियों का सभापतित्व प्राय: राजा स्वयम् ही करते थे।[2] भावकों तथा राजा के सम्मिलित प्रयास से काव्य का मूल्याङ्कन किया जाता था। यदि स्वामी भावक न हो तो उस कवि के काव्य पर आश्चर्य है।[3]

राज्याश्रित कवि के रूप में आचार्य राजशेखर ने राजाओं द्वारा संचालित विद्वद्गोष्ठियों का प्रत्यक्ष दर्शन किया था। वह स्वयम् प्रतिहारवंशी महेन्द्रपाल और उसके पुत्र महीपाल के राजसभासद

---

1. राजा कवि: कविसमाजं विंदधीत। राजनि कवौ सर्वो लोक: कवि: स्यात्। स काव्यपरीक्षायै सभां कारयेत्।
(काव्यमीमांसा- दशम अध्याय)

2 तत्र यथासुखमासीन: काव्यगोष्ठीम्प्रवर्तयेत भावयेत्परीक्षेत च।-----------
इत्थं सभापतिर्भूत्वा य: काव्यानि परीक्षते यशस्तस्य जगद्व्यापि स सुखी तत्र तत्र च॥ (काव्यमीमांसा - दशम अध्याय)

3 स्वामी मित्रं च मन्त्री च शिष्यश्चाचार्य एव च। कवेर्भवति हि चित्रं किं हि तद्यन्न भावक:॥
(काव्यमीमांसा - चतुर्थ अध्याय)

एवम् राजकवि के पद पर प्रतिष्ठित थे। इसी कारण 'काव्यमीमांसा' में उन्होंने राजदरबारों में विद्वद्जनों के सम्मान का सूक्ष्म विवेचन करते हुए सजीव चित्र उपस्थित किया है। राजाओं को आचार्य राजशेखर ने यह निर्देश दिया कि उन्हें महानगरों में काव्यों और शास्त्रों की परीक्षा के लिए ब्रह्मसभाएँ (विद्वद्गोष्ठी) आयोजित करानी चाहिए और उस परीक्षा में उत्तीर्ण विद्वानों को 'ब्रह्म-रथ' तथा 'पट्टबन्ध' से सम्मानित करना चाहिए।[1] काव्यकार और शास्त्रकार की परीक्षाओं के निमित्त उज्जयिनी तथा पाटलिपुत्र में आयोजित राजसभाओं का 'काव्यमीमांसा' में उल्लेख है। उज्जयिनी की काव्यकारपरीक्षा में कालिदास, मेण्ठ, अमर, रूप, आर्यसूर, भारवि, हरिचन्द्र और चन्द्रगुप्त की परीक्षा हुई थी। पाटलिपुत्र की शास्त्रकार परीक्षा में उत्तीर्ण होकर उपवर्ष, वर्ष, पाणिनि, पिङ्गल, व्याडि, वररुचि और पतञ्जलि ने ख्याति अर्जित की थी।[2] काव्यकार तथा शास्त्रकार की परीक्षा हेतु आयोजित गोष्ठियाँ प्रायः संवत्सर के आरम्भ में महानगरों में बुलाई जाती थी। अपने राज्य की साहित्यिक समृद्धि के लिए राजा कवियों तथा शास्त्रकारों को यथोचित पुरस्कार प्रदान करते थे। इन गोष्ठियों में देश-विदेश के विद्वान् सम्मिलित होते थे। उनका परस्पर परिचय तथा विचार विनिमय होता था। पुरस्कृत विद्वानों तथा कवियों को ब्रह्मपट्ट दिये जाते थे, तथा उन्हें ब्रह्मरथ पर बैठाकर समारोह सहित नगर-यात्रा कराई जाती थी। सर्वोत्कृष्ठ विद्वानों तथा कवियों का इस प्रकार का सार्वजनिक सम्मान राजा तथा कविसमाज दोनों के यश की श्रीवृद्धि करता था। रचनाओं तथा रचनाकारों के मूल्याङ्कन के इन अवसरों पर केवल कवि तथा शास्त्रकार ही नहीं, बल्कि प्रजा के विभिन्न श्रेणी के लोग भी श्रोता और दर्शक के रूप में उपस्थित होकर विद्वानों के सार्वजनिक सम्मान के साक्षी बनते थे। काव्यगोष्ठी के समान विज्ञानगोष्ठी का

---

1. महानगरेषु च काव्यशास्त्रपरीक्षार्थम् ब्रह्मसभाः कारयेत्। तत्र परीक्षोत्तीर्णानाम् ब्रह्मरथयामं पट्टबन्धश्च।

(काव्यमीमांसा - दशम अध्याय)

2. श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा- ''इह कालिदासमेण्ठावत्रामररूपसूरभारवयः हरिचन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्॥'' श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा- ''अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिङ्गलाविह व्याडिः वररुचिपतञ्जली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः

(काव्यमीमांसा - दशम अध्याय)

आयोजन, विदेशी विद्वानों का सम्मान तथा नौकरी के इच्छुक लोगों को नौकरी देना आदि राजा के कार्य गुणीजन के यथोचित सम्मान से सम्बद्ध थे क्योंकि पुरुषरत्नों का आधार राजा ही है।[1]

'काव्यमीमांसा' में आचार्य राजशेखर ने चार प्राचीन राजाओं—वासुदेव, सातवाहन, शूद्रक और साहसाङ्क का उल्लेख किया है जो विद्वानों तथा कवियों को मुक्तहस्तदान देकर सम्मानित करने के साथ ही स्वयं भी संस्कृत आदि भाषाओं के विद्वान्, कवि अथवा प्रबन्धकर्ता के रूप में प्रसिद्ध थे। इसी कारण आचार्य राजशेखर ने समसामयिक अन्य राजाओं से इनके पदचिह्नों पर चलकर अपने राज्य को साहित्यिक दृष्टि से समृद्ध बनाने का आग्रह किया।[2]

विभिन्न राजसभाओं के आयोजन के प्रत्यक्षदृष्टा आचार्य राजशेखर यह भली भाँति जानते थे कि राजा के नेतृत्व में आयोजित सभा के लिए सामान्य सभामण्डप का औचित्य नहीं है। इसी कारण उन्होंने विशिष्ट सभामण्डप का आदर्श स्वरूप 'काव्यमीमांसा' में प्रस्तुत किया। 'राजसभा में सोलह खम्भे, चार द्वार तथा आठ बरामदें हों। उस सभा से लगा हुआ ही राजा का केलिगृह हो। सभा के मध्य में ही चार खम्भों के बीच एक हाथ ऊँचा मणिजटित चबूतरा हो, उस पर राजा का आसन हो।[3] तत्कालीन समाज में सभी भाषाओं के कवि सम्मानित थे—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा पैशाची भाषाएँ प्रधान रूप से प्रचलित थीं। 'काव्यमीमांसा' में राजदरबार में आयोजित सभा का अनुपम वर्णन प्रस्तुत है। भिन्न - भिन्न भाषाओं के कवियों और विभिन्न कलाकारों के लिए बैठने के क्रम का निर्देश दिया गया है। सर्वप्रथम कवियों का स्थान निर्दिष्ट है तत्पश्चात् अन्य कलाकारों का। किस भाषा के कवि की पंक्ति

---

1. अन्तरान्तरा च काव्यगोष्ठीं शास्त्रवादाननुजानीयात्। मध्वपि नानवदंशम् स्वदते। काव्यशास्त्रविरतौ विज्ञानिष्वभिरभेत। देशान्तरागतानां च विदुषामनन्य द्वारा मङ्गम् कारयेदौचित्यद्यावत्स्थितिं पूजां च। वृत्तिकामाश्चोपजपेत् संगृहणीयान्च। पुरुषरत्नानामेक एव राजोदन्वान्भाजनम्। (काव्यमीमांसा - दशम अध्याय)
2. वासुदेवसातवाहनशूद्रकसाहसाङ्कादीन्सकलान् सभापतिन्दानमानाभ्यामनुकुर्यात्। तुष्टपुष्टाश्चास्य सभ्या भवेयुः. स्थाने च पारितोषिकं लभरेन्। लोकोत्तरस्य, काव्यस्य च यथार्हा पूजा कवेर्वा। (काव्यमीमांसा- दशम अध्याय)
3. सा षोडशभिः स्तम्भैश्चतुर्भिर्द्वारैरष्टाभिर्मत्तवारणीभिरूपेता स्यात्। तदनुलग्नम् राज्ञः केलिगृहं। मध्येसभं चतुःस्तम्भान्तरा हस्तमात्रोत्सेधा समणिभूमिका वेदिका। तस्यां राजासनम्। (काव्यमीमांसा - दशम अध्याय)

में समाज के किस श्रेणी के कलाकार बैठते थे— 'काव्यमीमांसा' से यह जानकर तात्कालिक समाज में विभिन्न भाषाओं के स्तर तथा क्रमिक महत्व से परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

'काव्यमीमांसा' में राजासन के उत्तर में संस्कृत कवियों के बैठने के स्थान का निर्देश है। संस्कृत कवियों की पंक्ति में वेद आदि के ज्ञाता विद्वान्, दर्शनशास्त्रवेत्ता, पौराणिक, धर्मशास्त्री, वैद्य, ज्योतिषी आदि का तथा इसी स्तर के अन्य व्यक्तियों का स्थान निश्चित था। राजासन के पूर्व में प्राकृत भाषा के कवि तथा उनके क्रम में ही नट,नर्तक, गायक, वादक, कथक, अभिनेता, हाथ के तालों पर नाचने वाले तथा अन्य इसी श्रेणी के लोग बैठते थे। राजासन के पश्चिम में अपभ्रंश भाषा के कवियों का तथा उनकी पंक्ति में चितेरे, जड़िए, जौहरी, स्वर्णकार, बढ़ई आदि कलाकारों के स्थान का निर्देश दिया गया है। राजासन के दक्षिण में पैशाची भाषा के कवि तथा इसी क्रम में विट, वेश्या, तैराक, ऐन्द्रजालिक आदि कलाकारों का स्थान था।[1] इस प्रकार विद्वान्, कवि और कलाप्रेमी राजा अपनी सभाओं में कवियों तथा विद्वानों के साथ समाज के प्रत्येक श्रेणी के कलाकारों को स्थान देता था। सभी भाषाओं के कवियों को आदर प्राप्त था। कवियों तथा कलाकारों का ऐसा सम्मान प्रत्येक युग में उनके प्रोत्साहन हेतु अनिवार्य होना चाहिये। आचार्य राजशेखर ने जैसे काव्यदरबार का प्रत्यक्षदर्शन किया था, उसे ही सम्भवत: 'काव्यमीमांसा' में प्रस्तुत किया, किन्तु यह सूक्ष्म विवेचन तत्कालीन साहित्यकारों, कलाकारों आदि की वास्तविक स्थिति का परिचायक होने के कारण बहुत उपयोगी है।

---

1 तस्य चोत्तरत: संस्कृता: कवयो निविशेरन् बहुभाषाकवित्वे यो यत्राधिकं प्रवीण: स तेन व्यपदिश्यते। यस्त्वनकत्र प्रवीण: स संक्रम्य तत्र तत्रोपविशेत्।

तत: परं वेदविद्याविद: प्रामाणिका: पौराणिका: स्मार्त्ता भिषजो मौहूर्त्तिका अन्येऽपि तथाविधा:। पूर्वेण प्राकृता: कवय: तत: परं नटनर्तकगायनवादनवाग्जीवनकुशीलवतालावचरा अन्येऽपि तथाविधा पश्चिमेनापभ्रंशिन: कवय: तत: परं चित्रलेप्यकृतो माणिक्यबन्धकावैकटिका: स्वर्णकारवर्द्धकिलोहकारा अन्येऽपि तथा विधा:।

दक्षिणतो भूतभाषा कवय:, तत: परं भुजङ्गगणिकाप्लवकशौभिकजम्भकमल्ला: शस्त्रोपजीविनोऽन्येऽपि तथाविधा:।

(काव्यमीमांसा दशम अध्याय)

आचार्य राजशेखर केवल विद्वान् और कवि पुरूष समाज से ही परिचित नहीं थे। तत्कालीन समाज में उन्होंने स्त्रियों का भी पुरूषों के समान ही अधिकारों से सुसज्जित रूप देखा था। उनके समय में अनेक स्त्रियाँ विदुषी तथा कवयित्रीं थीं। उनकी पत्नी अवन्तिसुन्दरी महती विदुषी के रूप में समाज में सम्मानित थी। राजकुमारियों तथा मंत्रियों की पुत्रियों तथा समाज के सभी वर्गों की स्त्रियों में विद्वता तथा कवित्व देखा गया था।[1] इस प्रकार राजा के संरक्षण में सम्पूर्ण समाज साहित्यिक महिमा से मण्डित था। विद्वानों की संङ्गति तथा स्वविद्वता राजा को विनीत बनाकर उसका तथा उसकी प्रजा का महान् उपकार करती थी। कौटिल्य ने भी 'अर्थशास्त्र' में राजा को शिक्षा देते हुए यह तथ्य स्वीकार किया था।[2]

---

1. पुरूषवत् योषितोऽपि कविभवेयुः । श्रूयन्ते दृश्यन्ते च राजपुत्र्यो महामात्यदुहितरो गणिकाः कौतुकिभार्याश्च शास्त्रप्रहतबुद्धयः कवयश्च। (काव्यमीमांसा - दशम अध्याय)
2. नित्यं विद्यावृद्धसंयोगो विनय वृद्धयर्थम्। 11।
   विद्याविनीतो राजा हि प्रजानाम् विनये रतः।
   अनन्यां पृथिवीं भुङ्क्ते सर्वभूतहिते रत ।।17।
   प्रथम विनयाधिकारिकम् द्वितीय प्रकरण (वृद्धसंयोग) अर्थशास्त्र (कौटिल्य) भाग- ।

सप्तम अध्याय

काव्यमीमांसा में देश तथा काल विवेचन

देश तथा काल के सम्यक् ज्ञान के अभाव में कवियों की मूढ़ता और विवशता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, इसी कारण काव्यनिर्माण से पूर्व उन्हें देश तथा काल का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। यदि कवि देश और काल का उचित निरीक्षण नहीं करते तो उनका काव्य रस और भाव के अनुकूल नहीं हो सकता। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में देश और काल का भली भांति निरीक्षण करने के पश्चात् ही नाट्य प्रयोग करने का निर्देश दिया है।[1] देश और काल के औचित्य के प्रति सावधान न रहना काव्य के दोषों के अन्तर्गत स्वीकृत है। आचार्य भामह के अनुसार देश, काल, कला, लोक आदि विरोधी वर्णनों की दोषसंज्ञा है। जो देश में द्रव्यसम्भूति हो उसका उपदेश न करना द्रव्यसम्भूति दोष है। षड् ऋतुओं के भेद से काल छः प्रकार का है। उसके विरुद्ध वर्णन काल विरोधी दोष कहलाता है।[2] आचार्य रुद्रट की धारणा है कि केवल रसपरतन्त्र होकर देश काल आदि से नियमित पदार्थों में स्वरूप परिवर्तन उचित नहीं है। अन्यथा वर्णनों में निर्दोषत्व केवल उतना ही स्वीकार किया जा सकता है, जितना सत्कविपरम्पराओं में उल्लिखित हो।[3] आचार्य राजशेखर के परवर्ती आचार्य भोजराज ने भी देशकाल के विरुद्ध वर्णन को प्रत्यक्ष विरोधी दोष की संज्ञा दी है। देशसम्पदा अर्थात् पुर, उपवन, राष्ट्र, समुद्र, आश्रम

---

1. एवं कालं च देशं च समीक्ष्य च बलाबलम्।
   नित्यं नाट्यं प्रयुञ्जीत यथाभावम् यथारसम् । 16।
   नाट्यशास्त्र - सप्तविंश अध्याय
2. देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीनं दुष्टं च नेष्यते । 2।
   या देशे द्रव्यसम्भूतिरपि वा नोपदिश्यते तत् तद्विरोधि विज्ञेयं स्वभावात् तद्यथोच्यते। 29।
   षण्णामृतूनां भेदेन कालः षोढेव भिद्यते तद्विरोधकृदित्याहुर्विपर्यासादिदं यथा । 31।
   काव्यालङ्कार (भामह) चतुर्थ परिच्छेद
3. सर्वः स्वं स्वं रूपं धत्तेऽर्थो देशकालनियमं च। तं च न खलु बध्नीयान्निष्कारणमन्यथातिरसात् । 7।
   सुकविपरम्परया चिरमविगीततयान्यथा निबद्धं यत्। वस्तु तदन्यादृशमपि बध्नीयात्तत्प्रसिद्धयैव । 8।
   काव्यालङ्कार (रुद्रट) - सप्तम अध्याय

आदि का वर्णन प्रबन्ध के रसोत्कर्ष में सहायक होता है। ऋतु, रात्रि, दिन, सूर्य, चन्द्र, उदय, अस्तादि के वर्णन से युक्त काल काव्यों के रसपोषण में सहायक होता है।[1]

देश और काल का विभाग करने वाला कवि अर्थदर्शन की दृष्टि से दरिद्र नहीं रहता।[2] अतः कविशिक्षा से सम्बद्ध ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' में आचार्य राजशेखर ने नवीन कवि को देश और काल का ज्ञान प्रदान करने के लिए सम्पूर्ण अध्यायों की रचना की है। देश सम्बन्धी अध्याय कवि को तत्कालीन भौगोलिक स्थिति का परिचय देता है। इस विषय का कवि के लिए सर्वप्रथम व्यवस्थित विवेचन 'काव्यमीमांसा' की मौलिकता का परिचायक है। यद्यपि महाकवि कालिदास के 'रघुवंशम्' महाकाव्य से भी भारतीय भूगोल का काव्यमय सुन्दर परिचय प्राप्त होता है, किन्तु काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में इस प्रकार का भौगोलिक परिचय संस्कृत साहित्य में अपूर्व है। भारतवर्ष का संक्षिप्त भूगोल 'काव्यमीमांसा' में उपलब्ध है, किन्तु विस्तृत भौगोलिक परिचय के लिए आचार्य राजशेखर ने सम्भवतः 'भुवनकोश' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। दुर्भाग्यवश यह ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है।[3]

'काव्यमीमांसा' में कवियों के लिए प्रस्तुत कालविवेचन भी आचार्य राजशेखर के सूक्ष्म निरीक्षण तथा मौलिक वर्णना शक्ति का परिचय देता है। उनकी दृष्टि में कवि की सावधानता ही काव्यनिर्माणकाल में उसका भूषण है। काल एवम् ऋतुओं से सम्बद्ध ज्ञान के न होने पर कवि ऐसे अनेक प्रमाद कर सकते हैं, जो उनकी सभी विशेषताओं को नष्ट करके उनके काव्य को दोषमय बना देते हैं।

---

1. यो देशकाललोकादिप्रतीपः कोऽपि दृश्यते। तमामनन्ति प्रत्यक्षविरोधं शुद्धबुद्धयः। 55।

सरस्वतीकण्ठाभरण (भोजराज) प्रथम परिच्छेद

पुरोपवनराष्ट्रादिसमुद्राश्रमवर्णनैः देशसम्पत्प्रबन्धस्य रसोत्कर्षाय कल्पते। 131।

ऋतुरात्रिन्दिवार्केन्दूदयास्तमयवर्णनैः कालः काव्येषु सम्पन्नो रसपुष्टिम् नियच्छति । 132।

सरस्वतीकण्ठाभरण (भोजराज) पञ्चम परिच्छेद

2. देशं कालं च विभजमानः कविर्नार्थदर्शनदिशि दरिद्राति। (काव्यमीमांसा - सप्तदश अध्याय)

3. इत्थं देशविभागो मुद्रामात्रेण सूत्रितः सुधियाम्। यस्तु जिगीषत्यधिकं पश्यतु मद्भुवनकोशमसौ।

(काव्यमीमांसा - सप्तदश अध्याय)

काल विषयों में सिद्ध, काल से पूर्ण परिचित कवि महाकवि होते हैं।[1] काल तथा उसकी विभिन्न ऋतुओं के वर्ण्य विषयों का कवि को 'काव्यमीमांसा' से विस्तृत परिचय प्राप्त होता है। सम्पूर्ण प्रकृति का सम्यक् सूक्ष्म निरीक्षण करने के पश्चात् आचार्य राजशेखर ने उसी प्रकृति की समस्त सामग्रियों को उनके सुन्दरतम, व्यवस्थित रूप में कवियों के समक्ष प्रस्तुत किया, जिससे कि कवि अपने काव्यों में काल सम्बन्धी दोषों से दूर रह सकें।

देश विवेचन

नवीं और दसवीं शताब्दी में भारतवर्ष की भौगोलिक दशा का 'काव्यमीमांसा' से परिचय प्राप्त होता है। आचार्य राजशेखर ने विभिन्न लोकों, महाद्वीपों, सागरों एवम् पर्वतों का भी विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। उनका देशवर्णन उत्तर में तुर्किस्तान से लेकर दक्षिण में लंका तक तथा पूर्व में सिंगापुर और बर्मा से लेकर पश्चिम में ईरान तक विशाल भू-भाग का चित्र प्रस्तुत करता है।

लोक विभाग :—

'काव्यमीमांसा' में भूर्, भुवर्, स्वर्, महर्, जनस्, तपस् और सत्य — सात लोक, सात वायुस्कन्ध (अन्तरिक्ष में स्थित प्रवह, निवह आदि वायु के स्थान अर्थात् वायुसमूह), सात पाताल (अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल)— इस प्रकार गणना करके इक्कीस लोक वर्णित हैं। कुछ लोगों के अनुसार द्यावापृथ्वी रूप एक ही लोक है। द्यावापृथ्वी का अर्थ भूमि और अन्तरिक्ष अथवा मर्त्य तथा स्वर्गलोक है। एक अन्य मत द्यावापृथ्वी (स्वर्ग्य और मर्त्य) को दो जगत् मानता है। तृतीय मत स्वर्ग, मर्त्य तथा पाताल इन तीन लोकों को स्वीकार करता हैं। तीनों लोकों के भूर्, भुवर् तथा स्वर् नाम हैं। इन तीनों लोकों सहित महर्, जनस्, तपस् और सत्य — यह चार लोक और

---

1. अनुसन्धानशून्यस्य भूषणं दूषणायते। सावधानस्य च कवेर्दूषणं भूषणायते॥

इति कालविभागस्य दर्शिता वृत्तिरीदृशी। कवेरिह महान्मोह इह सिद्धो महाकवि:॥

(काव्यमीमांसा अष्टादश अध्याय)

हैं— इस प्रकार सात लोकों की भी धारणा है। सात लोक और सात वायु स्कन्ध मिलाकर चौदह लोकों की भी मान्यता है। चौदह भुवनों की संख्या सात पातालों से मिलकर इक्कीस हो जाती है।

लोकों की संख्या का स्पष्ट स्वरूप हिन्दी अभिनवभारती के प्राचीन ब्रह्माण्ड विभाग में भी प्राप्त होता है।

हिन्दी अभिनवभारती में प्राचीन ब्रह्माण्ड विभाग :—

प्राचीन भूगोल शास्त्रियों ने सारे ब्रह्माण्ड को सात भागों में विभक्त किया था, जिनको वे सप्त लोक कहते थे। इस विभाजन में भूमण्डल के मध्य में एक अत्यन्त विशाल और समुन्नत पर्वत की स्थिति मानी गई है। इस पर्वत को उन्होंने सुमेरु पर्वत का नाम दिया है। लोकों के विभाजन में इस सुमेरु पर्वत का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। समुद्रतल और उसके भी नीचे जहाँ तक सृष्टि की स्थिति है वहाँ से लेकर भूमण्डलवर्ती इस सुमेरु पर्वत के सर्वोच्च शिखर पर्यन्त भूलोक की सीमा मानी जाती है। सुमेरु पर्वत के सर्वोच्च शिखर से ऊपर ध्रुवतारा तक अन्तरिक्ष लोक की सीमा है। यह दूसरा लोक है। इसके ऊपर पाँच लोक और हैं। इन सबको मिलाकर 'स्वर्लोक' इस एक सामान्य नाम से कहा जाता है।

इस प्रकार (1) भूलोक, (2) भुवर्लोक या अन्तरिक्ष लोक (3) स्वर्लोक – इन तीन लोकों या भुवनों के रूप में जो ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त विभाजन किया गया है वह 'त्रिभुवन' नाम से विख्यात है और स्वर्लोक के मध्य आने वाले पाँचों लोकों की गणना अलग-अलग करने पर जो ब्रह्माण्ड का सात भागों में विभाजन हो जाता है उसको 'सप्तलोक' के नाम से कहा जाता है।

स्वर्लोक के अन्तर्गत पाँच लोक इस प्रकार से स्थित हैं कि भूलोक और अन्तरिक्ष लोक के बाद जब स्वर्लोकों की सीमा प्रारम्भ होती है तो उनमें सबसे पहिले महेन्द्रलोक आता है। इसे स्वर्लोकों में सबसे पहिले होने से मुख्य रूप से स्वर्लोक कहा जाता है। इसके बाद चौथा प्राजापत्य लोक आता है इसको महर्लोक नाम से कहा जाता है। इसके ऊपर जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक नाम से तीन ब्रह्मलोक आते हैं। इन सबको मिलाकर सात लोक हो जाते हैं। इस प्रकार ब्रह्माण्ड का सूक्ष्मतम विभाग तीन भुवनों के रूप में और उसकी अपेक्षा अधिक विस्तृत विभाग सात लोकों के रूप में किया गया है।

योग दर्शन के व्यास भाष्य में विभूतिपाद के 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्' इस 3-26वें सूत्र की व्याख्या में ब्रह्माण्ड विभाजन —

'तत्प्रस्तार: सप्तलोका:। तत्रावीचे: प्रभृति मेरुपृष्ठं यावदित्येष भूर्लोक:। मेरुपृष्ठादारभ्य आध्रुवाद् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोक:। तत्पर: स्वर्लोक: पञ्चविध:। माहेन्द्रस्तृतीयो लोक:। चतुर्थो प्राजापत्यो महर्लोक:। त्रिविधो ब्राह्म: तद्यथा - जनलोकस्तपोलोक: सत्यलोक: इति।

भूलोक को 14 विभागों में विभक्त किया गया है। इनमें भूमण्डल सबसे मुख्य सबसे ऊपर का भाग है। शेष तेरह लोक इस भूमि के नीचे स्थित हैं। इनमें सबसे अन्तिम सीमा को 'आवीचि' कहा जाता है। ''आवीचि' से प्रारम्भ होने वाले छ: लोक 'महानरक' इस सामान्य नाम से कहे जाते हैं। इनके अलग-अलग नाम (1) घन, (2) सलिल, (3) अनिल, (4) अनल, (5) आकाश और (6) तम कहे गए हैं। इनके दूसरे नाम क्रमश: महाकाल, अम्बरीष, रौरव, महारौरव, तामिस्त्र और अन्धतामिस्त्र भी कहे जाते हैं —

इन छ: नरकलोकों के बाद सात पाताललोक आते हैं। इन चौदहों को मिलाकर 'भूलोक' कहलाता है। हिन्दी अभिनव भारती (भूमिका)

इस प्रकार लोक की संख्या भिन्न-भिन्न स्थानों पर एक से लेकर इक्कीस तक वर्णित है, किन्तु आचार्य राजशेखर लोकसंख्या के वर्णन के प्रसङ्ग में कवि की इच्छा को सर्वोपरि मानते हैं। कोई भी वस्तु सामान्य वर्णन की इच्छा होने पर अनेक रूपों में वर्णित हो सकती है।[1] विभिन्न पुराणों से भी लोकों की संख्या का ज्ञान प्राप्त होता है। वायुपुराण तीन संख्या वाली वस्तुओं के साथ तीन लोकों का उल्लेख करता

---

1. जगज्जगदेकदेशाश्च देश:। द्यावापृथिव्यात्मकमेकं जगदित्येके।------ 'दिवस्पृथिव्यौ द्वे जगती' इत्यपरे।------- 'स्वर्ग्यमर्त्यपातालभेदास्त्रीणि जगन्ति' इत्येके--------'तान्येव भूर्भुव: स्व:' इत्यन्ये ------- 'महर्जनस्तप: सत्यमित्येतै: सह सप्त' इत्यपरे। -------- 'तानि सप्तभिर्वायुस्कन्धै: सह चतुर्दश' इति केचित्। -------- तानि सप्तभि: पातालै: सहैकविंशति' इति केचित्। -------- 'सर्वमुपपन्नम्' इति यायावरीय:। अविशेषविवक्षा यदेकयति, विशेषविवक्षात्वनेकयति। (काव्यमीमांसा - सप्तदश अध्याय)

है तो इसी पुराण में शिवपुरवर्णन के प्रसङ्ग में सात लोकों तथा उनके निवासियों का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।[1] भविष्यपुराण में भी सात लोकों तथा सात पातालों का उल्लेख है। महर्लोक, जनोलोक तथा ब्रह्मलोक में पहुँचकर ब्रह्मत्व प्राप्ति का वर्णन है।[2]

भूलोक :—

आचार्य राजशेखर के अनुसार पृथ्वी भूलोक है, उसमें सात महाद्वीप हैं। सब द्वीपों मे मध्य में जम्बू द्वीप है। जम्बू द्वीप के अनन्तर क्रमशः प्लक्ष, शाल्मली, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर द्वीप हैं। द्वीपों की यह स्थिति बाहर-बाहर मंडली के रूप में है।[3]

समुद्र :—

'काव्यमीमांसा' में सातों महाद्वीपों को घेरे हुए सात समुद्रों का उल्लेख है। यह लवणजल, इक्षुरस, सुरा, घृत, दूध, दधि और मधुर जल के सात समुद्र हैं। काव्य में एक लवण समुद्र, तीन समुद्र,

---

1. त्रयो वर्णास्त्रयो लोकास्त्रैविद्यं पावकास्त्रयः त्रैकाल्यं त्रीणि कर्माणि तिस्त्रो मायास्त्रयो गुणाः। 33।

(वायुपुराण - अध्याय 59 - द्वितीय खण्ड)

व्यक्तानि तु प्रवक्ष्यामि स्थानान्येतानि सप्त वै। भूर्लोकः प्रथमस्तेषां द्वितीयस्तु भुवः स्मृतः। 16। स्वस्तृतीयस्तु विज्ञेयश्चतुर्थो वै महः स्मृतः। जनस्तु पञ्चमो लोकस्तपः षष्ठो विभाव्यते। 17। सत्यन्तु सप्तमो लोको निरालोकस्ततः परम् (वायुपुराण, द्वितीय खण्ड, अध्याय - 63 शिवपुरवर्णन)

2. भूर्लोकोऽथ भुवर्लोकः स्वर्लोकश्च प्रकीर्तितः। जनस्तपश्च सत्यं च ब्रह्मलोकश्च सप्तमः । 14। पातालं वितलं विद्धि अतलं तलमेव च पञ्चमं विद्धि सुतलं सप्तमं च रसातलम्। 15।

(भविष्य पुराण - भाग - 1, मध्यम पर्व, ब्रह्माण्डोत्पत्ति विस्तार वर्णन)

महर्लोकाज्जनोलोकं ब्रह्मलोकं च गच्छति ब्रह्मत्वं च महाबाहो याति विप्रो न संशयः। 116।

(भविष्यपुराण, भाग - 1, ब्राह्म पर्व, सृष्टि वर्णन)

3. तेषु भूर्लोकः पृथिवी। तत्र सप्तमहाद्वीपाः। यथा "जम्बूद्वीपः सर्वमध्ये ततश्च प्लक्षो नाम्ना शाल्मलोऽतः कुशोऽतः। क्रौञ्चः शाकः पुष्करश्चेत्यथैषां बाह्या संस्थितिर्मण्डलीभिः॥"

(काव्यमीमांसा - सप्तदश अध्याय)

चार समुद्र और सात समुद्र — इस प्रकार समुद्रों की संख्या भिन्न-भिन्न वर्णित है। किन्तु कवि के भिन्न अभिप्रायों के कारण आचार्य राजशेखर सभी का औचित्य स्वीकार करते हैं।[1]

जम्बूद्वीप तथा उससे सम्बद्ध वर्ष पर्वत तथा देश :—

सब द्वीपों के मध्य में जम्बूद्वीप स्थित है। इस द्वीप में जम्बू का विशाल वृक्ष, जम्बू नाम का पर्वत और जम्बू नाम की नदी भी है। विष्णु पुराण के अनुसार इस द्वीप में उत्पन्न जम्बू वृक्ष ही इसके जम्बू द्वीप नाम का कारण है।[2] यह जम्बूद्वीप लवण समुद्र से घिरा है। काव्यमीमांसा में जम्बूद्वीप के मध्य में पर्वतों के प्रथम राजा सुवर्णमय मेरु पर्वत का उल्लेख है। वह भगवान् सुमेरु प्रथम वर्ष पर्वत हैं। उसके चारों ओर इलावृत्त वर्ष है।[3] विष्णुपुराण में जम्बूद्वीप के सात भेदों के अतिरिक्त दो अन्य वर्षों — भद्राश्व तथा केतुमाल - तथा उनके मध्य इलावृत्त वर्ष का उल्लेख है।[4] जम्बूद्वीप के उत्तर में क्रमशः नील, श्वेत तथा शृंङ्गवान् नाम के तीन वर्ष पर्वत और रम्यक, हिरण्मय तथा उत्तरकुरु देश हैं।[5] नीलगिरि का सम्बन्ध रम्यक वर्ष से है, श्वेतगिरि हिरण्मय वर्ष से सम्बद्ध है तथा श्रृङ्गवान् उत्तरकुरुवर्ष का वर्षपर्वत है। हिन्दी अभिनवभारती में संकलित भू-मण्डल विभाजन में रम्यक वर्ष वर्तमान सिवयांग

---

1. ''लावणो रसमयः सुरोदकः सार्पिषो दधिजलः पयः पयाः।
   स्वादुवारिरुदधिश्च सप्तमस्तान्परीत्य त इमे व्यवस्थिताः॥'' ---------------------- 'भिन्नाभिप्रायतया सर्वमुपपन्नम्' इति यायावरीयः। (काव्यमीमांसा - सप्तदश अध्याय)
2. एकादशशतायामाः पादपाः गिरिकेतवः जम्बूद्वीपस्य सा जम्बूर्नामहेतुर्महामुने। 18।
   विष्णुपुराण, द्वितीय अंश, अ० - 2
3. मध्ये जम्बूद्वीपमाद्यो गिरीणां मेरुनाम्ना काञ्चनशैलराजः।

   स भगवान्मेरुराद्यो वर्षपर्वतः। तस्य चतुर्दिशमिलावृत्तं वर्षम्। (काव्यमीमांसा - सप्तदश अध्याय)
4. ''भद्राश्वं पूर्वतो मेरोः केतुमालं च पश्चिमे वर्षे द्वे तु मुनिश्रेष्ठ तयोर्मध्यमिलावृत्त।''
   विष्णुपुराण, द्वि०अ० (2/23)
5. तस्योत्तरेण त्रयो वर्षगिरयः, नीलः, श्वेत श्रृङ्गवांश्च रम्यकम्, हिरण्मयम्, उत्तराः, कुरवः इति च क्रमेण त्रीणितेषांवर्षाणि। (काव्यमीमांसा - सप्तदश अध्याय)

तथा एशियाई रूस का, हिरण्मय वर्ष मंगोलिया का और उत्तर कुरुवर्ष साइबेरिया के प्राचीन नाम हैं।[1] अनेक स्थानों पर उत्तरकुरु की पहचान तिब्बत और पूर्वी तुर्किस्तान से भी की गई है। जम्बूद्वीप के दक्षिण में निषध, हेमकूट तथा हिमवान् नामक तीन वर्ष पर्वत वर्णित हैं। निषधवर्षपर्वत से हरिवर्ष सम्बद्ध है, हेमकूट वर्षपर्वत से किंपुरुष वर्ष तथा हिमवान् वर्ष पर्वत से भारत वर्ष सम्बद्ध है।[2]

भारतवर्ष :—

'काव्यमीमांसा' में वर्णित जम्बूद्वीप के दक्षिण में हिमवान् वर्ष पर्वत से सम्बद्ध भारतवर्ष की स्थिति विष्णुपुराण भी हिमालय से दक्षिण में निश्चित करता है। वायुपुराण तथा मार्कण्डेयपुराण में भी इसी प्रकार भारतवर्ष का वर्णन मिलता है।[3] 'काव्यमीमांसा' में आचार्य राजशेखर ने भारतवर्ष के नौ भेद किए हैं—इन्द्रद्वीप, कसेरुमान्, ताम्रपर्ण, गभस्तिमान्, नागद्वीप, सौम्य, गन्धर्व, वरुणद्वीप और कुमारीद्वीप। भारतवर्ष के यह भेद विष्णुपुराण तथा वायुपुराण पर आधारित हैं। विष्णुपुराण में नवम स्थान पर कुमारीद्वीप का नाम न होकर सागर से घिरे हुए द्वीप का ही उल्लेख किया गया है।[4]

---

1. " 'उत्तरकुरु' आज का साइबेरिया प्रदेश प्रतीत होता है। अल्ताई पर्वत के समीप का मंगोलिया आदि का प्रदेश अपने निवासियों के पीतवर्ण के कारण 'हिरण्यदेश' नाम से प्राचीन काल में कहा जाता था। ध्यानशांग पर्वत का समीपवर्ती सिवयांग तथा एशियाई रूस का प्रदेश 'रमणक' नाम से कहा गया है।"

   (हिन्दी अभिनवभारती में संकलित भूमण्डल विभाजन)

2. दक्षिणेनापि त्रय एव निषधो हेमकूटो हिमवांश्च। हरिवर्षं, किम्पुरुषं, भारतमिति च त्रीणि वर्षाणि।

   (काव्यमीमांसा – सप्तदश अध्याय)

3. (क) उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम् वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः॥ विष्णु पुराण (2/3/1)

   (ख) दक्षिणापरतो ह्यस्य पूर्वेण च महोदधिः हिमवानुत्तरेणास्य कार्मुकस्य यथा गुणः॥ मार्कण्डेय पुराण (47)

4. (क) तत्रेदं भारतं वर्षमस्य च नव भेदाः। इन्द्रद्वीपः, कसेरुमान्, ताम्रपर्णो, गभस्तिमान्, नागद्वीपः, सौम्यो, गन्धर्वो, वरुणः कुमारीद्वीपश्चायं नवमः। (काव्यमीमांसा – सप्तदश अध्याय)

   (ख) भारतस्यास्य वर्षस्य नव भेदान्निशामय इन्द्रद्वीपः, कशेरुश्च, ताम्रपर्णो गभस्तिमान्॥ नागद्वीपस्तथा सौम्यो गन्धर्वस्त्वथ वारुणः अयम् तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः।

   विष्णुपुराण (2/3/6 7)

भारतवर्ष **के नौ भेद :—**

(क) इन्द्रद्वीप :— भारत के पूर्व में स्थित वर्तमान बर्माद्वीप। यह कभी भारत का अङ्ग था।

(ख) कसेरुमान् :— वर्तमान सिंगापुर।

(ग) ताम्रपर्ण :— यह सीलोन का प्रदेश है। ताम्रपर्णी मद्रास राज्य के तिन्नैवेल्ली जिले की एक नदी का नाम है (भारतीय इतिहास कोश - सच्चिदानन्द भट्टाचार्य — पृष्ठ - 187)। अतः डा० बी०एन० पुरी ताम्रपर्णी नदी द्वारा सिंचित, मद्रास राज्य के तिन्नैवेल्ली जिले के भूखण्ड को ताम्रपर्ण मानते हैं।

(घ) गभस्तिमान् :— भारत के दक्षिण-पश्चिम प्रदेश का एक भाग।

(ङ) नागद्वीप :— पश्चिमी भारत में है।

(च) सौम्य :— इसकी स्थिति भारत के दक्षिण-पश्चिम की ओर है।

(छ) गन्धर्वद्वीप :— काबुल, गान्धार आदि देश गन्धर्वद्वीप हैं।

(ज) वरुणद्वीप :— वरुणद्वीप की पहचान वर्तमान बोर्नियो से की गई है।

(झ) कुमारीद्वीप :— यह हिमालय से कन्याकुमारी अन्तरीप तक फैला हुआ विस्तृत भू-भाग है। पूर्व में चीन का कुछ भाग (आसाम की ओर) तथा पश्चिम-उत्तर में फारस, अफगानिस्तान आदि कुमारीद्वीप के ही जनपद थे। (इन द्वीपों की वर्तमान स्थिति 'काव्यमीमांसा' परिशिष्ट भाग-2 से ज्ञात की गई है)।

इन नौ द्वीपों का पाँच सौ भाग जल तथा पाँच भाग स्थल है। प्रत्येक ,द्वीप की सीमा एक सहस्त्र योजन है। ये दक्षिण समुद्र से हिमालय तक फैले हुए हैं तथा परस्पर अगम्य हैं। भारतवर्ष के सभी द्वीपों पर जो विजय प्राप्त करता है वह सम्राट् कहलाता है।[1] भारतवर्ष के इन नौ द्वीपों में वर्तमान लंका, सीलोन, मलाया, जावा, सुमात्रा, बर्मा, चीन और तुर्किस्तान का भाग आदि सम्मिलित थे।

---

1 पञ्चशतानि जलं, पञ्च स्थलमिति विभागेन प्रत्येकं योजनसहस्त्रावधयो दक्षिणात्समुद्रादद्रिराजम् हिमवन्तं यावत्परस्परमगम्यास्ते। तान्येतानि यो जयति स सम्राडित्युच्यते। (काव्यमीमांसा - सप्तदश अध्याय)

चक्रवर्ति क्षेत्र :— कुमारीद्वीप से बिन्दुसर तक एक सहस्त्र योजन का भाग चक्रवर्ति क्षेत्र कहा जाता है। इस सम्पूर्ण क्षेत्र का विजेता चक्रवर्ती कहलाता है।[1] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी चक्रवर्ति क्षेत्र की सीमा यही है — 'देश पृथ्वी है, उसमें हिमवान् और समुद्र के मध्य का उदीचीन (उत्तरीय) एक हजार योजन परिमाण का सीधा भाग चक्रवर्ति क्षेत्र है।'[2] चक्रवर्तिक्षेत्र के सीमा निर्धारण में उल्लिखित विन्दुसर हिमालय का एक गुप्त सरोवर है। यह गङ्गा नदी के उद्गम प्रसिद्ध गङ्गोत्री के स्थान से दो मील दक्षिण की ओर है। सम्पूर्ण चक्रवर्ती क्षेत्र पर विजय प्राप्त करने वाला चक्रवर्ती कहलाता है। आचार्य राजशेखर ने विष्णुपुराण (2/3) और वायुपुराण (45/88) के समान सात चक्रवर्ति चिह्नों का भी उल्लेख किया है। यह चिह्न हैं चक्र, रथ, मणि, भार्या, निधि, अश्व और गज।[3]

कुमारीद्वीप के सात कुलपर्वत :—

'काव्यमीमांसा' में कुमारीद्वीप के सात कुल पर्वतों का भी नामोल्लेख है — विन्ध्य, पारियात्र, शुक्तिमान्, ऋक्षपर्वत, महेन्द्र, सह्य, मलय।[4]

(क) विन्ध्य :- विन्ध्य पर्वतमाला की वह शाखा जिसका नाम सतपुड़ा है। यह ताप्ती और नर्मदा का मध्यभाग है।

(ख) पारियात्र :- कच्छ की खाड़ी की ओर विन्ध्य पर्वतमाला का एक भाग। कुछ विद्वान् इसको हिमालय की शिवालक पर्वतमाला भी मानते हैं।

---

1. कुमारीपुरात्प्रभृतिबिन्दुसरोऽवधि योजनानां दशशती चक्रवर्तिक्षेत्रम् तां विजयमानश्चक्रवर्ती भवति।

(काव्यमीमांसा - सप्तदश अध्याय)

2. देशः पृथ्वी । 17। तस्यां हिमवत्समुद्रान्तरमुदीचीनं योजनसहस्त्रपरिमाणं तिर्यक् चक्रवर्तिक्षेत्रम् । 18। अर्थशास्त्र (कौटिल्य) भाग एक। नवमधिकरण - अभियास्यत्कर्म पञ्चत्रिंशच्छततमं प्रकरणम्।

3. चक्रवर्तिचिह्नानि तु - "चक्रं रथो मणिर्भार्या निधिरश्वो गजस्तथा। प्रोक्तानि सप्त रत्नानि सर्वेषां चक्रवर्तिनाम्।"

(काव्यमीमांसा - सप्तदश अध्याय)

4. अत्र च **कुमारीद्वीपे - "विन्ध्यश्च** पारियात्रश्च **शुक्तिमानृक्षपर्वतःमहेन्द्रसह्यमलयाः सप्तैते कुलपर्वताः॥"**

(काव्यमीमांसा - सप्तदश अध्याय)

(ग) शुक्तिमान् :- हिमालय पर्वतश्रेणी का एक भाग है, नेपाल की हिमालय स्थित शाखा है।

(घ) ऋक्षपर्वत :- विन्ध्य पर्वतमाला का एक भाग है और नर्मदा नदी का उद्‌गम स्थान है। इसका आधुनिक नाम सतपुड़ा है।

(ङ) महेन्द्र :- महानदी और गोदावरी के मध्य का पूर्वी घाट महेन्द्रमाला से व्याप्त है।

(च) सह्य :- दक्षिण भारत का यह प्रसिद्ध पर्वत पश्चिमी घाट पर स्थित है। इसके दक्षिण की ओर कावेरी और उत्तर की ओर गोदावरी बहती है।

(छ) मलय :- यह कावेरी के दक्षिण तक फैला है। मैसूर से ट्रावनकोर तक फैली हुई पर्वतमाला का नाम मलयश्रेणी है (कुमारीद्वीप के इन सात कुलपर्वतों की वर्तमान स्थिति का काव्यमीमांसा - परिशिष्ट भाग -2 के आधार पर उल्लेख किया गया है।) मलय पर्वत के चार भेद हैं। इन मलय पर्वतों से दक्षिण पवन उत्तर की ओर बहता है।[1]

आर्यावर्त :- आचार्य राजशेखर ने कवियों के व्यवहार हेतु आर्यावर्त के चार वर्णों चार आश्रमों की व्यवस्था तथा इस व्यवस्था पर आधारित सदाचार को विशेष महत्व दिया है। यह आर्यावर्त पूर्व और पश्चिम समुद्र के तथा हिमालय और विन्ध्य के मध्य में स्थित है।[2] मनुस्मृति में भी आर्यावर्त की स्थिति पूर्वी समुद्र से पश्चिमी समुद्र तक दो पर्वतों के बीच में स्वीकार की गई है।[3] इस प्रकार

---

1. तत्र विन्ध्यादयः प्रतीतस्वरूपा मलयविशेषास्तु चत्वारः। प्रवर्तते कोकिलनादहेतुः पुष्पप्रसूः पञ्चम-जन्मदायी तेभ्यश्चतुर्भ्योऽपि वसन्तमित्रमुदङ्मुखो दक्षिणमातरिश्वा॥

(काव्यमीमांसा - सप्तदश अध्याय)

2. पूर्वापरयोः समुद्रयोर्हिमवद्विन्ध्ययोश्चान्तरमार्यावर्त्तः तस्मिंश्चातुर्वर्ण्यं चातुराश्रम्यं च। तन्मूलश्च सदाचारः। तत्रत्यो व्यवहारः प्रायेण कवीनाम्। (काव्यमीमांसा - सप्तदश अध्याय)

3. आ समुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्राच्च पश्चिमात् तयोरेवान्तरं गिर्योरायावर्तं विदुर्बुधाः। 22।

(मनुस्मृति - द्वितीय अध्याय)

आर्यावर्त उत्तर भारत का वह विशाल भाग है जो उत्तर में हिमालय से दक्षिण में विन्ध्य तक फैला हुआ है।

सम्पूर्ण भारत के पाँच विभाग :—

अपने सूक्ष्म भौगोलिक निरीक्षण को प्रस्तुत करते हुए आचार्य राजशेखर ने सम्पूर्ण भारत को पाँच भागों में विभक्त कर तत्कालीन नवीन कवियों को देश का सम्पूर्ण परिचय दिया। काव्यमीमांसा से ही तत्कालीन भारत के पाँच खण्ड और उनमें अन्तर्निहित जनपद, नदियों, पर्वत तथा वहाँ की उत्पाद्य वस्तुओं के विषय में पर्याप्त जानकारी मिलती है। आचार्य राजशेखर ने यह विभाजन इस प्रकार प्रस्तुत किया है — चार दिशाओं के चार भाग तथा एक मध्य भाग।[1] कान्यकुब्ज को केन्द्रबिन्दु मानकर भारतवर्ष के उत्तरापथ, दक्षिणापथ, पूर्वदेश, पश्चाद्देश तथा मध्यदेश इस प्रकार पाँच भाग हैं। मनुस्मृति में हिमालय और विन्ध्य के मध्य का, विनशन से पूर्व का, प्रयाग से पश्चिम का भाग मध्यदेश है।[2]

पूर्वदेश

आर्यावर्त में वाराणसी से पूर्व दिशा में पूर्व देश का उल्लेख है। पूर्वी भारत अर्थात् बनारस से आसाम और बर्मा तक भारत का बृहत् भू-भाग पूर्वदेश कहलाता था।

पूर्वदेश के जनपद :—

अङ्ग, कलिङ्ग, कोसल, तोसल, उत्कल, मगध, मुद्गर, विदेह, नेपाल, पुण्ड्र, प्राग्ज्योतिष, ताम्रलिप्तक, मलद, मल्लवर्तक, सुह्म, ब्रह्मोत्तर आदि। वायुपुराण में तुर्वस के वंशधरों के वर्णन के प्रसङ्ग में अङ्ग आदि जनपदों का उल्लेख है।[3]

---

1. तेषां मध्ये मध्यदेश इति कविव्यवहारः। न चाऽयं नानुगन्ता शास्त्रार्थस्य।

(काव्यमीमांसा - सप्तदश अध्याय)

2. हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि। प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः। 21।

(मनुस्मृति - द्वितीय अध्याय)

3. अङ्गं स जनयामास वङ्गं सुह्मं तथैव च। पुण्ड्रं कलिङ्गश्च तथा बालेयं क्षत्रमुच्यते। 28।

वायुपुराण - अध्याय 61, (अनुषङ्गपादसमाप्ति)

पूर्वदेश **के जनपदों की वर्तमान स्थिति :—**

अङ्गः— भागलपुर से मुंगेर तक फैले हुए पूर्वी बिहार का प्राचीन नाम है।

कलिङ्ग :— कलिङ्ग उत्तर में उड़ीसा से दक्षिण में आन्ध्र या गोदावरी के मुहाने तक समुद्र तट पर फैला हुआ है।

कोसल :— यह अवध राज्य का दक्षिणी भाग है। इसकी राजधानी कुशावती है।

तोसल :— यह कोशल का दक्षिणी भाग है। यह उड़ीसा में भुवनेश्वर के पास पुरी जिला के अन्तर्गत 'धौली' क्षेत्र है।

उत्कल :— वर्तमान उड़ीसा प्रदेश। आधुनिक पुरी और भुवनेश्वर का क्षेत्र है।

मगध :— यह दक्षिणी बिहार है। गया भी इसी जनपद का अङ्ग है।

विदेह :— बिहार प्रान्त का तिरहुत जनपद। यह मगध के उत्तर में है।

नेपाल :— आचार्य राजशेखर ने नेपाल देश तथा नेपाल पर्वत को पूर्वी भारत में सम्मिलित किया है।

पुण्ड्र :— यह पुण्ड्रवर्धन नाम से प्रसिद्ध है। वर्तमान बोगरा जिले का महास्थानगढ़ नामक ग्राम पुण्ड्र जनपद में था।

प्राग्ज्योतिष :— आसाम प्रान्त की राजधानी कामरूप या कामाक्षा अर्थात् आधुनिक गौहाटी है।

ताम्रलिप्तक :— इस स्थान पर दक्षिणी पश्चिमी बंगाल के मिदनापुर जिले का तामलुक नगर स्थित है।

मलद :— शाहाबाद जिले का एक भाग जो बिहार प्रान्त में है।

मल्लवर्तक :— बिहार के हजारीबाग और मानभूमि जिलों का भू-भाग है तथा पार्श्वनाथ हिल के नाम से प्रसिद्ध है।

सुह्म :— यह बंगाल की खाड़ी के समीप का स्थान है। वर्तमान मिदनापुर, हुगली और वर्दवान आदि जिले सुह्म में थें।

ब्रह्मोत्तर :— यह बर्मा का उत्तरी भाग है।

पूर्वदेश के पर्वत, नदियाँ तथा उत्पाद्य वस्तुएँ :—

'काव्यमीमांसा' में पूर्वदेश के बृहद्गृह, लोहितगिरि, चकोर, दर्दुर, नेपाल, कामरूप आदि पर्वतों, शोण और लोहित नदों तथा गङ्गा, करतोया, कपिशा आदि नदियों का भी नामोल्लेख है। तत्कालीन भारत के पूर्व देश में लवली, ग्रन्थिपर्णक, अगुरू, द्राक्षा, कस्तूरी आदि उत्पन्न होते थे।

पूर्वदेश के पर्वत और नदियों के आधुनिक नाम :—

बृहद्गृह :- हिमालय की पूर्वीय श्रेणी में गौरीशङ्करश्रृङ्ग का नाम है।

लोहितगिरि :- यह हिमालय पर्वतमाला की पूर्वी श्रेणी में है।

चकोर :- मिर्जापुर जिले की चरणाद्रि या चुनार श्रृंखला है।

दर्दुर :- विन्ध्य पर्वत के पूर्वी भाग में अवस्थित देवगढ़ नामक शिखर।

नेपाल :- नेपाल देश की उत्तरी सीमा में स्थित हिमालय की पर्वतमाला।

कामरूप :- आसाम स्थित हिमालय की श्रेणी कामरूप है। नीलगिरि का दूसरा नाम है।

शोणनद :- यह गोंडवाना से निकलकर पटना से पश्चिम में मनेर के समीप गङ्गा से मिलता है।

लौहित्य नद :- ब्रह्मपुत्र नद का ही नाम है। इसकी लम्बाई 1800 कोस है।

गङ्गा नदी :- गङ्गोत्री से दो मील ऊपर बिन्दुसर से निकलने वाली प्रसिद्ध नदी।

करतोया :- यह नदी बंगाल के पंगपुर, दीनाजपुर और बोगरा जिले में बहती हुई गङ्गा के डेल्टा के पास ब्रह्मपुत्र से मिलती है।

कपिशा :- यह वर्तमान उड़ीसा प्रान्त के सिंहभूमि जिले की सुवर्णरेखा या कसया नदी के नाम से विख्यात है। इसका उद्‌गम ऋक्ष पर्वत से है।

दक्षिणा पथ :— माहिष्मती के आगे दक्षिणापथ है।

दक्षिणापथ के जनपद :- महाराष्ट्र, माहिषक, अश्मक, विदर्भ, कुन्तल, क्रथकैशिक, सूर्पारक, काञ्ची, केरल, कावेर, मुरल, वानवासक, सिंहल, चोल, दण्डक, पांड्य, पल्लव, गाङ्ग, नाशिक्य, कोङ्कण, कोल्लगिरि, वल्लर आदि जनपद दक्षिणापथ में हैं।

दक्षिणापथ के जनपदों की वर्तमान स्थिति :—

महाराष्ट्र :- गोदावरी के ऊपरी भाग से कृष्णा नदी तक का विस्तृत भू-भाग है।

माहिषक :- नर्मदा के निचले भाग का स्थान, जिसकी राजधानी माहिष्मती नगरी थी।

अश्मक :- गोदावरी और माहिष्मती नदी के मध्य का भू-भाग, जो विदर्भ का एक भाग था।

विदर्भ :- वरदा नदी विदर्भ को दो भागों में विभक्त करती है। उत्तरी भाग का प्रधान स्थान अमरावती और दक्षिण का प्रतिष्ठान या पैठन है। आधुनिक नाम बरार।

कुन्तल :- वर्तमान हैदराबाद की वायव्य दिशा का भू-भाग इसके अन्तर्गत था।

क्रथकैशिक :- वर्तमान विदर्भ का भाग।

सूर्पारक :- कोंकण में स्थित यह स्थान थाना (ठाणा) जिले का प्रसिद्ध सोपारा नामक जनपद है।

काञ्ची :- पालार नदी के तट पर बसा काञ्चीपुरम् अथवा काँजीवरम्।

केरल :- दक्षिण का मालाबार प्रान्त।

कावेर :- कावेरी नदी के तट पर बसे कुछ जिलों का भू-प्रदेश।

मुरल :- केरल से अपरान्त तक सह्य पर्वत के आस-पास फैले हुए भू-भाग का नाम मुरल है। यह मुरला नदी के तट पर बसा है।

वानवासक :- उत्तर कनारा। यह वरदा नदी के बाएँ तट पर बसा है। वरदा तुङ्गभद्रा की सहायक नदी है

सिंहल :- प्रसिद्ध सीलोन द्वीप।

चोल :- तंजौर और दक्षिण आरकाट के जिले।

दण्डक :- सम्भवत: चोल और काञ्ची के मध्यवर्ती 'तोडै मंडल' या 'डिंडीवनम्'।

पांड्य :- वर्तमान उरयूर स्थान, जो त्रिचनापल्ली जिले में है।

पल्लव :- काञ्ची के चारों ओर का स्थान पल्लव कहलाता था।

गाङ्ग :- यह दक्षिण का कोंगु-प्रदेश प्रतीत होता है, जिसमें कोयम्बटूर और सलेम के जिले भी सम्मिलित हैं।

नाशिक्य :- प्रसिद्ध नाशिक पञ्चवटी है। यह गोदावरी के तट पर स्थित है।

कोङ्कण :- परशुराम क्षेत्र। यह सूरत (सूर्यपत्तन) से रत्नगिरि तक फैला है। कल्याण, बम्बई आदि इसी के अन्तर्गत हैं।

कोल्लगिरि :- वर्तमान कुर्ग, जिसमें मैसूर भी सम्मिलित है।

वल्लर :- मद्रास प्रान्त में वेंकटगिरि, चित्तूर और वेल्लौरी जिलों का सम्मिलित भू-भाग।

दक्षिणापथ के पर्वत, नदियाँ तथा उत्पाद्य वस्तुएँ :—

विन्ध्य का दक्षिणी भाग, महेन्द्र, मलय, मेकल, पाल, मञ्जर, सह्य, श्रीपर्वत आदि पर्वतों का 'काव्यमीमांसा' में उल्लेख है। नर्मदा, तापी, पयोष्णी, गोदावरी, कावेरी, भैमरथी, वेणा, कृष्णवेणा, वञ्जुरा, तुङ्गभद्रा, ताम्रपर्णी, उत्पलावती, रावणगङ्गा आदि दक्षिणापथ की नदियाँ हैं। मलय में उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ — चन्दन, इलायची, कालीमिर्च, जायफल, मोती, कपूर, आदि दक्षिणापथ की उत्पाद्य वस्तुएँ हैं।

दक्षिणापथ के पर्वत और नदियों के आधुनिक नाम :—

महेन्द्र :- महानदी और गोदावरी के मध्य का पूर्वी घाट महेन्द्रमाला से व्याप्त है।

मलय :- मैसूर से ट्रावनकोर तक, कावेरी के दक्षिण तक फैली हुई पर्वतमाला।

मेकल :- विन्ध्य पर्वतश्रेणी का एक भाग, जिसे अमरकंटक कहते हैं।

पालमञ्जर :- दक्षिणापथ के पर्वत।

सह्य :- पश्चिमी घाट में स्थित दक्षिण भारत का पर्वत। उसके दक्षिण की ओर कावेरी और उत्तर की ओर गोदावरी बहती है।

श्रीपर्वत :- श्रीशैल भारत का विख्यात तीर्थ। द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में एक मल्लिकार्जुन शिव का मन्दिर। कुरुनुल नगर के समीप है।

नर्मदा :- यह नदी विन्ध्य पर्वत श्रेणी के अमरकंटक शिखर से निकलकर भरुकच्छ (भड़ोच) के पास अरब समुद्र में मिलती है।

तापी :- ऋक्षपर्वत की सतपुड़ा श्रेणी से निकलकर सूरत नगर के पास समुद्र में गिरती है।

पयोष्णी :- तापी की सहायक, आजकल की पूर्णा नदी।

गोदावरी :- सह्य पर्वत (पश्चिमी घाट) के पूर्व शिखर त्र्यम्बकेश्वर नामक स्थान के पास ब्रह्मगिरि पर्वत से निकलती है। राजमहेन्द्री के पास पूर्वसमुद्र में गिरती है।

कावेरी :- कुर्ग जिले के ब्रह्मगिरि पर्वत के चन्द्रतीर्थ से निकलती है। यह हिन्द महासागर में गिरती है।

भैमरथी :- जहाँ भीमा का कृष्णा के साथ संगम होता है, वहाँ उसका नाम भैमरथी हो जाता है।

वेणा :- यह सह्य पर्वत से निकलती है।

कृष्णवेणा :- कृष्णा का वेणी के साथ संगम होने पर उसका नाम कृष्णवेणी हो जाता है। यह सह्याद्रि के महाबलेश्वर शिखर के पास से निकलकर पूर्वाभिमुख मछलीपट्टन् के समीप समुद्र में गिरती है।

वञ्जुरा :- यह गोदावरी की सहायक नदी है। इसका उद्‌गम सह्य पादपर्वत से होता है।

तुङ्गभद्रा :- यह कृष्णा की सहायक नदी है। रायचूर के निकट कृष्णा में मिलती है।

ताम्रपर्णी :- मलयाचल के अगस्तिकुण्ड से निकलने वाली तिनैवेल्ली जिले की एक नदी।

उत्पलावती :- तिनैवेल्ली जिले में बहने वाली यह नदी ताम्रपर्णी में मिलती है।

रावणगङ्गा :- 'काव्यमीमांसा' में उल्लिखित दक्षिण देश की इस नदी का आधुनिक नाम ज्ञात नहीं है।

पश्चिम देश

देवसभ (देवास) के आगे पश्चिमी देश है। 'काव्यमीमांसा' में पश्चिमी देश के जनपदों में देवसभ, सुराष्ट्र, दशेरक, त्रवण, भृगुकच्छ, कच्छीय, आनर्त, अर्बुद, ब्राह्मणवाह, यवन आदि का नामोल्लेख है। गोवर्धन, गिरिनगर, देवसभ, माल्यशिखर, अर्बुद आदि पर्वतों तथा सरस्वती, श्वभ्रवती, वार्तघ्नी, मही, हिडिम्बा आदि नदियों का भी नामोल्लेख है। करीर, पीलु, गुग्गुलु, खर्जूर, करभ आदि यहाँ उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ हैं।

पश्चिम देश के जनपद, पर्वत तथा नदियों के आधुनिक नाम :—

देवसभ :- देवास या उदयपुर के धेवार झील का प्रदेश।

सुराष्ट्र :- भारत के पश्चिमी भाग में स्थित काठियावाड़।

दशेरक :- दशेरक सिन्धु-मरु का भू-भाग है।

त्रवण :- पश्चिमी भारत का एक जनपद।

भृगुकच्छ :- आधुनिक भड़ौच।

कच्छीय :- यह कच्छ नाम से प्रसिद्ध है।

आनर्त :- वर्तमान नाम बड़नगर है।

अर्बुद :- अरावली पर्वतमाला के प्रसिद्ध आबू पर्वत की उपत्यका में फैला भू-भाग।

ब्राह्मणवाह :- सिन्धु नदी के पूर्वीय तट पर स्थित जनपद।

यवन :- 'काव्यमीमांसा' में उल्लिखित पश्चिम देश का तत्कालीन जनपद। संभवतः ईरान के लिए प्रयुक्त।

गोवर्द्धन :- नासिक के पास का पर्वत स्थान।

गिरिनगर :- गुजरात के प्रसिद्ध पर्वत गिरिनार के आस-पास का प्रदेश है। यह काठियावाड़ प्रान्त के जूनागढ़ नगर के समीप है।

देवसभ :- पश्चिम देश का चन्दन का उत्पादक पर्वत।

माल्यशिखर :- यह मालवा के समीप स्थित विन्ध्य पर्वतमाला की एक चोटी प्रतीत होता हैं।

अर्बुद :- अरावली पर्वतमाला का प्रसिद्ध आबू पर्वत।

सरस्वती :- यह पश्चिम देश की नदी बड़ौदा के पट्टन के समीप बहती है। इसका उद्‌गम उदयपुर के पास धेवर झील से होता है। इसकी एक छोटी शाखा कच्छ की ओर जाती है।

श्वभ्रवती :- यह साबरमती नदी है जो गुजरात से चलकर कच्छ की खाड़ी में गिरती है।

वार्तध्नी :- यह खेड़ा के पास साबरमती से मिलने वाली वात्रक नदी प्रतीत होती है।

मही :- यह मालवा प्रदेश से निकलकर कच्छ की खाड़ी में गिरती है। मही और नर्मदा के मध्य भाग का नाम माहेय है।

हिडिम्बा :- यह विन्ध्य से निकलने वाली चर्मण्वती या चम्बल नदी प्रतीत होती है। यह पश्चिम भारत में बहती हुई इटावा के पास एकचक्रा में यमुना से मिलती है।

उत्तरापथ

पृथूदक से आगे उत्तरापथ स्थित है। 'काव्यमीमांसा' में उत्तरापथ के शक, केकय, वोक्काण हूण, बाणायुज, काम्बोज, बाह्लीक, बह्लव, लिम्पाक, कुलूत, कीर, तंगण, तुषार, तुरुष्क, बर्बर, हरहूरव, हुहुक, सहुड, हंसमार्ग, रमठ, करकण्ठ इत्यादि जनपदों, हिमालय, कलिंद, इन्द्रकील, चन्द्राचल आदि पर्वतों, गङ्गा, सिन्धु सरस्वती, शतद्रु, चन्द्रभागा, यमुना, इरावती, वितस्ता, विपाशा, कुहू, देविका आदि नदियों का नामोल्लेख है। उत्तरापथ में सरल, देवदारु, द्राक्षा, कुङ्कुम, चमर, अजिन, सौवीर, स्रोतोञ्जन, सैन्धव, वैदूर्य आदि वस्तुएँ प्राप्त होती हैं।

उत्तरापथ के जनपदों, पर्वतों, और नदियों के आधुनिक नाम :—

शक :- शक लोगों ने भारत में प्रवेश कर सर्वप्रथम जहाँ अपना स्थाना बनाया उसे शकस्थान कहते हैं। यह पंजाब का प्रसिद्ध नगर स्यालकोट है।

केकय :- पंजाब के व्यास और सतलज के मध्य का भाग केकय कहा जाता है। यह सिन्ध देश की सीमा से मिलता है।

वोक्काण :- यह हिन्दुकुश पर्वत का बदख्शान नगर है।

हूण :- उत्तरी भारत का एक जनपद।

बाणायुज :- यह अरब देश है।

काम्बोज :- अफगानिस्तान या उसके आस-पास का उत्तरी भाग। वास्तव में यह पामीर देश है।

बाह्लीक :- वर्तमान बलख बाह्लीक था।

बह्लव या बाह्लवेय :- मुल्तान के समीप का भाटिया नामक स्थान।

लिम्पाक :- वर्तमान 'लमगान' नामक नगर है। यह पेशावर और काबुल के बीच जलालाबाद (नगरहार) से उत्तर पश्चिम की ओर पड़ता है।

कुलूत :- वर्तमान काँगड़ा जिले की कुलू तहसील।

कीर :- पंजाब का बैजनाथ या कीरग्राम। पश्चिमोत्तर प्रदेश की कीर्थर पर्वतश्रेणी के आस पास का स्थान।

तंगण :- गढ़वाल के उत्तर का जनपद।

तुषार :- बंक्षु नदी का तटवर्ती स्थान।

तुरुष्क :- पूर्वी तुर्किस्तान।

बर्बर :- सिन्धु नदी के पश्चिम तट पर भारत की पश्चिमोत्तर दिशा में बर्बरीक और बर्बरी नाम से स्थित है। बलूचिस्तान का उत्तरी भाग।

हरहूख :- यह सिन्धु नदी और झेलम का मध्य भू-भाग प्रतीत होता है।

हुहुक :- कश्मीर का उत्तरी भू भाग।

सहुड :- पश्चिमी अफगानिस्तान का एक भाग।

हंसमार्ग :- यह कुमाऊँ से कैलास के मार्ग में आने वाला प्रसिद्ध नीतिदर्रा है जो भारत को तिब्बत से मिलाता है।

रमठ :- सिन्धु नद के उत्तर में रौमक पर्वत है, जो साल्ट रेंज कहा जाता है। इस नमक के पहाड़ के समीप रमठ नामक स्थान है।

करकण्ठ :- यह कराकोरम पर्वत की घाटी में है।

हिमालय :- भारत और तिब्बत के बीच की पर्वत शृंखलाओं का नाम है।

कलिंद :- हिमालय पर्वत श्रेणी का एक भाग, जहाँ से यमुना का उद्‌गम होता है। गढ़वाल के पहाड़ों में प्रसिद्ध यमुनोत्तरी यही है।

इन्द्रकील :- हिमालय का एक शिखर।

चन्द्राचल :- हिमालय के एक शिखर भाग का नाम। यहीं से चन्द्रभागा का उद्‌गम होता है।

गङ्गा :- यह नदी गढ़वाल के गंगोत्री नामक स्थान से दो मील ऊपर बिन्दुसर से निकलती है।

सिन्धु :- उत्तरी भाग की प्रसिद्ध नदी।

सरस्वती :- उत्तरी भारत की सरस्वती थानेसर और पृथूदक (पिहोवा) के पास बहती हुई विनशन में लुप्त हो जाती है।

शतद्रु :- पंजाब की सतलज नाम से प्रसिद्ध नदी।

चन्द्रभागा :- पंजाब की प्रसिद्ध चिनाव नदी।

यमुना :- गढ़वाल के पहाड़ों में प्रसिद्ध कलिंद अथवा यमुनोत्तरी से निकलने वाली नदी।

इरावती :- पंजाब की प्रसिद्ध रावी नदी। लाहौर नगर इसी नदी के तट पर बसा है।

वितस्ता :- पंजाब की प्रसिद्ध झेलम नदी।

विपाशा :- पंजाब की प्रसिद्ध व्यास नदी।

कुहू :- सिन्धु की सहायक काबुल नदी, जो कोहीबाबा पहाड़ के नीचे से निकलती है।

मध्यदेश

मध्यदेश के जनपदों, पर्वतों नदियों का आचार्य राजशेखर ने नामोल्लेख नहीं किया है क्योंकि वे अत्यन्त प्रसिद्ध थे।[1]

[आचार्य राजशेखर द्वारा निर्दिष्ट सम्पूर्ण भारत के पाँच विभागों के जनपदों, पर्वतों तथा नदियों के आधुनिक नामों की जानकारी के लिए काव्यमीमांसा (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना) के परिशिष्ट भाग-2 तथा भारतीय इतिहास कोश (सच्चिदानन्द भट्टाचार्य) का आधार ग्रहण किया गया है।]

---

1. तत्र ये देशा: पर्वता: सरितो द्रव्याणामुत्पादश्च तत्प्रसिद्धिसिद्धमिति न निर्दिष्टम्।

(काव्यमीमांसा - सप्तदश अध्याय)

दिशाओं के विभाग :—

दिशाओं के विभाग की अवधि अन्तर्वेदी अथवा मध्यदेश को माना गया है। किन्तु आचार्य राजशेखर अन्तर्वेदी में भी कान्यकुब्ज को दिग्विभाग की अवधि स्वीकार करते हैं। यह दिशा निर्धारण विशेष स्थान को अवधि मानकर स्वीकार किया गया है। सामान्यत: तो दिशाएँ अनियत होने से दिग्विभाग की अनिश्चितता है।[1]

दिशाओं की संख्या

दिशाओं की संख्या का वर्णन करने में कवि अपनी इच्छा के अधीन हैं। कहीं चार दिशाओं के, अन्यत्र आठ दिशाओं तथा दस दिशाओं के भी उल्लेख हैं।[2]

चार दिशाएँ :— प्राची, अवाची, प्रतीची और उदीची।

आठ दिशाएँ :— ऐन्द्री, आग्नेयी, याम्या, नैर्ऋती, वारुणी, वायव्या, कौबेरी तथा ऐशानी।

यह नामकरण दिक्पालों के नाम पर आधारित हैं।

दस दिशाएँ :— ऐन्दी आदि आठ तथा ब्राह्मी (ऊर्ध्व) और नागीया (अध:) यह दस दिशाएँ हैं।[3]

---

1. विनशनप्रयागयोर्गङ्गायमुनयोश्चान्तरमन्तर्वेदी। तदपेक्षया दिशो विभजेत 'इति आचार्या:। तत्रापि मूलमवधीकृत्य इति यायावरीय:।

   'अवधिनिबन्धनमिदं रूपमितरत्त्वनियतमेव' इति यायावरीय:।

   (काव्यमीमांसा - सप्तदश अध्याय)

2. सर्वमस्तु, विवक्षापरतन्त्रा हि दिशामियत्ता। (काव्यमीमांसा - सप्तदश अध्याय)

3. 'प्राच्यवाचीप्रतीच्युदीच्य: चतस्त्रो दिश' इत्येके। ऐन्द्री, आग्नेयी, याम्या, नैर्ऋती, वारुणी, वायव्या, कौबेरी, ऐशानी चाष्टौ दिश' इत्येके। 'ब्राह्मी नागीया च द्वे ताभ्यां सह दशैता' इत्यपरे।

   (काव्यमीमांसा - सप्तदश अध्याय)

विभिन्न दिशाओं की स्थिति :—

पूर्व दिशा :- चित्रा और स्वाति नक्षत्रों के मध्य।

पश्चिम :- पूर्व दिशा के सम्मुख।

उत्तर :- ध्रुव नक्षत्र से युक्त दिशा।

दक्षिण :- उत्तर के सम्मुख।

विदिशा :- दिशाओं के मध्य चार कोन।

ब्राह्मी :- आकाश।

नागीया :- पाताल।[1]

विभिन्न दिशाओं के लोगों के भिन्न वर्ण :—

पूर्व देश :- श्याम वर्ण।

दाक्षिणात्य :- कृष्ण वर्ण।

पाश्चात्य :- पाण्डु वर्ण।

उत्तर देश :- गौर वर्ण।

मध्य देश :- कृष्ण, श्याम एवम् गौर।

कविसमय के अनसार श्याम और कृष्ण का तथा पाण्डु और गौर का अधिक भेद नहीं है।[2]

---

1. तत्र चित्रा स्वात्यन्तरे प्राची, तदनुसारेण प्रतीची, ध्रुवेणोदीची, तदनुसारेणावाची, अन्तरेषु विदिशः, ऊर्ध्व ब्राह्मी, अधस्तान्नागीयेति। (काव्यमीमांसा - सप्तदश अध्याय)

2. तद्वद्वर्णनियमः। तत्र पौरस्त्यानां श्यामो वर्णः दक्षिणात्यानां कृष्णः, पाश्चात्यानां पाण्डुः, उदीच्यानां गौरः, मध्यदेश्यानां कृष्णः श्यामो गौरश्च।-------------

   न च कविमार्गे श्यामकृष्णयोः पाण्डुगौरयोर्वा महान्विशेष (काव्यमीमांसा - सप्तदश अध्याय)

देश का सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत करते हुए आचार्य राजशेखर ने अन्ततः नवीन कवियों को संदेश दिया कि सभी प्रकार के वर्णनों का आधार शास्त्र, लोक व्यवहार तथा कविसमय अवश्य होना चाहिए। देश, पर्वत, नदी और दिशाओं का उनके क्रमानुसार ही अपनी रचनाओं में निबन्धन करना कवि के लिए उचित होगा।[1] अन्यथा वर्णन उनके काव्य को दोषमय बना देगा।

1. तत्र देशपर्वतनद्यादीनां दिशां च यः क्रमस्तं तथैव निबध्नीयात्। साधारणं तूभयत्र लोकप्रसिद्धितश्च।

(काव्यमीमांसा - सप्तदश अध्याय)

काल विवेचन

'काव्यमीमांसा' के काल विभाग नामक अध्याय में कवियों के ज्ञान हेतु काल की विस्तृत विवेचना आचार्य राजशेखर द्वारा प्रस्तुत की गई है। इसी संदर्भ में छः ऋतुओं के पेड़, पौधों, फलों फूलों का वर्णन भी उन्होंने किया है। प्रत्येक ऋतु में पशु पक्षियों की गतिविधियाँ तथा मनुष्यों के व्यवहार तथा भोजन आदि का कवि को ज्ञान होना परम आवश्यक है। विभिन्न ऋतुओं का ज्ञान देने के साथ ही 'काव्यमीमांसा' दो ऋतुओं के मध्य की अवस्था का भी सूक्ष्म विवेचन करते हुए फलों तथा उनके विभिन्न अंशों की उपयोगिता को भी प्रदर्शित करती है।

काल गणना :-

आचार्य राजशेखर के समक्ष कौटिल्य के अर्थशास्त्र, मनुस्मृति, वायुपुराण तथा भविष्य पुराण आदि ग्रन्थों का काल विवेचन उपस्थित था। आचार्य राजशेखर ने प्रथम श्लोक वायुपुराण (अ० 50, श्लोक 169) से उद्धृत करते हुए काल गणना प्रारम्भ की है—पन्द्रह निमेषों की एक काष्ठा, तीस काष्ठाओं की एक कला, तीस कलाओं का एक मुहूर्त और तीस मुहूर्तों का दिन रात होता है।[1]

वायुपुराण के मन्वन्तर कथन में भी दिन और रात के सूक्ष्म से सूक्ष्म अंशों का विवेचन करते हुए काल गणना की गई है। पन्द्रह निमेषों की एक काष्ठा, पाँच क्षणों का लव, तीन लवों की बीस काष्ठा होती है। तीस लव की एक कला तथा तीस कला का मुहूर्त होता है। तीस मुहूर्तों का अहोरात्र होता है।[2] विष्णुपुराण में भी इसी प्रकार काल गणना की गई है।[3] मनुस्मृति तथा भविष्यपुराण में भी काल की

---

1. काष्ठा निमेषा दश पञ्च चैव त्रिंशच्च काष्ठाः कथिताः कलेति। त्रिंशत्कलश्चैव भवेन्मुहूर्तस्तैस्त्रिंशता रात्र्यहनी समेतौ॥
(काव्यमीमांसा - सप्तदश अध्याय) (वायुपुराण 50/169)

2. मानुषाक्षिनिमेषास्तु काष्ठा पञ्चदश स्मृताः। लवः क्षणास्तु पञ्चैव विंशत्काष्ठा तु ते त्रयः। 96।
लवास्त्रिंशत्कला ज्ञेया मुहूर्तस्त्रिंशतः कलाः। 97। मुहूर्तास्तु पुनस्त्रिंशदहोरात्रमिति स्थितिः।------- । 98।
(वायुपुराण - द्वितीय खण्ड) (अध्याय - 62 - मन्वन्तर कथन)

3. ''काष्ठा निमेषा दश पञ्च चैव त्रिंशच्च काष्ठा गणयेत्कलांश्च त्रिंशत्कलैश्चैव भवेन्मुहूर्तैस्तैस्त्रिंशता रात्र्यहनी समेते॥''
(विष्णुपुराण द्वि० अंश, अ० 8, श्लोक - 60)

यही अवस्थाएँ विवेचित हैं, केवल इन ग्रन्थों में काष्ठा के गणक निमेषों की संख्या अठारह हो गई है।[1] कौटिल्य के अर्थशास्त्र के देशकालमान प्रकरण में भी विस्तृत कालविवेचन प्राप्त होता है। दो त्रुटों का लव, दो लवों का निमेष है। यहाँ पर काष्ठा पाँच निमेषों की बताई गई है। तीस काष्ठा की कला, चालीस कला की नालिका, दो नालिका का मुहूर्त भी 'अर्थशास्त्र' में उल्लिखित है।[2] 'काव्यमीमांसा' में काल के घटक निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त, दिन ,रात, पक्ष, मास, ऋतु, अयन और संवत्सर हैं। 'अर्थशास्त्र' में भी इसी प्रकार का वर्णन प्राप्त है तथा त्रुट, लव, निमेष, काष्ठा, कला, नालिका, मुहूर्त, दिवस, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर और युग काल के द्योतक हैं। यह काल शीत, उष्ण और वर्षा के स्वभाव वाला है और रात्रि, दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन तथा संवत्सर उसके विशेष रूप हैं।[3] मानुष और दैविक दिन रात का सूर्य विभाग करता है। रात्रि प्राणियों के स्वप्न हेतु होती है तथा दिन उन्हें क्रियाशील बनाता है— यह उल्लेख मनुस्मृति में भी मिलता है, भविष्य पुराण भी सूर्य द्वारा मानुष तथा दैविक दिन और रात के विभाजन का उल्लेख करते हुए तीस दिन-रात के मास, दो-दो मासों की ऋतु,

---

1. (क) निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा, त्रिंशत्तु ताः कला। त्रिंशत्कला मुहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः। 64।

(मनुस्मृति - प्रथम अध्याय)

(ख) निमेषा दश चाष्टौ च अक्ष्णः काष्ठा निगते।86। त्रिंशत्काष्ठाः कलामाहुः क्षणस्त्रिंशत्कला स्मृताः। मुहूर्तमथ मौहूर्ता वदन्ति द्वादश क्षणम्। 87। त्रिशन्मुहूर्तमुद्दिष्टमहोरात्रं मनीषिभिः। 88।(भविष्यपुराण-भाग 1 ब्राह्म पर्व- (2) सृष्टिवर्णन)

2. द्वौ त्रुटौ लवः। द्वौ लवौ निमेषः, पञ्च निमेषः काष्ठा, त्रिंशत्काष्ठा;कला चत्वारिंशत्कलाः नाडिका। द्विनालिका मुहूर्तः।

कौटिलीय अर्थशास्त्र - द्वितीय अध्याय, अध्यक्ष प्रचारः, प्रकरण - देशकालमानम्

3. (क) पञ्चदशाहोरात्रः पक्षः।-----------द्वौ पक्षौ मासः। द्वौ मासावृतुः। षण्णामृतूनां परिवर्तः संवत्सरः।

(काव्यमीमांसा - अष्टादश अध्याय)

(ख) कालः शीतोष्णवर्षात्मा। तस्य रात्रिरहः पक्षो मास ऋतुरयनं संवत्सरो युगमिति विशेषाः। (अर्थशास्त्र (कौटिल्य) नवमधिकरणम् अभियास्यत्कर्म - शक्तिदेशकालबलाबलज्ञानम्) कालमानमत ऊर्ध्वम्। त्रुटो लवो निमेषः, काष्ठा, कला नालिका, मुहूर्तः पूर्वाभागौ दिवसो रात्रिः पक्षो मास ऋतुरयनं संवत्सरो युगमिति कालाः।-----------पञ्चदशाहोरात्रः पक्षः------- द्विपक्षो मासः।-------द्वौ मासावृतुः।------शिशिराद्युत्तरायणम्। वर्षादि दक्षिणायनम्। द्वययनस्संवत्सरः पञ्च संवत्सरो युगामिति। अर्थशास्त्र (कौटिल्य) द्वितीय अध्याय, अध्यक्ष प्रचारः, प्रकरण - देशकालमानम्।

तीन ऋतुओं के अयन और दो अयनों के वत्सर होते हैं—यह बताता है।[1] विभिन्न ग्रन्थों में अपने विभिन्न घटकों सहित विवेचित यह काल अबाध गति से चलता रहता है किन्तु इसका स्वरूप किसी को भी स्पष्टतः ज्ञात नहीं हो पाता। यह काल अव्यक्त स्वरूप में ही आता है और चला भी जाता है। इसी कारण यास्क के निरुक्त में जो मृढ़ के समान अव्यक्त रहकर शीघ्रता से चला जाता है उसको ही काल कहा गया है।[2]

सम्पूर्ण वर्ष में दिन-रात का बढ़ना, घटना :-

'काव्यमीमांसा' में यह उल्लेख भी आचार्य राजशेखर ने किया है कि वर्ष के कुछ मास ऐसे हैं जिनमें दिन और रात बराबर होते हैं, कुछ महीनों में दिन बड़ा तथा कुछ महीनों में रात बड़ी होती है। तीस मुहूर्तों से बनने वाला दिन-रात चैत्र और आश्वयुज मास में बराबर होता है अर्थात् पन्द्रह मुहूर्त का दिन और पन्द्रह मुहूर्त की रात। तत्पश्चात् चैत्र के बाद प्रत्येक मास में दिन में एक मुहूर्त की वृद्धि तथा रात्रि में एक मुहूर्त की हानि होती है। ऐसा तीन महीनों तक होता है। तत्पश्चात् रात में एक मुहूर्त की वृद्धि होती है और दिन में एक मुहूर्त की हानि होती है। यह क्रम आश्वयुज तक चलता है। आश्वयुज में दिन और रात बराबर हो जाते हैं। फिर यही क्रम विपरीत हो जाता है अर्थात् रात में एक मुहूर्त की वृद्धि तथा दिन में एक मुहूर्त की हानि होती है। तीन महीनों तक यही क्रम चलता रहता है। तत्पश्चात् दिन में एक मुहूर्त की वृद्धि तथा रात्रि में एक मुहूर्त की हानि होती है। चैत्र मास में दिन और रात पुनः बराबर हो जाते हैं। आचार्य राजशेखर के इस विवेचन का आधार कौटिल्य का अर्थशास्त्र है। अर्थशास्त्र

---

1. (क) अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः। 65।

(मनुस्मृति - प्रथम अध्याय)

(ख) मासस्त्रिंशदहोरात्रं द्वौ द्वौ मासावृतुः स्मृतः। 88। ऋतुत्रयमप्ययनमयने द्वे तु वत्सरः अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके। 89। (भविष्यपुराण - भाग 1 - ब्राह्म पर्व (2) सृष्टिवर्णन)

2 ''मुहुर्मूढ इव कालः। कालो मूढ इव अव्यक्तः सन् झर्टिति गच्छति, सः मुहुः शब्देनोच्यते।''

[निरुक्त -यास्क, अध्याय -2, पाद -7, ख० 26)

में भी दिन और रात्रि के मुहूर्तवृद्धि तथा हानि का ऐसा ही विवरण प्राप्त होता है।[1]

सौरमान, पितृ मासमान तथा चान्द्रमास :-

'काव्यमीमांसा'' में तीन प्रकार के मास-मानों का भी उल्लेख है। सूर्य का एक राशि से दूसरी राखि में जाना मास कहलाता है। वर्षा ऋतु से छह मास तक दक्षिणायन तथा शिशिर ऋतु से छह मास तक उत्तरायण होता है। दो अयनों का संवत्सर होता है। यह कालगणना 'सौरमान' के अनुसार है।[2] पन्द्रह दिन-रात का पक्ष होने पर जिस पक्ष में चन्द्रमा की वृद्धि होती है वह शुक्ल पक्ष है तथा अन्धकार की वृद्धि वाला पक्ष कृष्णपक्ष है। यह पितृ मासमान है, इसमें पक्ष का क्रम शुक्ल और कृष्ण का है। इसी मास मान के अनुसार वेदों द्वारा कही गई समस्त क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं।[3]

पितृमास के विपरीत पक्षों का स्वरूप होने पर चान्द्रमास होता है। चान्द्रमास में पहले कृष्ण और तत्पश्चात् शुक्ल पक्ष होता है। कवियों का तथा आर्यावर्तनिवासियों का चान्द्रमास ही आधार बनता है।[4]

---

1 (क) ते च चैत्राश्वयुजमासयोर्भवत:। चैत्रात्परं प्रतिमासं मौहूर्तिकी दिवसवृद्धि: निशाहानिश्च त्रिमास्या:, तत: परं मौहूर्तिकी निशावृद्धि: दिवसहानिश्च। आश्वयुजात्परत: पुनरेतदेव विपरीतम्

(काव्यमीमांसा - अष्टादश अध्याय)

(ख) पञ्चदशमुहूर्तो दिवसो रात्रिश्च चैत्रे मास्याश्वयुजे च मासि भवत:। तत: परं त्रिभिर्मुहूर्तैरन्यतरष्षण्मासं वर्धते ह्रासं ते चेति।

कौटिलीय अर्थशास्त्र (द्वितीय अध्याय) अध्यक्ष प्रचार:, प्रकरण - देशकालमानम्

2 राशितो राश्यन्तरसङ्क्रमणमुष्णभासो मास:, वर्षादि दक्षिणायनम्, शिशिराद्युत्तरायणं, द्वयनः संवत्सर इति सौरं मानम्। (काव्यमीमांसा - अष्टादश अध्याय)

3. पञ्चदशाहोरात्र: पक्ष:। वर्द्धमानसोम: शुक्लो वर्द्धमानकृष्णिमा कृष्ण इति पित्र्यं मासमानम्। अमुना च वेदोदित: कृत्स्नोऽपि क्रियाकल्प:। (काव्यमीमांसा - अष्टादश अध्याय)

4. पित्र्यमेव व्यत्ययितपक्षं चान्द्रमसम् । इदमार्यावर्तवासिनश्च कवयश्च मानमाश्रिता:

(काव्यमीमांसा - अष्टादश अध्याय)

कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में प्रकर्ममास, सौरमास, चान्द्रमास, नक्षत्रमास तथा मलमास का उल्लेख है।[1]

चान्द्रमास से सम्बद्ध संवत्सर तथा ऋतु चक्र :-

कविजनों के लिए चान्द्रमास महत्वपूर्ण हैं, वे इसको ही कालगणना के लिए आधार स्वरूप स्वीकार करते हैं। कृष्ण और शुक्ल पक्षों से एक मास, दो मासों की एक ऋतु, छह ऋतुओं के चक्र से एक चान्द्र संवत्सर बनता है। ज्योतिष्शास्त्रवेत्ता इस संवत्सर का प्रारम्भ चैत्र मास से मानते हैं और लौकिक व्यवहार वालों के लिए संवत्सर का प्रारम्भ श्रावण मास से होता है। कवियों के लिए रचित 'काव्यमीमांसा' में दो-दो मासों से निर्मित ऋतुओं तथा उनके वर्णनीय विषयों की विस्तृत विवेचना है। संवत्सर का आरम्भ वर्षा ऋतु से करते हुए - श्रावण, भाद्रपद वर्षा, आश्विन और कार्तिक शरद्, मार्गशीर्ष और पौष हेमन्त, माघ और फाल्गुन शिशिर, चैत्र और वैशाख वसन्त तथा ज्येष्ट और आषाढ़ ग्रीष्म ऋतु — यह ऋतु चक्र काव्यमीमांसा में प्रस्तुत है। 'अर्थशास्त्र' में भी वर्षा ऋतु से संवत्सर का आरम्भ माना गया है।[2] शीत, उष्ण और वर्षा रूपी स्वभाव वाला काल अपने शीत स्वभाव से युक्त होने पर हेमन्तादिरूप, उष्ण स्वभाव होने पर ग्रीष्मादिरूप तथा वर्षा रूपी स्वभाव वाला होने पर प्रावृड्रूप होता है यह उल्लेख कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में राजा के लिए प्रस्तुत शक्तिदेशकालबलाबलज्ञान प्रकरण में मिलता है।[3] यास्क के निरुक्त में तीन ऋतुओं से युक्त संवत्सर का उल्लेख है। फाल्गुन से चार मासों तक

---

1. त्रिंशदहोरात्रः प्रकर्ममासः । सार्धसौरः। अर्धन्यूनश्चान्द्रमासः। सप्तविंशतिर्नक्षत्रमासः द्वात्रिंश् मलमासः।
अर्थशास्त्र (कौटिल्य) द्वितीय अध्याय, अध्यक्षप्रचारः, प्रकरण - देशकालमानम्

2 षण्णामृतूनां परिवर्त्तः संवत्सरः। स च चैत्रादिरिति दैवज्ञाः श्रावणादिरिति लोकयात्राविदः। तत्र नभा नभस्यश्च वर्षाः, इष ऊर्जश्च शरत् सहः सहस्यश्च हेमन्तः, तपस्यपस्यश्च शिशिरः, मधुर्माधवश्च वसन्तः, शुक्रः शुचिश्च ग्रीष्मः।
(काव्यमीमांसा - अष्टादश अध्याय)
श्रावणः प्रोष्ठपदश्च वर्षाः। आश्वयुजः कार्तीकश्च शरत्। मार्गशीर्षः पौषश्च हेमन्तः। माघफाल्गुनश्च शिशिरः। चैत्रो वैशाखश्च बसन्तः ज्येष्ठामूलीय आषाढश्च ग्रीष्मः। अर्थशास्त्र (कौटिल्य) द्वितीय अध्याय, अध्यक्षप्रचारः, प्रकरण - देशकालमानम्

3. कालः शीतोष्णवर्षात्मा------शीतस्वभावो हेमन्तादिरूपः, उष्णस्वभावो ग्रीष्मादिरूपः, वर्षस्वभावः प्रावृड्रूपश्च भवति। अर्थशास्त्र (कौटिल्य) नवमाधिकरणम् - अभियास्यत्कर्म - शक्तिदेशकालबलाबलज्ञानम्

ग्रीष्म ऋतु, आषाढ़ से चार मासों तक वर्षा ऋतु, कार्तिक से चार मासों तक हेमन्त ऋतु का विवेचन है।[1]

'काव्यमीमांसा' में विभिन्न ऋतुओं की वायु का दिशानिर्देश :-

आचार्य राजशेखर ने कवियों के लिए प्रत्येक ऋतु में प्रवाहित वायु की दिशा का महत्वपूर्ण प्रसङ्ग प्रस्तुत किया है। यद्यपि वे वायु की दिशा के संदर्भ में कविसमय की ही सर्वाधिक प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं। विभिन्न आचार्यों ने वर्षा ऋतु में पाश्चात्य वायु का प्रवाहित होना स्वीकार किया है, किन्तु आचार्य राजशेखर वर्षा ऋतु में कविसमय के अनुसार कवियों को पूर्वी वायु के वर्णन का निर्देश देते हैं।[2] शरद् ऋतु में वायु की अनिश्चित दिशा का, हेमन्त ऋतु में वायु की पश्चिम दिशा तथा उत्तर दिशा का, शिशिर ऋतु में भी हेमन्त के समान उत्तर तथा पश्चिम दिशा की वायु का, वसन्त में दक्षिण दिशा की वायु का तथा ग्रीष्म ऋतु में अनिश्चित दिशा की वायु का तथा नैऋत्य दिशा की वायु का वर्णन करने का निर्देश कवियों को 'काव्यमीमांसा' से प्राप्त हुआ है।[3] कविशिक्षा की दृष्टि से कालगणना के संदर्भ में इन विषयों का उल्लेख करते हुए आचार्य राजशेखर ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया है।

'काव्यमीमांसा में वर्णित ऋतुचक्र' :-

संवत्सर की छह ऋतुओं का विविधतापूर्ण वर्णन कवि के काव्य को सरस, सुन्दर, मनोहारी रूप में सहृदयों के सम्मुख प्रस्तुत करता है। अतः कविगण ऋतुवर्णन का मोह त्याग करने में अपने को

---

1 ऋतु संवत्सरो ग्रीष्मो वर्षा हेमन्त इति। त्रयस्तपस्याद्याश्चत्वारो मासा ग्रीष्मर्तुः शुच्याद्याश्चत्वारो मासा वर्षर्तुः। कार्तिकाद्याश्चत्वारो मासा हेमन्तर्तुरित्येवम्। त्रय ऋतवो यत्र स संवत्सरः।

यास्क (निरुक्त) अध्याय - 4, पाद - 4, खण्ड - 27

2 तत्र 'वर्षासु पूर्वो वायुः' इति कवयः। 'पाश्चात्यः पौरस्त्यस्तु प्रतिहन्ता' इत्याचार्याः। तदाहुः - 'पुरोवाता हता प्रावृट् पाश्चाद्वाता हता शरत्' इति। --------- 'वस्तुवृत्तिरतन्त्रं, कविसमयः प्रमाणम्' इति यायावरीयः।

(काव्यमीमांसा - अष्टादश अध्याय)

3 शरद्यनियतदिक्को वायुः। ----- 'हेमन्ते पश्चात्यो वायुः' इत्येके। 'उदीच्य' इत्यपरे। 'उभयमपि' इति यायावरीयः। -------- शिशिरेऽपि हेमन्तवदुदीच्यः पाश्चात्यो वा ------- बसन्ते दक्षिणः।--------- 'अनियतदिक्को वायुर्ग्रीष्मे' इत्येके। 'नैऋत इत्यपरे। 'उभयमपि' इति यायावरीयः। (काव्यमीमांसा - अष्टादश अध्याय)

असमर्थ पाते हैं। नवीन कवि के लिए ऋतुओं के वर्णनीय विषयों का उल्लेख 'काव्यमीमांसा' में प्रस्तुत है, जिससे वे ऋतुओं का वर्णन करते समय अपने काव्य को दोषों से दूर रख सकें।

काव्यमीमांसा में वर्णित वर्षा ऋतु :-

वृक्षजगत् का परिवर्तन :- बाँसों में नई कोपल, सल्लकी, साल, शिलीन्ध्र, जूही के वृक्षों में नए पत्ते और पुष्प। लांगली में पुष्प। जंगलों में नीली के पत्तों की अधिकता होती है। कुटज कुसुमों की कलियाँ खिल जाती हैं। कदम्ब के पुष्पसमूह फूट पड़ते हैं, उनमें केसर उगते हैं। कदम्बों से आकाश कलुषित हो जाता है। धव (धाय) के पुष्प यौवन प्राप्त करते हैं। अर्जुन के वृक्ष नवीन मञ्जरियों से भर जाते हैं। केतकी में कलियाँ फूटती हैं। बेंत जल प्रवाह से निरन्तर हिलते रहते हैं।

पशुपक्षियों की गतिविधियाँ :-

वर्षाऋतु में बगुलियों का गर्भधारण, हरी घासों पर बीर बहूटियाँ, चकोरों का हर्षित होना, वनों में चतुर्दिक् चलते हुए चपल चातक, हरिणों में प्रेम का उदय आदि विषय वर्णित होते हैं। मेढ़कों के शब्द सर्वत्र सुनाई देते हैं। सर्प मदोन्मत्त होकर विचरण करते हैं। मोरों के झुण्ड नृत्य करते हैं। जलचर पक्षी प्रसन्न हो जाते हैं।

वर्षाऋतु के अन्य वैशिष्ट्य :-

वर्षाकाल उष्णता का अन्त कर देता है। वियोगियों के हृदय पर कामविष को उत्पन्न करने वाले विष (जल) की वर्षा करते हुए मेघों का आगमन होता है। निरन्तर गर्जना करते हुए यह मेघ आकाश में व्याप्त धूल को मिटा देते हैं। सूर्य की अंगारमय किरणों से तप्त भूमि पर वर्षा का प्रथम जल गिरने से उससे मनोहर गन्ध निकलती है। जलधारा से धुले पर्वत सुन्दर प्रतीत होते हैं। नदियाँ प्रवाह के वेग से तटों को तोड़ती हुई बहती हैं। राजाओं के यात्रा प्रसङ्ग स्थगित हो जाते हैं। यतियों तथा सन्यासियों का प्रचार रुक जाता है। वियोगिनी रमणियाँ अपने प्रवासी पतियों के आगमन की प्रतीक्षा करती हैं। पथिकों के झुण्ड अपने-अपने घर पहुँचने के लिए व्याकुल हो जाते हैं। सर्वत्र मार्ग कीचड़युक्त होने के कारण

हाथियों की सवारी सैर सपाटे के लिए उचित होती है। विलासिनियों की शयनशय्या ऊँचे भवनों की अट्टालिकाओं के चौबारों में बनती है। कस्तूरी मिश्रित चतु: सम का सेवन किया जाता है।

काव्य में ऋतु वर्णन की परम्परा प्राचीन है। भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में विभिन्न ऋतुओं के प्रदर्शन हेतु अनेक निर्देश दिए हैं। वर्षाकाल का प्रदर्शन कदम्ब, नीप, कुटज वृक्षों, घासयुक्त मैदानों, वीर बहूटियों, बादलों की वायु के सुखद स्पर्शों से करना चाहिए तो नाट्य में वर्षा की रात्रि को बादलों के समूह के गम्भीर नाद, धाराप्रवाह बौछार, बिजली चमकने और गरजने के द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए।[1] महाकवि कालिदास की रचना 'ऋतुसंहारम्' में छह ऋतुओं का सुन्दर विवेचन किया गया है। इसके द्वितीय सर्ग में महाकवि ने वर्षावर्णन करते हुए तत्कालीन प्रकृति का सरस चित्रण किया है।

'ऋतुसंहार' में वर्णित वर्षा ऋतु :-

बादलों से युक्त आकाश (2/2), प्यासे चातकपक्षी, जल के भार से झुके हुए, कर्णप्रिय गर्जन करने वाले, अत्यधिक जलधारा बरसाने वाले बादल (2/3), नवीन घासों के हरे-हरे अंकुरों से युक्त, वीरबहूटियों से परिव्याप्त पृथ्वी (2/5), मधुर ध्वनि करता हुआ, पंख फैलाकर नृत्य करता हुआ मयूर (2/6), जल के प्रवृद्ध-वेग से दोनों तटों के वृक्षों को उखाड़ती हुई मटमैले जल वाली नदियाँ (2/7), बादलों के कारण प्रगाढ़ तिमिराच्छन्न रात्रि में बिजली की चमक (2/10), पीला-पीला, कीड़े-मकोड़े, घास-फूस से युक्त, मेढकों को डराने वाला जल (2/13), पत्र, पुष्पविहीन नलिनी (2/14), भ्रमरसमूहों से युक्त, मद जल से सुशोभित हाथियों के कपोल (2/15), सर्वत्र झरनों से युक्त पर्वत (2/16), कदम्ब, साल, अर्जुन और केतकी में पुष्प (2/17), जूही, मालती तथा बकुल में पुष्प (2/24) इन्द्रधनुष से सुशोभित बादल (2/22) — वर्षा ऋतु का यह मनोहारी स्वरूप महाकवि कालिदास के 'ऋतुसंहार' में

---

1. कदम्बनीपकुटजैः शाद्वलैः सेन्द्रगोपकैः मेघवातोः सुखस्पर्शैः प्रावृट्कालं प्रदर्शयेत्। 35।
मेघौघनादैर्गम्भीरैर्धाराप्रपतनैस्तदा। विद्युन्निर्घातघोषैश्च वर्षारात्रं समादिशेत्। 36।

(नाट्यशास्त्र - पञ्चविंश अध्याय)

दृष्टिगत होता है, किन्तु यह आश्चर्यजनक है कि आचार्य राजशेखर ने ऋतुओं के वर्णनीय विषय प्रस्तुत करते समय महाकवि कालिदास के श्लोकों को उद्धृत नहीं किया है।

काव्यमीमांसा में वर्णित शरद् ऋतु

वृक्षजगत् का परिवर्तन :-

कमलों, कुमुदों, उत्पलों का विकास, बन्धूक, बाण, असन, केसर, शेफालिका, सप्तपर्ण, कास, भाण्डीर, सौगन्धिक और मालती—इन वृक्षों में पुष्पप्रसव। क्यारियों में पककर पीले कलम धान। पककर नीले से हुए आमले। पककर फूट जाने से सुगन्धित फूटककड़ी। पककर खट्टे, जीर्ण इमली के फल।

पशुपक्षियों की गतिविधियाँ :-

शरद् ऋतु में खंजन पक्षियों के दर्शन होते हैं। स्वच्छ जलाशयों के तटों पर हंस, कारण्डव, चक्रवाक, सारस, क्रौञ्च आदि जलचर विहार करते हैं। कलहंसों के झुण्ड मानसरोवर से लौटकर अपने-अपने निवासों में आ जाते हैं। खुरों से पृथ्वी को कुरेदते हुए मदोन्मत्त साँड़, दाँतों से नदी-तटों को उखाड़ते हुए मस्त हाथी और पुराने सींगों को गिराते हुए रुरु मृग दिखाई देते हैं। नदियों में जल कम होने से उनके बालुकामय तट पर जल से बाहर निकलकर कछुए विश्राम करते हैं। उथले निर्मल जल में दौड़ती हुई मछलियों का पीछा करते हुए बगुले उनपर उग्र दाँतों से प्रहार करते हैं। मछलियों के भागते हुए छोटे बच्चों पर कुरर पक्षियों के आक्रमण। मदरहित मयूरों की गर्जना। कुररों और भ्रमरों की उन्मत्तता।

शरद् ऋतु के अन्य वैशिष्ट्य :-

नदी, नद, झील, ताल, सरोवर आदि का स्वच्छ, मधुर जल। तट का कीचड़ सूख जाता है। स्वाति की बूँदों से सीपियाँ शुभ्र मोतियों का गर्भ धारण करती हैं। बालुकामय तट पर सीपियों की छाप

से टेड़ी-मेढ़ी रेखाएँ दिखती हैं। अमल, धवल चन्द्रिका। स्वच्छ, नीलाकाश। अनन्त आकाश में विशद नक्षत्र समूह। रात के समय भी दिन के समान चमकती आकाशगङ्गा में नक्षत्रों का दृश्य। इधर-उधर घूमते हुए निर्जल और श्वेत बादलों के टुकड़े। रथों के चलने योग्य पङ्कहीन पृथ्वी। तीक्ष्णतर किरणों से चमकता हुआ भगवान् भास्कर। किसानों के घरों में काटकर लाए गए नवीन शालियों (धान) के क. ों की सुगन्ध। ग्रामवधुओं के द्वारा धान की कुटाई।

शरद् ऋतु के विभिन्न उत्सवों का उल्लेख :-

महानवमी के दिन विजययात्री राजाओं द्वारा होने वाला सम्पूर्ण अस्त्रों का पूजन। घोड़ों, हाथियों और सैनिकों की मनोहारिणी सजावट के साथ परेड (नीराजना), दीपावली में दीपों की मालाएँ तथा विजययात्रा के लिए उन्मुख राजाओं के विविध विलास। देवताओं के साथ भगवान् माधव का जागरण।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य राजशेखर के समय में शरद् ऋतु में शारद् नवरात्र (दुर्गापूजा), विजयादशमी तथा दीपावली के उत्सव और हरिप्रबोधिनी एकादशी पर देवोत्थान के उत्सव प्रचलित थे। भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में शरद् ऋतु में सभी इन्द्रियों के स्वस्थ होने के कारण प्रसन्न वदन तथा विचित्र आलोकयुक्त संसार के प्रदर्शन का निर्देश है।[2]

'ऋतुसंहार' में वर्णित शरद् ऋतु :-

फूले हुए काश के पुष्प, विकसित कमल, उन्मादयुक्त हंसों का मधुर कलरव, परिपक्व पीतवर्ण धानों की बालियाँ (3/1), चन्द्रज्योत्सना से रात्रि, हंसों से नदियों के जल, पुष्पभार से झुके सप्तपर्णों से वनप्रान्त तथा मालतीपुष्पों से उपवन सुशोभित होते हैं (3/2), धीरे-धीरे, प्रवाहित नदियाँ, चंचल

---

1 महानवम्यां निखिलास्त्रपूजा नीराजना वाजिभटद्विपानाम्। दीपालिकायां विविधा विलासा यात्रोन्मुखैरत्र नृपैर्विधेया॥------- बुध्यते च सह माधवः सुरैः॥ (काव्यमीमांसा - अष्टादश अध्याय)

2. सर्वेन्द्रियस्वस्थतया प्रसन्नवदनस्तथा विचित्रभूतलालोकैः शरदन्तु विनिर्दिशेत्। 28।

(नाट्यशास्त्र - पञ्चविंश अध्याय)

उछलने वाली सुन्दर मछलियाँ, विस्तृत बालुकामय तट प्रान्त (3/3), श्वेत बादलों से युक्त आकाश (3/4), बन्धूक पुष्पों से लालिमायुक्त पृथ्वी (3/5), पुष्पित कोविदार (3/6), तारागण से सुशोभित, निर्मल चाँदनी वाली वृद्धि को प्राप्त होती हुई रात्रि (3/7), नयनानन्दकारी, मनोहर रश्मिवाला, शीतलता प्रदान करने वाला चन्द्रमा (3/9) शेफालिका पुष्पों की सुगन्धि से मनोहर उपवन (3/14), चंचल छोटी-छोटी लहरें (3/18), नीलकमलों का विकास (3/19) पुष्पों के सम्पर्क से सुगन्धित शीतल हवा, कलुषता रहित स्वच्छ जल, पङ्करहित पृथ्वी (3/22) — 'ऋतुसंहार' में वर्णित यह प्राकृतिक दृश्य शरद् ऋतु का मनोहारी स्वरूप उपस्थित करते हैं।

'काव्यमीमांसा' में वर्णित हेमन्त ऋतु

वृक्षजगत् का परिवर्तन :-

मुचुकुन्द के वृक्षों में दो तीन कलियाँ , लवली के वृक्षों में तीन चार कलियाँ, तथा प्रियङ्गुलता में पाँच छह फूलों का उद्‌गम। नागकेसर तथा लोध्र में पुष्प प्रसव। गाँवों की सीमाओं में गेहूँ और जौ के लहलहाते खेत। खेतों में मटर, उरद, मूँग आदि छीमी वाले धान्य। हल्दी और नमक का पकना। बेर, नारंगी आदि फलों का पकना प्रारम्भ हो जाता है, उनमें मिठास उत्पन्न होती है। काले, मोटे उखों के रस में अद्‌भुत एवम् अपूर्व मधुरता का आविर्भाव हो जाता है।

पशुपक्षियों की गतिविधियाँ :-

मयूर मदरहित हो जाते हैं। उनके पंख झड़ जाते हैं। उद्यानों में कोयलें मूक हो जाती हैं। भृङ्गरमणियों के मुख में भी मौनमुद्रा। आकाश यात्रा में पक्षियों का उत्साह क्षीण हो जाता है। सर्पों का भी दर्पक्षय हो जाता है। बाघिन बच्चों का प्रसव करती है।

हेमन्त ऋतु के अन्य वैशिष्ट्य :-

वायु हिमकणों को बिखेरकर शीत बढ़ाती है। कुछ भी पेयवस्तु और भोजन आकर्षक और स्वादु हो जाता है। वायुकारक गरिष्ठ पदार्थ भी सुपच और स्वास्थ्यकारक होते हैं। वनशूकरों के माँस में

बने नए चावल, सघन मलाई वाला दही और सरसों के कोमल डंठलों वाला साग भी सुपच होता है। वैद्य की आवश्यकता नहीं पड़ती। स्नान के लिए गुनगुना जल अच्छा लगता है। प्रात: काल सभी ओर पानी से उठता हुआ वाष्प दीख पड़ता है। घरों के भीतरी शयनकक्षों में गद्दे आदि आवश्यक साधनों से सजे पलङ्ग तथा धूमरहित अंगारों से भरी अंगीठियाँ आदि उपलब्ध हों तभी हेमन्त ऋतु भी ग्रीष्म का शेष भाग प्रतीत होने लगती है अर्थात् रुचिकर प्रतीत होती है।

भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में हेमन्त ऋतु का गात्रसंकोचन, सूर्यसेवन, सिर, दन्त, ओष्ठ के कम्पन, कूजित, शीत्कार आदि के द्वारा प्रदर्शन का निर्देश दिया गया है।[1]

'ऋतुसंहार' में वर्णित हेमन्त ऋतु :-

लोध्रपुष्पों का विकास, धान का पकना। कमल विलीन हो जाते हैं। पाला गिरता है। (4/1), ग्राम की सीमा के भाग प्रचुर धानराशि से परिपूर्ण, हरिणियों के झुण्डों से सुशोभित तथा सुन्दर क्रौञ्च पक्षियों की मधुर ध्वनि से गुञ्जायमान होते हैं (4/8), सुशीतल तालाब, सरोवर खिले हुए नीलकमलों से सुशोभित, मदोन्मत्त कादम्ब नामक हंसजातीय पक्षिविशेष से विभूषित, स्वच्छ जलवाले होते हैं (4/9), प्रियङ्गु लता पकने की स्थिति में पहुँचकर पाण्डु वर्ण की हो जाती है (4/10), यह महाकवि कालिदास द्वारा 'ऋतुसंहार' के चतुर्थ सर्ग में वर्णित सुन्दर, शीतल हेमन्त ऋतु है।

'काव्यमीमांसा' में वर्णित शिशिर ऋतु :-

यद्यपि शिशिर ऋतु के अधिकांश वर्णनीय विषय हेमन्त ऋतु के समान ही हैं,[2] फिर भी इस ऋतु की कुछ अन्य विशेषताओं का आचार्य राजशेखर ने काव्यमीमांसा में उल्लेख किया है।

---

1 गात्रसंकोचनाच्चापि सूर्याभिपटुसेवनात् हेमन्तस्त्वभिनेतव्य: पुरुषैर्मध्यमाधमै:। 29। शिरोदन्तोष्ठकम्पेन गात्रसंकोचनेन च। कूजितैश्च सशीत्कारैराधमश्शीतमादिशेत्। 30। अवस्थान्तरमासाद्य कदाचित्तूत्तमैरपि। शीताभिनयनं कुर्याद्दैवाद्व्यसनसंभवम्। 31। नाट्यशास्त्र (पञ्चविंश अध्याय)

2. 'हेमन्तधर्मा शिशिर:' (काव्यमीमांसा - अष्टादश अध्याय)

वृक्षजगत् में परिवर्तन :-

मरुबक में फूल खिलते हैं। सभी पुष्पवृक्षों की अपेक्षा कुन्द में पुष्पों की अधिकता दृष्टिगत होती है। सरसों के पौधों के घने ओर तीखे बाल पककर झड़ने लगते हैं। दो तीन फूल उनमें लगे दीखते हैं। क्रमशः उगने के क्रम से पकते हुए पौधे भूरापन ग्रहण करते जा रहे हैं। वापियों में कमल बेल की सूखी डण्डियाँ ही दिखती हैं।

पशुपक्षियों की गतिविधियाँ :-

मछलियाँ वापी के तलभाग में छिप जाती हैं। हाथी मदोन्मत्त हो जाते हैं। हरिण सन्तुष्ट होकर विचरण करते हैं। शूकर पीन और पुष्ट हो जाते हैं। भैंसे मस्त रहते हैं।

शिशिर ऋतु के अन्य वैशिष्ट्य :-

शिशिर ऋतु की रात्रि लम्बी होती है। प्रचण्ड वायु से शीत उत्पन्न होता है। वापियों का जल उत्तरीय हिमवायु के प्रचण्ड प्रवाह से मानों काँपता रहता है। बर्फीली वायु दुष्ट व्यक्ति के सम्पर्क के समान दुःखद होती है।

ओढ़ने, बिछाने के लिए रूई भरे दोहरे वस्त्रों की आवश्यकता होती है। अगुरु के धूप-धूम से भवन और गर्भगृह गर्म किए जाते हैं। नए कण्डों की सधूम अग्नि अच्छी लगती है। शीत से बचने के लिए केसर, कस्तूरी का समुचित सेवन किया जाता है। चन्दन का लेप शरीर को दग्ध करता है। साधनहीन निर्धन इस ऋतु की निन्दा करते हैं। साधन सम्पन्न धनी लोग इसकी प्रशंसा करते हैं। पानी पीने में सरसता, नीरसता की प्रतीति नहीं होती। हिम और अग्नि के स्पर्श में शीतलता, उष्णता का भेद नहीं प्रतीत होता। सेवन करने में सूर्य और चन्द्र का भेद नहीं प्रतीत होता। सूर्य तेजहीन होता है तथा चन्द्रमा मलिन प्रतीत होता है।

भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में ऋतुसम्वन्धी पुष्पों को सूँघने के द्वारा तथा रूखी वायु के स्पर्श द्वारा

शिशिरकाल के प्रदर्शन का निर्देश दिया गया है।[1]

'ऋतुसंहार' में वर्णित शिशिर ऋतु :-

शिशिर ऋतु पके हुए धानों एवं गन्नों के समूह से मनोहारी तथा क्रौञ्च पक्षियों के कलरव से गुञ्जायमान होती है (5/1), बन्द खिड़की वाले घर का अन्दरवाला भाग, अग्नि, सूर्यदेव की किरणें धूप, मोटे कपड़े सेवन योग्य होते हैं (5/2), चन्द्रमा की किरणों के समान शीतल चन्दन तथा सघन बर्फ के समान शीतल पवन रुचिकर नहीं लगते (5/3), बर्फ के समूह के गिरने से शीतल तथा चन्द्रमा की किरणों के कारण अधिक शीतलतर रातें सेवन योग्य नहीं होतीं (5/4), गुड़निर्मित भोज्य पदार्थों की प्रधानता रहती है, स्वादिष्ट नए धान का भात और गन्ने का रस मधुर लगता है (5/16)।

शिशिर ऋतु का यह मनोहारी स्वरूप 'ऋतुसंहार' के पञ्चम सर्ग में वर्णित है।

'काव्यमीमांसा' में वर्णित बसन्त ऋतु

वृक्ष जगत् का परिवर्तन :-

यह बसन्तकाल आम की बौरों को उत्पन्न करने वाला है। कामदेव ऋतु के नवीन पुष्पों से धनुपदण्ड की रचना करता है। कनैल और कचनार के वृक्ष पुष्पों से लद जाते हैं। कोविदार विकसित तथा सिन्दुवार विकासोन्मुख होते हैं। रोहिड़ा, आमड़ा, किंकिरात, महुआ, केला, माधवीलता और सहजन के वृक्ष कलियों और पुष्पों से भरने लगते हैं, इसलिए यह वृक्ष केसरयुक्त हो जाते हैं। दमनक के वृक्षों का विकास होता है।

इस ऋतु में कुरबक, तिलक, अशोक और बकुल वृक्ष बिना दोहद के ही पुष्प प्रसव करने लगते हैं, जबकि कुरबक रमणी के आलिङ्गन से, तिलक वृक्ष उसकी चितवन से, अशोक वृक्ष पादाघात से और बकुल वृक्ष मद्यगण्डूष से विकसित होने की परम्परा है।

---

1 ऋतूजानां तु पुष्पाणां गन्धाघ्राणैस्तथैव च। रूक्षस्य वायोः स्पर्शाच्च शिशिरम् रूपयेद् बुधः। 32।

(नाट्यशास्त्र - पञ्चविंश अध्याय)

रक्त अशोक, नील अशोक और स्वर्ण अशोक अधिक विकसित होते हैं। सुपारी, नारियल, हिन्ताल, गुलाब, पलाश, खजूर, ताड़ और ताड़ीवृक्षों में बसन्त में ही पुष्पों की उत्पत्ति होती हैं।

पशु पक्षियों की गतिविधियाँ :-

सुग्गे, मैना, हारिल, पपीहा और भ्रमर—इन पक्षियों का मद बढ़ता है। बसन्त कोयलों की मदवृद्धि का कारण है। कोयलों की मीठी कूक सुनाई देती है। पुंस्कोकिल पञ्चम राग में कूकता है।

बसन्त ऋतु के अन्य वैशिष्ट्य :-

सौभाग्यवती ललनाएँ साज श्रृंगार में व्यस्त रहती हैं। माधवी लता के पुष्पों से केश गूँथती हैं। उनकी सिन्दूर सुशोभित माँग तथा कुसुम (चम्पई) रंग के वस्त्र मनोहारी प्रतीत होते हैं। स्त्रियों का मन हास-विलास, नृत्य-गान, झूला-हिंडोला, गौरी पूजा, कामदेव-पूजा आदि में अधिक लगता हैं। 'काव्यमीमांसा' के इस उल्लेख से प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज में बसन्त काल में गौरीपूजन, नवरात्र, मदनमहोत्सव आदि अनेक व्रत और उत्सव प्रचलित थे।

भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में आमोद-प्रमोद तथा अनेक प्रकार के पुष्पों के प्रदर्शन से बसन्त ऋतु के अभिनय का निर्देश दिया गया है।[1]

'ऋतुसंहार' में वर्णित बसन्त ऋतु :-

बसन्तयोद्धा विकसित, नूतन आम्रपल्लवरूपी बाणों वाला तथा भ्रमरपंक्तिरूपी सुन्दर धनुष की प्रत्यञ्चा धारण करता हुआ आ पहुँचा है (6/1), वृक्ष पुष्पों से युक्त हैं, जल कमल से सुशोभित है। पवन सुगन्धित है, रात सुखदायक तथा दिन मनोहारी है (6/2), इस ऋतु में वापी का जल, चन्द्रकिरणें तथा पुष्पों से युक्त आम के वृक्ष सौभाग्य प्राप्त करते हैं (6/3), कर्णिकार तथा नवमल्लिका के विकसित पुष्प (6/5), लोग मोटे वस्त्रों को छोड़कर लाक्षारस से रंगे, कृष्णचन्दन से सुरभित हल्के, महीन वस्त्र धारण

---

1 प्रमोदजननारम्भैरूपभोगैः पृथग्विधिः बसन्तस्त्वभिनेतव्यो नानापुष्पप्रदर्शनात्। 33।

(नाट्यशास्त्र - पञ्चविंश अध्याय)

करते हैं (6/13), आम के रस से पुंस्कोकिल तथा कमल के कारण गुञ्जायमान भ्रमर कामासक्त होते हैं (6/14), जड़ से लेकर मूंगे की लालिमा के समान ताम्रवर्ण पुष्पसमूह को धारण करते हुए नवपल्लवों से युक्त अशोकवृक्ष (6/16), उद्भिन्न कुरबक वृक्ष की मञ्जरियों की परम शोभा (6/18), पवन से आन्दोलित, पुष्पों से झुके पलाशवनों से व्याप्त यह पृथ्वी लाल वस्त्रों से आवेष्टित नववधू के समान है (6/19), बसन्त में हिमपात बन्द हो जाने से सुन्दर हवा पुष्पित (मञ्जरियों से युक्त) आम की डालियों को हिलाती हुई, कोयल की मधुर वाणी को दिशाओं में फैलाती हुई बहती है (6/22), कुन्द पुष्पों के कारण उपवन सुन्दर लगते हैं (6/23), यह बसन्त पुष्पित आम्रवृक्षों तथा कनैल के वृक्षों से रमणीय लगता है (6/27), सुन्दर पलाश जिसका धनुष है, भ्रमरों की पंक्ति ही प्रत्यञ्चा है, निष्कलङ्क चन्द्रमा श्वेत छत्र है, मलय पवन जिसका मदोन्मत्त हाथी है, कोकिल जिसके बन्दीगायक हैं, आम की सुन्दर मञ्जरी जिसके बाण हैं वही लोकविजयी कामदेव अपने मित्र बसन्त के साथ सर्वकल्याणकारी हो (6/28)—यह परमसुन्दर बसन्त वर्णन 'ऋतुसंहार' के षष्ठ सर्ग में महाकवि कालिदास द्वारा वर्णित है।

'काव्यमीमांसा' में वर्णित ग्रीष्म ऋतु

वृक्ष जगत् में परिवर्तन :-

नवमल्लिका के पुष्पों का विकास। शिरीष कुसुम खिलने लगते हैं। काञ्चन और केतकी में पुष्पप्रसव। धाय के पुष्पों का विकास। खजूर, जामुन, कटहल, आम, केला, चिरौंजी, सुपारी और नारियल से स्त्री पुरुषों का श्रम और आलस्य दूर होता है। चम्पा पुष्पों का विकास होता है, इनकी मालाएँ धारण की जाती हैं। कनेर और करील के वृक्षों का विकास होता है। मल्लिका कुसुमों का विकास होता है, इनकी गुलाबी माला धारण की जाती है।

पशुपक्षियों की गतिविधियाँ :-

हरिण मरुभूमि में मृगमरीचिकाओं से ठगे जाते हैं। जल सूख जाने से तडागों के जलजन्तु तड़पते हुए से दीखते हैं। हाथियों के बच्चे, शरभ और गदहे मदोन्मत्त और विकारी हो जाते हैं, कनेर और

करील के वृक्षों वाली ऊँची भूमि पर चढ़कर बैठते हैं। जंगलों में झिल्ली के नाद सुनाई देते हैं। भैंसे, हाथी तथा सुअर के बच्चे कीचड़ से सने दीखते हैं। सर्प और मृग जीभों को लपलपाते हुए देखे जाते हैं और पक्षियों के पक्षमूल शिथिल हो जाते हैं।

ग्रीष्म ऋतु के अन्य वैशिष्ट्य :-

ग्रीष्म ऋतु में प्राणी मानों पकाए जाते हैं। धूल तपाई जाती है। पानी मानो उबाला जाता है, पर्वत गरम किए जाते हैं। जल के स्त्रोत और कुएँ सूख जाते हैं। नदियों का जल वेणी जैसा स्वल्प हो जाता है। जल के बहुत नीचे हो जाने से कुएँ में रहट लगाए जाते हैं। जलते मध्याह्न के समय पनशालाओं पर पथिकों की भीड़ लगती है। सतुआ घोलकर पीना रुचिकर लगता है। लोग दोपहर में झोपड़ों में अर्ध निद्रामग्न रहते हैं।

ग्रीष्मकाल की सेवनीय वस्तुएँ हैं — शरीर पर कर्पूरधूलिका का घर्षण, आम का पना, भिगोई सुपारी से बना पान, आम के मधुर रस में पगी रसाला, पानी से गीता भात। भिन्न-भिन्न फलों का रस, हरिण एवं लवा के माँस का शोरबा, औटाया हुआ दूध। चन्दन के लेप से गीली मालाएँ, ताजे और गीले मृणाल के हार, चम्पा पुष्पों की मालाएँ।

सायंकाल स्नान-क्रीड़ा, महीन कपड़े, चाँदनी से धुली प्रासादों की ऊँची छतें। चन्दन के लेप के समान हृदयहारिणी स्वच्छ चाँदनी का आनन्द, झरोखों या खिड़कियों से आते हुए वायु के झकोरे, पंखों के झलने से बरसते शीतल जलबिन्दु ग्रीष्म के सन्तापहारक हैं।

'नाट्यशास्त्र' में पसीना पोंछना, भूमि के ताप, पंखा झलना, उष्ण वायु के स्पर्श आदि के द्वारा ग्रीष्म ऋतु को अभिनीत करने का निर्देश दिया गया है।[1]

---

1. स्वेदप्रमार्जनैश्चैव भूमितापैः सवीजनैः। उष्णस्य वायोः स्पर्शेन ग्रीष्मं त्वभिनयेद् बुधः। 34।

(नाट्यशास्त्र - पञ्चविंश अध्याय)

'ऋतुसंहार' में वर्णित ग्रीष्म ऋतु :-

ग्रीष्म ऋतु में सूर्यदेव प्रचण्ड रूप धारण करते हैं। चन्द्रमा प्रिय लगता है। निरन्तर स्नानादि क्रिया से जलाशयों का जल भण्डार सूख जाता है। दिवस का अवसान तथा सांयकाल सुहावना लगता है (1/1), उज्जवल शीतल चाँदनी रात, फव्वारेदार सुरम्य शीतभवन, चन्द्रकान्तमणि और सरस चन्दन ग्रीष्म ऋतु में लोगों द्वारा सेवन करने योग्य होते हैं (1/2), प्रसुप्तकामभाव चन्दन के जल से संसिक्त पंखे से उत्पन्न हवाओं से मानो जगाया जाता है (1/8), असहनीय वायु के द्वारा उड़ाई गई धूल वाली पृथ्वी प्रचण्ड सूर्य के आतप से सन्तापित होती है (1/10), भीषण ताप से सन्तप्त और अत्यधिक प्यास से शुष्क तालु वाले हरिण पीसे हुए अञ्जन के समान नीलवर्ण के आकाश को देखकर 'दूसरे वन में जल है' ऐसा समझकर दौड़ पड़ते हैं (1/11), सूर्य की किरणो ं से अत्यधिक सन्तापित बार-बार फुँफकारता हुआ सर्प मोरपंखों की छाया के नीचे निवास करता है (1/13), धधकती आग की ज्वाला के समान अत्यन्त तीक्ष्ण सूर्य की किरणों से क्लान्त शरीर वाले मयूर अपने पंखों की छाया में मुँह प्रविष्ट कर बैठे हुए साँपों को नहीं मारते (1/16), उत्कट प्यास के मारे, पराक्रम का उद्योग नष्ट कर बार-बार हाँफता हुआ दूर तक मुँह बाए हुए सिंह हाथियों को नहीं मारता (1/14), सूर्य की प्रखर किरणों से सन्तापित, नितान्त शुष्क कण्ठ से जल ग्रहण करने वाले, विकट प्यास से व्याकुल पानी पीने वाले हाथी सिंह से भी नहीं डरते (1/15), नागरमोथों से संयुक्त शुष्क पङ्क वाले तालाब को अपने विस्तृत थूथनों से उखाड़ता हुआ शूकरों का समूह सूर्य की तीक्ष्ण किरणों से सन्तापित होकर मानो पृथ्वीतल में प्रवेश सा कर रहा है (1/17), प्रचण्ड सूर्य के द्वारा सन्तापित मेढक पङ्कमय पानी वाले सरोवरों से उछलकर प्यासे सर्प के फण रूपी छाते के नीचे विश्राम करते हैं (1/18), चंचल लपलपाती दोनों जिह्वाओं से पवनपान करता हुआ सर्प अपने विषरूपी अग्नि और सूर्य के ताप से सन्तापित और प्यास से व्याकुल होकर मेढकों के समूह को नहीं मारता (1/20), परस्पर उत्पीड़न में संलग्न हाथियों द्वारा सरोवर से समस्त मृणालसमूह समुन्मूलित कर दिया गया है। मछलियाँ विपन्न और संत्रस्त कर दी गई हैं। सारसपक्षी भय से भगा दिए गए हैं।तालाब घनघोर मर्दन से कीचड़मय कर दिया गया है (1/19), फेनयुक्त चञ्चल, विस्फारित मुख

वाले, लाल-लाल जीभ निकाले हुए, ऊपर की ओर मुँह उठाए हुए प्यास से व्याकुल भैंसों का झुण्ड जल को देखते हुए पर्वत की गुफा से निकल पड़ा है (1/21), भीषण वन की अग्नि से सूखे सस्याङ्कुर वाले, प्रचण्ड प्रभञ्जन के वेग से उड़ाए गए सूखे पत्तों वाले, सूर्य के प्रखर ताप से क्षीण जलवाले वन के प्रान्तभाग चारों ओर भीषण भयोत्पादक दिख रहे हैं (1/22), जीर्ण शीर्ण पत्तों से युक्त वृक्षों पर विराजमान विहगवृन्द बेहाल होकर साँस ले रहे हैं, म्लानमुख वानरों के समूह तापशमन के लिए पर्वत के कुञ्जों में जा रहे हैं, गवय मृग जाति का झुण्ड जल की इच्छा से सब ओर घूम रहा है, शरभों का समूह सीधे से कूप से जल पी रहा है (1/23), जंगल की आग वायु से उत्तेजित होकर पर्वतों की कन्दराओं में प्रज्ज्वलित होती है (1/25), सेमर के जंगलों में अग्नि मानों पुञ्जीभूत हो गई है (1/26) यह ग्रीष्मऋतु का सुन्दर, विस्तृत वर्णन महाकवि कालिदास के 'ऋतुसंहार' के प्रथम सर्ग में मिलता है।

संस्कृत काव्यजगत् में महाकवियों के काव्य ऋतुवर्णन के प्रसङ्गों से भरे पड़े हैं, किन्तु उन सभी का विवेचन विस्तारभय के कारण सम्भव नहीं है। आचार्य राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में नवीन कवियों के लिए विभिन्न ऋतुओं के वर्ण्यविषयों को प्रस्तुत करते हुए कवियों का महान् उपकार किया था, यद्यपि उन्होंने 'ऋतुसंहार' के श्लोकों को उद्धृत नहीं किया है किन्तु एक ही काव्यग्रन्थ म एक स्थान पर सभी ऋतुओं का सुन्दर, मनोहारी संकलन करता हुआ महाकवि कालिदास का 'ऋतुसंहार' नामक ग्रन्थ किसी भी ऋतुवर्णन के प्रसंङ्ग में विस्मृत नहीं किया जा सकता। कवियों के लिए प्रस्तुत 'काव्यमीमांसा' हो अथवा सहृदयों के लिए प्रस्तुत 'ऋतुसंहार' ऋतुओं के वर्ण्य विषय हम सभी को प्रकृति के सुन्दर मनोहारी स्वरूप का दर्शन कराते हैं। ऋतुओं के वर्ण्य विषय 'काव्यमीमांसा' के काल विभाग नामक अष्टादश अध्याय में प्राप्त होते हैं उसमें ऋतुओं का क्रम कौटिल्य के अर्थशास्त्र के समान ही है—वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर, बसन्त और ग्रीष्म। 'ऋतुसंहार' में सर्वप्रथम ग्रीष्म ऋतु का वर्णन है तत्पश्चात् वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर और बसन्त का। अनावश्यक विस्तार की निवृत्ति हेतु 'काव्यमीमांसा' तथा 'ऋतुसंहार' के ऋतु वर्णन सम्बन्धी श्लोक उद्धृत नहीं किए गए हैं।

ऋतु की अवस्थाएँ :-

आचार्य राजशेखर ने ऋतुओं से सम्बद्ध मौलिक विषय के रूप में प्रत्येक ऋतु की चार अवस्थाओं का वर्णन किया है—(क) ऋतु सन्धि, (ख) ऋतु शैशव, (ग) ऋतु प्रौढि, (घ) ऋतु अनुवृत्ति।

काल की गति को समझ पाना असंभव सा है। यद्यपि संवत्सर का विभाजन छह ऋतुओं के रूप में होता है, किन्तु समीप उपस्थित दो ऋतुओं का काल स्पष्टतः विभाजित नहीं किया जा सकता। अतः बीती हुई ऋतु तथा आने वाली ऋतु के मध्यकाल का काव्यमीमांसा में ऋतु सन्धि के रूप में उल्लेख है। इस सन्धि काल के पश्चात् ऋतु अपनी शैशवावस्था में उपस्थित होती है, जब उस ऋतु की विशेषताएँ लोगों को दृष्टिगत तो होने लगती हैं, किन्तु उनकी पूर्ण परिपक्वता की स्थिति नहीं होती। ऋतु की यह अवस्था 'ऋतु शैशव' कहलाती है। जब ऋतु के सभी चिह्न स्पष्टतः पूर्ण मनोहारी रूप में दिखते हैं तब ऋतु की प्रौढ़ता की अवस्था को आचार्य राजशेखर ने 'ऋतु प्रौढ़ि' नाम दिया है। ऋतु अनुवृत्ति की अवस्था तब उपस्थित होती है जब विगत ऋतु के चिह्न स्वरूप कुसुम आदि वर्तमान ऋतु में दिखाई देते हैं। ऋतुओं की अवस्थाओं के ऋतु अनुवृत्ति स्वरूप को काव्य संसार से जानना चाहिए। यह ऋतु अनुवृत्ति स्पष्टतः हेमन्त और शिशिर ऋतु में परिलक्षित होती है क्योंकि हेमन्त और शिशिर वस्तुतः एक ही हैं। हेमन्त की सभी विषयवस्तु शिशिर ऋतु में भी वर्णित की जा सकती है।

आचार्य राजशेखर प्रत्येक ऋतु के वर्ण्य विषयों का तथा आने वाली ऋतु में उनके विषयों की अनुवृत्ति का विस्तृत उल्लेख करने के पश्चात् भी कवि की प्रतिभा के महत्व को पूर्णतः स्वीकार करते हैं। प्रत्येक ऋतु की पूर्णतः विवेचना संभव भी नहीं है।[1] देश भेद से पदार्थों में अन्तर अवश्यम्भावी है यथा शीत प्रधान देश तथा ग्रीष्म प्रधान देश और ऊँची-नीची भूमि में ऋतुओं का विकास भिन्न प्रकार का

---

1. चतुरवस्थश्च ऋतुरुपनिबन्धनीयः। तद्यथा - सन्धिः, शैशवं, प्रौढिः, अनुवृत्तिश्च। ऋतुद्वयमध्यं सन्धिः।----- अतिक्रान्तर्तुलिङ्गं यत्कुसुमाद्यनुवर्त्तते। लिङ्गानुवृत्तिं तामाहुः सा ज्ञेया काव्यलोकतः॥ ------- हेमन्तशिशिरयोरैक्ये सर्वलिङ्गानुवृत्तिरेव। उक्तञ्च। 'द्वादशमासः संवत्सर, पञ्चर्त्तवो हेमन्तशिशिरयोः समासेन'। ---------- ऋतुभववृत्त्यनुवृत्ती दिङ्मात्रेणाऽत्र गृचिते सन्तः। शेषं स्वधिया पश्यत नामग्राहं कियद् ब्रूमः॥

(काव्यमीमांसा - अष्टादश अध्याय)

हैं। ऐसी अवस्था में काव्यनिर्माता कवि की संशयात्मक स्थिति से रक्षा हेतु आचार्य राजशेखर ने महाकवियों के उल्लेखों को प्रमाण रूप में स्वीकार करने का निर्देश दिया है।[1]

आचार्य राजशेखर ने कवियों के लिए अन्य अनेक उपयोगी विषय भी काव्यमीमांसा में प्रस्तुत किए हैं। यथा विभिन्न ऋतुओं में उत्पन्न पुष्पों की उपयोगिता का कारण। काल निरीक्षण की सूक्ष्मता तथा मौलिकता को प्रकट करते हुए आचार्य ने वृक्षों में लगने वाले पुष्पों, फलों तथा लताओं में लगने वाले पुष्पों, फलों के समय के अन्तर को भी स्पष्ट किया है। फलों के प्रकारों का भी उनकी उपयोगिता की दृष्टि से 'काव्यमीमांसा' में सूक्ष्म निरीक्षण किया गया है।

पुष्पों की उपयोगिता :-

शोभा, अन्न, गन्ध, रस, फल और अर्चन यह कारण किसी भी पुष्प को उपयोगी बनाते हैं।[2] कवि को किसी भी ऋतु के पुष्पों का वर्णन करते समय उनके इन गुणों पर दृष्टि अवश्य रखनी चाहिए।

वृक्ष तथा लताओं के फूलों-फलों में समयान्तर :-

वृक्षों में लगने वाले पुष्पों, फलों का चार मास का क्रम होता है।

(क) प्रथम मास में पुष्पोद्गम,

(ख) द्वितीय मास में बालफल,

(ग) तृतीय मास में प्रौढ़ता

(घ) चतुर्थ मास में फल का पकना तथा परिष्कृत होना।

लताओं में लगने वाले फूलों और फलों की समयावधि अल्प होती है। लता के फूल, फल

---

1 देशेषु पदार्थानां व्यत्यासो दृश्यते स्वरूपस्य। तन्न तथा बध्नीयात्कविबद्धमिह प्रमाणं न:॥

(काव्यमीमांसा - अष्टादश अध्याय)

2 शोभान्धोगन्धरसैः फलार्चनाभ्यां च पुष्पमुपयोगि।
षोढा दर्शितमेतत्स्यात्सप्तममनुपयोगि॥ (काव्यमीमांसा - अष्टादश अध्याय)

केवल दो मास तक ही रहते हैं।[1] प्रकृति के एक-एक दृश्य का अत्यन्त सूक्ष्म निरीक्षण कर आचार्य राजशेखर ने अपने कविशिक्षक रूप को गौरवान्वित किया है। उनके इस विवेचन से प्रकृति वर्णन करने वाला कवि लताओं और वृक्षों के वर्णन में प्रमाद से दूर रह सकेगा। ऋतु वर्णन में लताओं तथा वृक्षों का वर्णन काव्य में सौन्दर्य की सृष्टि करता है, अत: कवि उनके वर्णन का लोभ-संवरण नहीं कर पाते।

फलों के प्रकार :-

विभिन्न ऋतुओं, उनके वृक्षों, लताओं, पुष्पों पर सूक्ष्म दृष्टि रखने वाले आचार्य राजशेखर ने प्रत्येक ऋतु के प्रत्येक फल का सम्यक् निरीक्षण कर उनके उपयोगी, अनुपयोगी अंशों की दृष्टि से फलों में परस्पर भेद का निर्धारण किया तथा छह प्रकार के फलों का 'काव्यमीमांसा' में उल्लेख किया —

(क) अन्तर्व्याज — बड़हर आदि।

(ख) बहिर्व्याज — केला आदि।

(ग) उभयव्याज — आम आदि।

(घ) सर्वव्याज — ककुभ आदि।

(ङ) बहुव्याज — कटहल आदि।

(च) निर्व्याज — नीलकैथ आदि।[2]

संसार को पुष्प, फल देने वाली प्रकृति में फूलों, फलों की विविधता सर्वत्र दिखती है। किसी

---

1 यत्प्राचि मासे कुसुमं निबद्धं तदुत्तरे बालफलं विधेयम्। तदग्रिमे प्रौढिधरं च कार्यं तदग्रिमे पाकपरिष्कृतं च॥ द्रुमोद्भवानां विधिरेष दृष्टो वल्लीफलानां च महाननेहा। तेषां द्विमासावधिरेव कार्य: पुष्पे फले पाकविधौ च काल:॥

(काव्यमीमांसा - अष्टादश अध्याय)

2 अन्तर्व्याजं बहिर्व्याजं बाह्यान्तर्व्याजमेव च। सर्वव्याजं बहुव्याजं निर्व्याजं च तथा फलम्॥ लकुचाद्यन्तर्व्याजं तथा बहिर्व्याजमत्र मोचादि। आम्राद्युभयव्याजं सर्वव्याजं च ककुभादि। पनसादि बहुव्याजं नीलकपित्थादि भवति निर्व्याजम्। सकलफलानां षोढा ज्ञातव्य: कविभिरिति भेद:॥ (काव्यमीमांसा - अष्टादश अध्याय)

फल का सम्पूर्ण अंश उपयोगी होता है, किसी का कुछ अंश। किसी फल का बाह्य भाग उपयोगी है तो किसी का आन्तरिक भाग। सूक्ष्मनिरीक्षणकर्ता आचार्य राजशेखर ने फलों में जो अंश अनुपयोगी होता है उसको फेंक दिया जाता है— इसी आधार पर फलों के छह प्रकारों का नामकरण किया है।

'काव्यमीमांसा' में काल विभाग करते हुए आचार्य राजशेखर ने सर्वाधिक महत्व ऋतुओं के वर्ण्य विषयों के प्रस्तुतीकरण को प्रदान किया, क्योंकि उनके अनुसार प्रबन्धनिर्माता कवि सरस काव्य के निबन्धन हेतु ऋतुवर्णन से अछूता नहीं रह सकता। अत: आचार्य राजशेखर ने कविशिक्षक का कर्तव्यनिर्वाह करते हुए अपने प्रबन्ध काव्य में एक दो, तीन या सभी ऋतुओं के विषय निबन्धन का कवि को निर्देश दिया है। ऋतु निबन्धन काव्यार्थ के अनुकूल ही होना चाहिए।[1] काव्यार्थ की दृष्टि से यदि उचित हो ऋतुओं का विपरीत क्रम से निबन्धन भी दोष नहीं होता। प्रबन्ध निर्माता कवि के लिए काव्यकथा सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। ऋतुवर्णन में भी कथा का आधार तिरस्कृत नहीं होना चाहिए। ऋतुवर्णन सर्वथा प्रासङ्गिक ही होना चाहिए। यह सभी ऋतुवर्णन सम्बन्धी अनुपम निर्देश 'काव्यमीमांसा' के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिलते।

---

1. एकद्वित्र्यादिभेदेन सामस्त्येनाथवा ऋतून्। प्रबन्धेषु निबध्नीयात्क्रमेण व्युत्क्रमेण वा॥ न च व्युत्क्रमदोषोऽस्ति कवेरर्थपथस्पृश: तथा कथा कापि भवेद् व्युत्क्रमो भूषणं यथा।

(काव्यमीमांसा - अष्टादश अध्याय)

अष्टम अध्याय

उपसंहार

काव्यशास्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष से अलग हटकर अभ्यासी कवि को कविता बनाने की कला सिखाने वाले काव्यशास्त्र के व्यावहारिक पक्ष की प्रस्तुति सर्वप्रथम आचार्य राजशेखर द्वारा 'काव्यमीमांसा' में की गई। इसी कारण अभ्यासी कवियों के परम ज्ञानाधार, अनुकरणीय ग्रन्थ के विविध विषयों के अनुपम स्वरूप से अधिकांश परवर्ती आचार्य प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। कुछ परवर्ती आचार्यों पर यह प्रभाव आंशिक ही रहा, किन्तु कुछ परवर्ती काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ पूर्णत: काव्यमीमांसा पर आधारित रहे। ऐसे अनेक ग्रन्थों को काव्यशास्त्र के इतिहास के अन्तर्गत केवल अपने नामाङ्कन से ही संतोष करना पड़ा, विषयों की मौलिकता के संदर्भ में उनका कोई विशिष्ट योगदान न हो सका।

आचार्य राजशेखर द्वारा स्वीकृत शब्द, अर्थ के यथावत् सहभाव रूप साहित्य का परिपूर्ण स्वरूप परवर्ती आचार्य कुन्तक की परिभाषा में स्पष्ट हुआ। आचार्य राजशेखर द्वारा स्वीकृत उत्कृष्ट काव्य के सभी वैशिष्ट्य-मार्गों की अनुकूलता से सुन्दर, गुणों की उत्कृष्टता से युक्त, अलङ्कारविन्यास तथा वृत्ति के औचित्य से मनोहारी रसपरिपोष सहित शब्दार्थ सम्बन्ध ही साहित्य रूप में आचार्य कुन्तक द्वारा स्वीकृत हुए। यही आचार्य राजशेखर का चरम विकसित काव्य है।

काव्य हेतुओं के संदर्भ में अनेक मौलिक उद्भावनाएँ 'काव्यमीमांसा' के वैशिष्ट्य हैं। शक्ति तथा प्रतिभा का पृथक् स्वरूप, उनका कारण कार्यभाव सर्वप्रथम 'काव्यमीमांसा' में ही विवेचित है। काव्यार्थ की प्राप्ति से सम्बद्ध व्युत्पत्ति का 'काव्यमीमांसा' में व्यापक स्वरूप वर्णित है। चार मौलिक काव्यार्थ स्त्रोतों की उद्भावना भी नवीन विषय है, किन्तु सरसता का सम्बन्ध आचार्य राजशेखर द्वारा कविवचनों से ही सिद्ध किया गया, काव्यार्थों से नहीं। शिक्षार्थी कवि के बौद्धिक विकास पर अत्यधिक बल देने वाले आचार्य राजशेखर से प्रभावित होकर आचार्य क्षेमेन्द्र तथा विनयचन्द्र ने भी अपने ग्रन्थों में कवि के बौद्धिक विकास में सहायक विभिन्न विषयों का कवि की परिचेय वस्तुओं के संदर्भ में

उल्लेख किया। कुछ विशिष्ट विषयों की काव्य के जीवनस्त्रोतों (काव्यमाताओं) के रूप में स्वीकृति तथा व्युत्पत्ति के स्वरूप में औचित्य के महत्व की अभिवृद्धि सर्वप्रथम आचार्य राजशेखर द्वारा की गई। परवर्ती आचार्य क्षेमेन्द्र ने व्युत्पत्ति के औचित्यपरक स्वरूप से प्रभावित होकर औचित्य को ही रससिद्ध काव्य का जीवन स्वीकार किया।

'काव्यमीमांसा' में काव्यहेतु अभ्यास की काव्य के जीवन स्त्रोतों के अन्तर्गत स्वीकृति उसके महत्व के अभिवर्धन में परम सहायक है। अभ्यास के उपायों का कवि के समक्ष प्रस्तुतीकरण मौलिक विषय तो है ही, आचार्य राजशेखर द्वारा विवेचित कवि की अवस्थाएँ कवि के विकास की क्रमिक स्थिति को भी स्पष्ट करती हैं। 'काव्यमीमांसा' से प्रभावित होकर आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी शिष्य की अवस्था से कवि बनने तक का विकासक्रम 'कविकण्ठाभरण' में प्रस्तुत किया। अभ्यास के उपायों का विवेचन भी क्षेमेन्द्र द्वारा 'कविकण्ठाभरण' में तथा वाग्भट द्वारा 'वाग्भटालङ्कार' में किया गया। विभिन्न कवियों के लिए विभिन्न प्रकार के अभ्यास की आचार्य राजशेखर की स्वीकृति से आचार्य कुन्तक तथा आचार्य क्षेमेन्द्र भी प्रभावित हुए। आचार्य कुन्तक ने विभिन्न कवियों के स्वभावानुसार उनके काव्याभ्यास के वैविध्य को स्वीकार किया।

'काव्यमीमांसा' में निरन्तर अभ्यास के परिणामस्वरूप उत्पन्न काव्यपरिपक्वता की क्रमिक स्थितियाँ 'काव्यपाक' शब्द से अभिहित हैं। शब्द और अर्थ के विशिष्ट साहित्य से उत्कृष्ट काव्य निर्मित होता है। आचार्य राजशेखर ने काव्यनिर्माण की परिपक्वता तक पहुँचाने वाले शब्दपाक तथा अर्थपाक की विशद विवेचना की है और काव्य के दो पक्ष स्वीकार किए हैं—सौशब्द्य तथा रसनिर्वाह। परवर्ती आचार्य महिमभट्ट का रसप्रतीति की प्रधानता मानने वाला एक मत 'काव्यमीमांसा' में उल्लिखित पाक का सम्बन्ध रस से मानने वाले अवन्तिसुन्दरी के मत से समानता रखता है। आचार्य राजशेखर के परवर्ती आचार्यों में महिमभट्ट, भोजराज, विद्याधर, पण्डितराज जगन्नाथ तथा केशवमिश्र के द्वारा भी काव्यपाक का उल्लेख किया गया। आचार्य राजशेखर द्वारा रस काव्यात्मा रूप में स्वीकृत था। परवर्ती आचार्य महिमभट्ट ने रसाभिव्यक्तिपरक कविव्यापार को काव्यसंज्ञा दी तथा आचार्य विश्वनाथ ने भी रसयुक्त वाक्य को काव्यलक्षण रूप में प्रस्तुत किया।

आचार्य राजशेखर का विभिन्न कल्पनाओं के अलौकिक स्फुरण से युक्त, सहृदयों को रस मे ओतप्रोत करने वाला सर्वश्रेष्ठ कवि ही परवर्तीकाल में आचार्य मम्मट का लोकोत्तरवर्णनानिपु कवि बना। महिमभट्ट, विश्वेश्वर आदि आचार्यों ने इसी अनुकरण पर रसाविनाभूत अलौकिक विशिष्ट गुम्फ को कविकर्म स्वीकार किया। आचार्य राजशेखर के श्रेष्ठ कवि की सर्वगुणसम्पन्नता उनकी 'काव्यमीमांसा' द्वारा प्रकट होती है। परवर्ती आचार्य विनयचन्द्र ने भी कवि की सर्वगुणसम्पन्नता को स्वीकार किया तथा उसके काव्यविद्या से सम्बन्द्ध विषयों में सर्वज्ञ होने का उल्लेख अपने 'काव्यशिक्षा' नामक ग्रन्थ में किया। कवि के व्यक्तिगत जीवन से उसका काव्यनिर्माण अवश्य प्रभावित होता है। इसी कारण कवि के अन्तर्मन तथा बाह्य परिवेश को पूर्णत: सुन्दर बनाने के लिए विभिन्न कविसम्बद्ध विषय 'काव्यमीमांसा' में वर्णित हैं। स्वभाव को सात्विक बनाने से सम्बद्ध अनेक निर्देश इसी प्रकार के हैं। आचार्य राजशेखर की यह स्वीकृति कि—'कवि के स्वभाव से उसका काव्य अवश्य प्रभावित होता है' आचार्य कुन्तक के विविध मार्गों को उनका आधार प्रदान करती है। यह विविध मार्ग कविस्वभाव पर आधारित सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम मार्ग हैं। आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी स्वभाव की सात्विकता को बौद्धिक विकास के आन्तरिक सहायक साधन के रूप में स्वीकार किया। कवियों के काव्यरचनाकाल के आधार पर प्रस्तुत कविविभाग, कवि की दिनचर्या में काव्यरचनासम्बन्धी कार्यनिर्धारण तथा कवि के स्वास्थ्य की उत्तमता हेतु प्रस्तुत निर्देश 'काव्यमीमांसा' में ही सर्वप्रथम परिलक्षित हुए। कवि के लिए दैनिक कार्यों से सम्बद्ध तथा उत्तम स्वास्थ्य हेतु निर्देश परवर्ती आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा 'कविकण्ठाभरण' में प्रस्तुत किए गए। भावक तथा उसकी प्रतिभा का महत्व काव्यजगत् में सर्वमान्य तो है, किन्तु काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ में इन दोनों को विशिष्ट स्थान आचार्य राजशेखर ने प्रदान किया।

'काव्यमीमांसा' में अशास्त्रीय, अलौकिक, परम्परायात अर्थ के रूप में उल्लिखित कविसमय का प्रभाव भी कुछ परवर्ती आचार्यो के ग्रन्थों में परिलक्षित हुआ। आचार्य मम्मट, वाग्भट आदि ने कविसमय सिद्ध अर्थ से विरुद्ध वर्णन को दोषरूप में स्वीकार किया तो कविसमयानुकूल वर्णन आचार्य विश्वनाथ का ख्यातविरुद्धता गुण बना। आचार्य हेमचन्द्र, देवेश्वर, अमरसिंह, अरिसिंह तथा विनयचन्द्र

'काव्यमीमांसा' के कविसमयविवेचन से पूर्णत: प्रभावित रहे। केशवमिश्र, वाग्भट तथा विश्वनाथ ने भी कविसमयविवेचन को अपने ग्रन्थों में स्थान दिया। यद्यपि इन आचार्यो का विवेचन आचार्य राजशेखर के विवेचन से कुछ अंशों में पृथक् रहा। केशवमिश्र तथा विश्वनाथ ने राजशेखर के कविसमयों के अतिरिक्त देशादि की संख्या, ऋतुओं के वर्ण्यविषयों तथा वृक्षदोहद का भी कविसमय में अन्तर्भाव किया। वाग्भट ने तो कविसमय के अन्तर्गत देशादि की संख्या का ही विवेचन किया।

दूसरों की काव्यरचना का किसी भी रूप में आधारग्रहण काव्यहरण है, जिसकी महत्ता काव्यहेतु अभ्यास के संदर्भ में स्वीकृत है। काव्यहरण को काव्यशास्त्रीय विषयों में अन्तर्निहित कर विवेच्य बनाने का श्रेय सर्वप्रथम आचार्य राजशेखर को ही है। अनेक परवर्ती आचार्यों ने तो पूर्णत: उसी रूप में इस काव्यहरण क्रिया का उपजीवन नाम से अपने ग्रन्थों में वर्णन किया। आचार्य राजशेखर का अनुसरण कर हेमचन्द्र, वाग्भट, क्षेमेन्द्र, भोजराज, विनयचन्द्र, पण्डितराज जगन्नाथ आदि के ग्रन्थों में भी इस विषय की विवेचना हुई, किन्तु राजशेखर के विवेचन का स्वरूप परिपूर्ण तथा सुनियोजित था, अत: परवर्ती आचार्यों के ग्रन्थों का इस विषय से सम्बद्ध विवेचन नवीन विचारों की प्रस्तुति नहीं कर सका। आचार्य कुन्तक का विचित्रमार्गी कवि अनूतन शब्दों, अर्थों का उक्तिवैचित्र्य से नवीन रूप में उल्लेख करता है। आचार्य हेमचन्द्र का उपजीवन पूर्णत: आचार्य राजशेखर के विवेचन पर आधारित है। क्षेमेन्द्र के उपजीवन का सम्बन्ध भी अभ्यासी कवि से है। परवर्ती आचार्यों में हेमचन्द्र, वाग्भट, भोजराज, क्षेमेन्द्र, विनयचन्द्र आदि आचार्यों ने दूसरों के पदग्रहण, पादग्रहण, उक्तिग्रहण आदि के द्वारा कवि का रचनाकार्य में प्रवेश होना स्वीकार किया है। पण्डितराज का समाधिगुण अर्थोपजीवन तथा अर्थमौलिकता पर आधारित है। विश्वेश्वर की 'साहित्यमीमांसा' में वर्णित उक्तिभेद—छायोक्ति तथा घटितोक्ति का सम्बन्ध हरण से ही है। विनयचन्द्र ने भी अभ्यासहेतु काव्यार्थचर्वण तथा परसूक्तग्रहण को महत्वपूर्ण माना। यह सभी आचार्य उपजीवन को स्वीकार करके भी आचार्य राजशेखर के ही समान श्रेष्ठकाव्य का सम्बन्ध मौलिकता से ही मानते थे।

कवि के लिए देशकालविवेचन को व्यवस्थाबद्ध स्वरूप प्रदान करते हुए आचार्य राजशेखर ने

परवर्ती आचार्यों को नई दिशा दी, किन्तु इस विवेचन को आगे बढ़ाने का प्रयत्न करने वाले परवर्ती आचार्यों का विषयनिरूपण पूर्णत: 'काव्यमीमांसा' पर ही आधारित रहा। हेमचन्द्र ने तो 'काव्यानुशासन' में आचार्य राजशेखर द्वारा प्रस्तुत देशकालविवेचन का पूर्णत: अनुकरण किया। विनयचन्द्र का देशवर्णन तथा ऋतुवर्णन, देवेश्वर तथा केशवमिश्र के ऋतुवर्णन भी इसी प्रकार के हैं।

कवि को काव्यरचना का महान् कार्य सम्पन्न करने का सम्यक् निर्देश देने के पश्चात् आचार्य राजशेखर ने काव्य की सुरक्षा की आवश्यकता पर सर्वाधिक बल देते हुए कविजगत् में भावक तथा काव्यगोष्ठियों के महत्व को ऊँचाइयों तक पहुँचाया। उन्होंने काव्यगोष्ठियों की कार्यप्रणाली को नवीन विषय के रूप में अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया। परवर्ती काल में आचार्य भोजराज ने भी विदग्धगोष्ठी में प्रयुक्त प्रश्नोत्तर, प्रहेलिकादि का स्वरूप विवेचन किया। कवि तथा काव्यजगत् की समृद्धि हेतु 'राजचर्या' के अन्तर्गत राजा को भी अपने अमूल्य परामर्शों से लाभान्वित करना आचार्य राजशेखर नहीं भूले।

काव्यपाठ काव्य की समाज में प्रस्तुति का सशक्त माध्यम था। अत: काकु की विवेचना के साथ ही विभिन्न स्थानों की पाठप्रणाली के वैशिष्ट्य से अवगत कराती 'काव्यमीमांसा' कवि के लिए महत्वपूर्ण है। काव्यगुणों पर ही आधारित काव्यपाठ का निर्देश कवि को काव्यमीमांसा से प्राप्त है। काव्यपाठ के गुणदोष तो आज भी प्रासङ्गिक हैं।

काव्य को सत्य, कल्याणकारी विषयों का प्रस्तुतकर्ता कहकर आचार्य राजशेखर ने काव्य, काव्यविद्या तथा कवि की उपादेयता की अभिवृद्धि हेतु इन सभी का सत्य, शिव तथा सुन्दर से सम्बन्ध जोड़ा है। काव्य में अतिशयोक्तिपूर्ण असत्य वर्णन भी प्रसङ्गवश उपस्थित होकर कल्याणकारी ही होते हैं क्योंकि वह समाज के सम्मुख वस्तुस्थिति को स्पष्ट करते हैं, उसको व्यावहारिक शिक्षा देते हैं, और अन्तत: उचित मार्गदर्शन कर अनुचित पथगमन से रोकते हैं। वेदों, पुराणों तथा शास्त्रों में भी इस प्रकार के वर्णन अर्थवाद रूप में मिलते हैं, किन्तु यह सभी ग्रन्थ मानवकल्याण को ही परम प्राथमिकता प्रदान करते हैं। इस प्रकार के कल्याणकारी भावों के प्रस्तुतकर्ता सहृदयहृदयानन्ददायक काव्य का परम प्रयोजन

कवि की दृष्टि से भी परमानन्द तथा यश ही आचार्य राजशेखर द्वारा स्वीकार किया गया है। वे स्वयं कविरूप में कीर्तिकौमुदी से आलोकित, अतः आनन्दित थे। इसी कारण बालरामायण में उन्होंने कहा—फुल्ला कीर्तिर्भमति सुकवेर्दिक्षु यायावरस्य—प्र०अं०, श्लोक-6। आचार्य राजशेखर के कविगण काव्यमय शरीर से मर्त्यलोक में तथा दिव्यशरीर से स्वर्गलोक में प्रलय पर्यन्त निवास करते हुए परमानन्द को प्राप्त करते हैं—काव्यमयेन शरीरेण मर्त्यमधिवसन्तो दिव्येन देहेन कवय आकल्पं मोदन्ते (काव्यमीमांसा-तृतीय अध्याय) जब तक कवि के काव्य की भावकों द्वारा प्रसारित की गई यशचन्द्र की ज्योत्सना से दशों दिशाएँ प्रकाशमय न हों, तब तक कवि के काव्यनिर्माण की सार्थकता नहीं होती—काव्येन किं कवेस्तस्य तन्मनोमात्रवृत्तिना। नीयन्ते भावकैर्यस्य न निबन्धा दिशो दश॥ का०मी०, तृ० अ०। सरस्वती की कृपा से प्राप्त काव्य का निर्माता कवि महान् है तो उसका रसानुभव करते हुए परमानन्दित होकर काव्य की महिमा के प्रचारक सहृदय भावक भी तो कुछ कम नहीं है। इसी कारण आचार्य राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में कवि तथा भावक को सम्मान की पराकाष्ठा तक पहुँचाया। 'काव्यमीमांसा' ने कवि को काव्यनिर्माण के लिए अनुपम निर्देश दिए तो भावकों के लिए भी समस्त व्यक्तिगत दोषों से दूर रहकर केवल काव्य के रसानुभव से अपने हृदय को एकाकार करने के अतुलनीय परामर्श प्रस्तुत किए।

अतः आचार्य राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' कवि तथा भावक दोनों के लिए प्रस्तुत अतुलनीय, विलक्षण ग्रन्थ है। अपनी इस अनुपम कृति के निर्देश रूपी असंख्य प्रसूनों तथा उनके परागकणों से काव्यशास्त्रीय जगत् रूपी वाटिका के सुन्दर, सुरभित स्वरूप को हमारे दृष्टिपटल पर अङ्कित करने वाले आचार्य राजशेखर को सादर शतशः नमन।

परिशिष्ट

सन्दर्भ - ग्रन्थ - सूची

(1) **अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग,** अनुवादक —रामलालवर्मा, शास्त्री

(2) **अमरकोश**—अमरसिंह

(3) **अलङ्कारशेखर**—केशव मिश्र सम्पादन—पाण्डुरङ्ग जवाजी

(4) **अभिनव भारती**—अभिनवगुप्त सम्पादन—एम० रामकृष्ण कवि

(5) **अत्रिसंहिता (स्मृतिसमुच्चय में सङ्गृहित)**

(6) **अर्थशास्त्र - कौटिल्य (Part-I)** सम्पादन— वाचस्पति गैरोला

(7) **अष्टाध्यायी**—पाणिनि

(8) **अलङ्कारसर्वस्व**—रूय्यक

(9) **अलङ्कारकौस्तुभ**—विश्वेश्वर पण्डित

(10) **आचार्य क्षेमेन्द्र** सम्पादन— मनोहर लाल गौड़

(औचित्यविचारचर्चा, सुवृत्ततिलक, कविकण्ठाभरण का समीक्षा सहित अनुवाद)

(11) **आचार्य दण्डी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास दर्शन**— डा० जयशङ्कर त्रिपाठी

(12) **उदयसुन्दरीकथा**— सोड्ढल

(13) **उणादिसूत्रवृत्ति**— उज्जवलदत्त

(14) **उत्तरभारत का राजनीतिक इतिहास**— डा० वी०एन० पाठक

(15) **उक्तिव्यक्तिप्रकरण**— दामोदर

(16) **एकावली**— विद्याधर

(17) **ऐतरेयब्राह्मण**

(18) **औचित्यविचारचर्चा**— क्षेमेन्द्र

व्याख्याकार — आचार्य ब्रजमोहन झा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

(19) **काव्यमीमांसा**— राजशेखर

(क) बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, केदारनाथ शर्मा सारस्वत

(ख) गायकवाड़ ओरिएन्टल सीरीज — Vol. I, सी०डी० दलाल, आर०ए० शास्त्री

(ग) मधुसूदन मिश्रा - चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

(घ) डा० गङ्गासागर राय - हिन्दी व्याख्या सहित

(20) **कर्पूरमञ्जरी**— राजशेखर

सम्पादन—(क) रामकुमार आचार्य

(ख) एन० जी० सुरु

(21) **काव्यानुशासन**— हेमचन्द्र—Vol. I, सम्पादन—रसिकलाल सी० पारिख

(22) **काव्यालङ्कार**— भामह सम्पादन— सी० शङ्कर राम शास्त्री, बालमनोरमा प्रेस, मद्रास

(23) **काव्यालङ्कार**— रुद्रट, व्याख्याकार - रामदेवशुक्ल, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

(24) **काव्यादर्श**—दण्डी, सम्पादन—के० राय

(25) **काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति**— वामन, व्याख्याकार - आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, सम्पादन - डा० नगेन्द्र

(26) **काव्यशिक्षा**—विनयचन्द्रसूरि, सम्पादन—डा० हरी प्रसाद जी० शास्त्री

(27) **काव्यप्रकाश** —मम्मट, व्याख्याकार — विश्वेश्वर

(28) **कविकल्पलता (सटीक)**— देवेश्वर, सम्पादन— पण्डित शरत् चन्द्र शास्त्री

(29) **कुमारसम्भवम्**— कालिदास

(30) **किरातार्जुनीयम्**— भारवि

(31) **कामसूत्र**— वात्स्यायन, सम्पादन— देवदत्त शास्त्री

(32) **काव्यकलानिधि**— श्रीहर्ष

(33) **कालनिर्णय**— एम० माधवाचार्य

(34) **काव्यपरीक्षा**— वत्सलाञ्छन

(35) **काव्यपरिशुद्धि**— वासुदेवशास्त्री

(36) **कविरहस्य**— गोपालराव

(37) **काव्यशिक्षक ग्रन्थ**— साधोगिरि

(38) **काव्यालङ्कारसारसङग्रह**— भट्टोद्भट्ट

(39) **(क) काव्यकल्पलतावृत्ति**— अमरचन्द्र,

(ख) काव्यकल्पता—अरिसिंह

(40) **काव्यप्रकाशरहस्यम्**— सीता राम जोशी

(41) **काव्यानुशासन**— वाग्भट, सम्पादन— शिवदत्त

(42) **कविकण्ठाभरण**— क्षेमेन्द्र

(क्षेमेन्द्र - लघुकाव्यसङग्रह)

(43) **कविसमयमीमांसा**— विष्णु स्वरूप

(44) **काव्यशास्त्रीय निबन्ध— परम्परा तथा सिद्धान्तपक्ष**— डा० सत्यदेव चौधरी

(45) **तिलकमञ्जरी**— धनपाल

(46) **दशरूपक**— धनञ्जय

(47) **देशोपदेशनर्ममाला**— क्षेमेन्द्र

काश्मीर सीरीज— पूना

(48) **देशीनाममाला**—हेमचन्द्र, पूना

(49) **ध्वन्यालोक**— आनन्दवर्धन

हिन्दी व्याख्या— आचार्य विश्वेश्वर

सम्पादन— डा० नगेन्द्र

(50) **ध्वन्यालोकलोचन**— अभिनवगुप्त

(51) **नाट्यशास्त्र**— भरतमुनि Vols I, II, III

अभिनवगुप्त की अभिनवभारती व्याख्या सहित, सम्पादन— एम० रामकृष्ण कवि

(52) **नैषधीयचरितम्**— श्रीहर्ष

(53) **निरुक्त**— यास्क

(54) **प्रबन्धकोष**— राजशेखरसूरी, सम्पादन— जिनविजयसूरी

(55) **पाणिनिकालीन भारतवर्ष**— वासुदेवशरण अग्रवाल

(56) **पातञ्जल व्याकरण महाभाष्य**— जी०एस० जोशी

(57) **पातञ्जल योगसूत्र**— व्यास व्याख्या

(58) **प्राचीन भारत**— राधाकुमुद मुखर्जी

(59) **बालरामायण**— राजशेखर

(60) **बालभारत**— राजशेखर

(61) **बौधायन धर्मसूत्र**— चौखम्बा संस्कृत सीरीज

(62) **ब्रह्माण्डपुराण**

(63) **भविष्यपुराण - भाग 1**

(64) **भौगोलिक कोश**— नन्दूलाल डे

(65) **भारतीय इतिहास कोश**— सच्चिदानन्द भट्टाचार्य

(66) **भारतीय काव्यसिद्धान्त**— सम्पादन — काका कालेलकर एवं डा० नगेन्द्र लोकभारती प्रकाशन

(67) **भारतीय साहित्यशास्त्र**—गणेश त्र्यम्बक देशपाण्डे

(68) **मालतीमाधवम्**—भवभूति

(69) **मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था**—हिन्दुस्तानी एकेडमी व्याख्यानमाला

(70) **महाभारत**— आदिपर्व, शान्तिपर्व

(71) **मार्कण्डेय पुराण**

(72) **मनुस्मृति**

(73) **मालविकाग्निमित्रम्**— कालिदास

(74) **मेघदूतम्**— कालिदास

(75) **यशस्तिलकचम्पू**— सोमदेव

(76) **राजतरङ्गिणी**— कल्हण

(77) **रसगङ्गाधर**— पण्डित जगन्नाथ, संस्कृत व्याख्या— बदरीनाथ झा, हिन्दी व्याख्या— मनमोहन झा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

(78) **रघुवंशम्**— कालिदास

(79) **ऋतुसंहारम्**—कालिदास

(80) **विद्धशालभञ्जिका**— राजशेखर, सम्पादन— रमाकान्त त्रिपाठी

(81) **वक्रोक्तिजीवितम्**— कुन्तक, व्याख्याकार— विश्वेश्वर, सम्पादन— डा० नगेन्द्र

(82) **व्यक्तिविवेक**— महिमभट्ट

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला, चौखम्बा संस्कृत सीरीज

(83) **वाग्भटालङ्कार**— वाग्भट

हिन्दी टीकाकार— डा० सत्यव्रत सिंह, चौखम्बा

(84) **वायुपुराण, Vol. I, द्वितीय खण्ड**

(85) **विष्णुपुराण**

(86) **सहृदय— A Sanskrit Journal, Vols - 14 - 24**

(87) **सूक्तिमुक्तावली**— जल्हण

(88) **सुप्रभात— Monthly Magazine, Vol - V**

(89) **सुवृत्ततिलक**— क्षेमेन्द्र

(90) **साहित्यदर्पण**— विश्वनाथ

शालग्रामशास्त्रि की हिन्दी व्याख्या सहित

(91) **साहित्यमीमांसा**— विश्वेश्वर, सम्पादन— के० साम्बशिवशास्त्री

(92) **सरस्वती कण्ठाभरण**— भोजराज

(93) **संस्कृत कवियों की अनोखी सूझ**— भट्‌ट जनार्दन

(94) **संस्कृत काव्यधारा**— राहुल सांकृत्यायन

(95) **संस्कृत आलोचना**— बलदेव उपाध्याय

(96) **संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास**— पी०वी० काणे

अनुवादक— डा० इन्द्र चन्द्र शास्त्री

(97) **शृङ्गारप्रकाश**— भोजराज

सम्पादन— (क) वी० राघवन, (ख) G.R. Josyer

(98) **श्रीमद्भागवतमहापुराण— Vol. I - II**

सरल हिन्दी व्याख्या सहित

(99) **श्रीकण्ठचरित**— मङ्खक

(100) **शिष्यधीवृद्धिः**— लल्लाचार्य

(101) **शिशुपालवधम्**— माघ

(102) **हर्षचरित**— वाणभट्ट

(103) **हलायुधकोश**

(104) **हिन्दी अभिनव भारती**— भाष्य - विश्वेश्वर, सम्पादन— डा० नगेन्द्र

(105) **Bulletin of the Government Oriental Manuscripts Library Madras,** Ed. T. Candra shekharan Vol. II, III, IV

(106) **Corpus Inscriptionum, Indicarum, Vol. IV** — Mirashi

(107) **Collections of manuscripts**—a descriptive catalogue of the Government deposited at the Deccan College, Poona Vol. I (Part - I)

(108) **Descriptive catalogue of Sanskrit manuscripts of the Vinayak Mahadev Gore Collection**— R.G. Harshe, Deccan College, Poona

(109) **Descriptive catalogue of Sanskrit and Prakrit manuscripts in Bombay University Library Vol. II**

(110) **Dictionary on Important Geographical names in Ancient India** — Vaman Shivram Apte

(111) **Epigraphica Indica** — Vol. 1, 9

(112) **Indian Antiquary** — Vol. 12, 14, 15

(113) **India — What can it teach us?**— Maxmuller

(114) **Hindu Theatre**— H.H. Wilson

(115) **History of Sanskrit Literature** — Classical Period, Vol. I — S.N. Dasgupta

(116) **History of Sanskrit Poeties** — P.V. Kane

Publishers— Sunderlal Jain, Motilal Banarasidas

(117) **Histrocial and Literary Inscriptions**— R.B. Pandey

(118) **Language and Literature**— G.V. Devasthali

(119) **Rajshekhar's Karpurmanjari**— S. Konow, C.R. Lanman

(120) **Rajshekhar — His life and Writings**— Vaman Shivram Apte

(121) **Sanskrit Poetics**— S.K. Dey

Firma— K.L. Mukhopadhyay

(122) **Umesh Mishra Commemoration Volume (1970)**

Ganga Nath Jha Research Institute, Allahabad

(123) **I — Principles of Literary Criticism in Sanskrit.**

II— The Interrelation of the कवि and the सहृदय in Sanskrit Literary criticism— V. Venkatachlam

Papers of a Seminar Sponsered by the U.G.C. New Delhi — Held in University of Udaipur

(124) **'The Sanskrit Drama'**— A.B. Keith